

तुलसीराम स्वामी

सामवेदसंहिता, मनुस्मृति, विदुरनीति
आदि के भाष्य और अनुवादकर्त्ता
तथा
वेदप्रकाश मेरठ के सम्पादक

भास्करप्रकाश

द्वितीयसंस्करण

(दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर)

इस में नीचे लिखे ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं

१-वेद=ऋग् , यजु:, साम, अथर्व
२-ब्राह्मण=साम, गोपथ, शतपथ, ऐतरेय, ताण्ड्य, षड्विंश
३-उपनिषद्=वाजसनेय, तलवकार, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, मैत्र्युपनिषद्, कैवल्योपनिषद्
४-स्मृति=मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद, वसिष्ठ ॥
-वेदाङ्ग=अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, सिद्धान्तशिरोमणि
-दर्शन=गोतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यासके
७-इतिहास=महाभारत
८-पुराणाऽऽभास=भागवत
९-वाल्मीकीय रामायण
१०-सुश्रुत
११-चरक
१२-अमरकोश

विषयानुक्रम

उत्तरार्ध

ओ३म्

सब सज्जनों को विदित हो कि संवत् १९५१ में मुम्बई वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय "दयानन्दतिमिरभास्कर" नामक पुस्तक, मुरादाबाद निवासी पं० ज्वाला-ाद मिश्र ने मुद्रित कराया है जिस में उन्होंने श्रीमान् स्वामी दयानन्द स्वती जी महाराज कृत "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकाश पर धूल फेंक कर अन्ध-र फैलाने का उद्योग किया है परन्तु जिन लोगों को समझ है और जिन्हों स्वामी जी का दर्शन किया है, उन से धर्मविषयक शङ्का निवृत्त की हैं, उन रचे "सत्यार्थप्रकाश" आदि ग्रन्थ सत्यासत्य की खोज करने के लिये पढ़े और उन के उपदेशों तथा पुस्तकों द्वारा सत्य वेदोक्त धर्म का स्वरूप जान या है वे निस्सन्देह प्रचलित ईश्वर की मूर्त्तिपूजा आदि वेदविरुद्ध व्यवहारों छोड़ चुके और इस प्रकार के लेखों से इस के अतिरिक्त और कुछ फल ीं कि ग्रन्थकर्त्ता, एक धार्मिक महात्मा के लेखों में द्वेषभाव से वृथा दोषा-ण करके अपने आप को बुराई का भागी बनावे। अथवा एक प्रसिद्ध पुरुष प्रतिद्वन्द्वी बन कर केवल अनजान मनुष्यों में नाममात्र को प्रतिष्ठा प्राप्त ले। यद्यपि ऐसे लाघवसूचक पुस्तक कई बन चुके और सर्वसाधारण में का कुछ भी मान्य नहीं हुवा, ऐसी ही दशा इस की भी होती परन्तु बई के प्रसिद्ध पुस्तकविक्रेता "खेमराज श्रीकृष्णदास" के यहां मुद्रित होने र उन्हीं को विक्रय का अधिकार देदेने से एक वार भारतवर्ष और उस के स पास के ब्रह्मा, आसाम और बिलोचिस्तान आदि देशों में इस का प्रचार गया है जिस से थोड़ी समझ के पुरुष भ्रम में पड़ जाते हैं और संस्कृत जानने वाले आर्य भी प्रायः संशयनिवृत्त्यर्थ हम को पत्र लिखते हैं कि इस खण्डन अवश्य शीघ्र छपना चाहिये ॥

यद्यपि हम को इस बात का कोई दुराग्रह नहीं है कि सत्यार्थप्रकाशादि ामी जी कृत पुस्तकों में भूल हो ही नहीं सक्ती। परन्तु जब तक यथार्थ में ई भूल सिद्ध न हो जावे तब तक मनमाने अनुचित असत्य आक्षेपों का र देना आवश्यक जानते हैं। इसी कारण हम इस पुस्तक का खण्डन हुए भी यदि कहीं कोई सत्य आक्षेप देखेंगे तो उस पर लेखनी नहीं ंगे। परन्तु इस पुस्तक में ऐसी आशा न्यून ही है। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता त्यन्त ही पक्षपातपूर्वक पुस्तक लिखा है। जिस की झलक तो पुस्तक के

नाम से भी सर्वसाधारण को आती होगी। भला ऐसे सामान्य पुरुषों की ओर से एक भूमण्डल में विख्यात महात्मा के नाम पर "दयानन्दतिमिरभास्कर" नामक पुस्तक लिखा जाना और उस का ऐसा उद्दण्ड नाम रखना क्या थोड़े द्वेष को सूचित करता है? यदि पं० ज्वालाप्रसाद जी सीधे सादे अपने मत-सम्बन्धी विश्वास से विरोध के कारण पुस्तक बनाते तो ईश्वरनामव्याख्या, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य आदि विषयक लेखों पर तो लेखनी न चलाते क्योंकि ऐसे २ विषयों को तो सर्वसाधारण हिन्दू मानते ही हैं। परन्तु उन को तो यह कहावत चरितार्थ करनी थी कि-

येन केन प्रकारेण कुर्य्यात्सर्वस्य खण्डनम्

जैसे बने वैसे सब का खण्डन करना। चाहे सत्य हो चाहे असत्य परन्तु संसार यह तो जाने होगा कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी इतने बड़े विद्वान् प्रसिद्ध थे, उन का खण्डन पं० ज्वालाप्रसाद जी ने किया तो यह भी कोई बड़े विद्वान् होंगे। बस ऐसे ही कारणों से प्रसिद्धि का उपाय निकाला गया है-अस्तु। हम को इस से प्रयोजन नहीं। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने ११ समुल्लासों का खण्डन किया है। हम क्रमशः उन की समीक्षा करेंगे अर्थात् यदि यथार्थ में कोई भूल सत्यार्थप्रकाश में होगी तो स्वीकार करेंगे और मिथ्या शङ्काओं का निरास करेंगे जिस से सर्वसाधारण को सत्यार्थप्रकाश के निर्माता का शुद्ध धर्मभाव प्रकट होकर वैदिकधर्म का प्रकाश होवे। इति॥

मेरठ ९। ६। ९७ ई०　　　　तुलसीराम स्वामी

द्विरावृत्ति का निवेदन

हम इस के प्रथम मुद्रित पुस्तक निकल जाने से ग्राहकवर्ग की रुचि जानकर आज दूसरी बार छापना आरम्भ करते हैं, जिस में अवकाश कम होने पर भी जहां तहां नवीन संस्कार और शोधन भी करते जाते हैं। इस वार मूल्य भी १) बढ़िया १॥) ही रखते हैं जिस से धनी तथा निर्धन सब को पुस्तक सुलभ होजावे।

तुलसीराम स्वामी　　　　२७। १२। ०४

ओ३म्

अथ भास्करप्रकाशः

ज्वालाभासोपशमनं वा

ओ३म् । शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः ३ ॥ १ ॥

प्राणवृत्ति का और दिवस का अभिमानी देवता जो मित्र सो हम को सुखकारी हो इत्यादि अपना मनमाना अर्थ करके द० ति० भा० पृष्ठ २ पं० ३ । ४ में पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि "दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में इस का अन्यथा व्याख्यान किया है सो त्याज्य है" ॥

प्रत्युत्तर- स्वा० दया० जी ने जितने हेतु अपने अर्थ की पुष्टि में दिये हैं उन का खण्डन किये विना, केवल " त्याज्य है " कहने से त्याज्य नहीं हो सकता । स्वामी जी ने प्रकरण का बल दिया है कि स्तुति प्रार्थना उपासना के प्रकरण में मित्रादि नामों से ईश्वर ही का ग्रहण योग्य है, जिस को उन्होंने विस्तारपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में सिद्ध किया है और उस का उत्तर आपने कुछ भी नहीं लिखा । यदि ऐसा ही खण्डन आगे २ भी चला तौ "दाता वेली" है॥

द० ति० भा० पृष्ठ २ पं० १७ से-समीक्षा-इस लेख (सत्यार्थप्र० की भूमिका के) से पहिला सत्यार्थप्र० गुजराती भाषा मिश्रित विदित होता है किन्तु इस में कोई गुजराती भाषा का शब्द पाया नहीं जाता भला वह तौ अशुद्ध हो चुका पर अब यह तौ आप के लेखानुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध है क्योंकि इस के बनाने के पूर्व न तौ आपको लिखना ही आता था न शुद्ध भाषा ही बोलनी आती थी इस से यह भी सिद्ध होता है कि इस सत्यार्थ से पूर्व रचित वेदभाष्यभूमिका तथा यजुर्वेदादि भाष्यों की भाषा भी अशुद्ध होगी इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि जन्मभूमि की गुजराती भाषा होने से इस में उस का मेल होगया किन्तु वे स्पष्ट लिखते हैं कि मातृभाषा गुजराती थी और सम्प्रति संस्कृत ही बोलने आदि का काम था क्योंकि इस देश के लोगों के साथ (जहां लेखकों को सत्यार्थप्रकाश बोल कर तात्पर्य समझा कर लिखवाया) संस्कृत ही में काम चलाया जाता था, अतः समझने समझाने में भूल होकर तात्पर्य ठीक २ न रहा। बहुत लोगोंने देखा है, वे अब तक वर्त्तमान हैं कि स्वामी जी महाराज आर्यसमाजों के स्थापन से पूर्व दिगम्बर हो गङ्गातट पर विचरा करते और संस्कृत का ही भाषण करते तथा संस्कृत में ही सेवा सत्सङ्गादि करने वालों को वैदिकधर्म का उपदेश तथा वेदविरुद्ध मतों का खण्डन भी किया करते थे। उसी समय राजा जयकृष्णदास जी ने यह समझ कर कि इन के पवित्र विचार से लेखद्वारा दूरदेशवर्त्ती लोगों का भी उपकार हो सकता है, प्रथम सत्यार्थप्रकाश लखनऊ में छपवाया था। उस समय तक स्वामी जी गङ्गातटादि विविक्त स्थानों में ही प्रायः रहते थे यही कारण था कि भाषादि को अच्छे प्रकार न जांच पाये। और यह भी विदित रहे कि प्रथम का सत्यार्थप्र० लेख के समय से बहुत पीछे छपा है और भूमिका वा वेदभाष्य एक तो लिखने के थोड़े ही काल पीछे छपे और वे पुस्तक (असिल) मूल संस्कृत में स्वामी जी ने बोल २ कर लेखकों को लिखाये फिर उन की भाषा नौकर पण्डितों ने की। इस लिये ऊपर लिखा आक्षेप निर्मूल है॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोक्षरः स परमः स्वराट्। स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः। कैवल्योपनिषद्॥

इस प्रमाण से जो स्वामी जी ने ब्रह्मा विष्णु आदि परमात्मा के नाम सिद्ध किये हैं इस पर पं० ज्वालाप्रसाद जी द० ति० भा० पृष्ठ ३ पं० ५ से लिखते हैं कि–"धन्य है स्वामी जी आपतो दश ही उपनिषद् मानते थे आज मतलब पड़ा तो कैवल्य भी मान बैठे। और विना प्रमाण फिर ब्रह्मा विष्णु आदि को पूर्वज विद्वान् बताया। और आप का यह अर्थ भी अशुद्ध है कि वही ब्रह्मा वही विष्णु आदि है, शुद्ध अर्थ यह है कि "वह ब्रह्मा रूप होकर जगत् की रचना करता, विष्णुरूप हो पालन करता" इत्यादि। और ब्रह्मा शिव आदि पूर्वज विद्वान् थे तो किस के पुत्र थे? यदि कहो कि स्वयं उत्पन्न होगये तो आप का सृष्टिक्रम जाता रहेगा कि विना पिता के मनुष्य नहीं उत्पन्न होता इत्यादि॥

प्रत्युत्तर- कैवल्य उपनिषद् क्या ! आप के सम्मुख तो अल्लोपनिषद् का भी प्रमाण दिया जासक्ता है क्योंकि आप उस को मानते हैं। जब कि "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इत्यादि वेदमन्त्रों से स्वामी जी सिद्ध करचुके कि ये सब नाम प्रार्थनोपासना प्रकरण में ईश्वर के हैं तो फिर वेद के अनुकूल चाहे जिस उपनिषद् वा अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण अमान्य नहीं होसक्ता। और आप का तो स्वत्व ही नहीं है कि जिन पुस्तकों को आप मानते हैं उन में से किसी के वाक्य को भी न मानें। क्योंकि आप के मत में तो "संस्कृतं प्रमाणम्" है। दूसरी बात का समाधान यह है कि ब्रह्मा विष्णु आदि पूर्वज पुरुषविशेष देहधारी थे, यह बात तो सब हिन्दू मानते ही हैं, पुराणों और इतिहासों में उन के जन्मादिचरित्र वर्णित ही हैं, इस विषय में स्वामी जी को प्रमाण देने की आवश्यकता न थी क्योंकि सिद्ध को सिद्ध करना पिष्टपेषण है। ब्रह्मा जी आदि को देहधारी तो स्वयं ही लोग मानते हैं, हां, ब्रह्मा आदि नाम परमात्मा के भी हैं, इस विषय को लोग नहीं मानते थे, अतः स्वामी जी ने वेदों, मनुस्मृति और लोगों के माने हुवे कैवल्योपनिषद् से भी यह सिद्ध कर दिया कि ये नाम परमात्मा के भी हैं। आप जो अर्थ करते हैं कि "वोह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है" इत्यादि, यह आप का अर्थ अक्षरार्थ में नहीं मिलता क्योंकि "स ब्रह्मा स विष्णुः" इत्यादि का सीधा अक्षरार्थ यह है कि सः=वह, ब्रह्मा=ब्रह्मा है। सः=वह, विष्णुः=विष्णु है। इत्यादि। आप बताइये कि "सः ब्रह्मा" का यह अर्थ कैसे होगया कि "वोह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है" क्योंकि मूल में 'रूप होकर' यह अर्थ किसी पद से नहीं निकलता, अतः स्वामी जी का अर्थ ठीक और आप ही का बेठीक है और विना पिता के पुत्र नहीं होता, यह नियम सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् का है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ही सृष्टि के पिता होते हैं और आरम्भ का वही नियम है। स्वामी जी का लेख भंग की तरङ्ग नहीं है किन्तु जीवनचरित्र में यदि बाल्यावस्था का भंग पीने का वृत्तान्त लिखा होगा तो वह आप ही के माननीय भोलानाथ पार्वतीश की सामयिक उपासना का फल होगा, जिस के लिये पार्वती १२ वर्ष तक घोटती है, तब भी फोक अवश्य रहता है। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो भांग चरस आदि पीने वाले अपने पौराणिकों से पूछ लीजिये॥

द० ति० भा० पृ० ३ पं० १८ से पृ० ५ पं० १३ तक स्वामी जी के सत्यार्थ

प्रकाश से नारायणादि परमेश्वर के १०० नामों में की व्याख्या उद्धृत की है जिस पर पं० ज्वालाप्र० जी ने कुछ उत्तर स्वयं ही नहीं लिखा, मानो उस को स्वीकार ही कर लिया है इसलिये प्रत्युत्तर की आवश्यकता ही नहीं ॥

—:*:—

मङ्गलाचरण

मङ्गलाचरण में द० ति० भा० पृष्ठ ५ से ७ तक इतने तर्क हैं:—

१—मङ्गलाचरण को आप नहीं मानते तो स्वयं "शन्नोमित्रादि" से मङ्गलाचरण क्यों किया ?

प्रत्युत्तर—स्वामी जी तान्त्रिकादि लोगों की परिपाटी "भैरवाय नमः। दुर्गायै नमः। हनुमते नमः" इत्यादि का खण्डन करते हैं। ऋषि लोगों की परिपाटी "अथ" आदि से मङ्गलाचरण करना अच्छा मानते हैं, अतः ऋषि परिपाटी से उन्हों ने मङ्गलाचरण किया ॥

२—यदि आप आदि मध्य अन्त में मङ्गलाचरण करने से बीच में के भाग को अमङ्गलाचरण समझते हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाश वेदभाष्यादि पुस्तकों में जो मङ्गलाचरण आदि मध्य अन्त में आप ने किया सो क्या आप के पुस्तकों का शेष भाग भी अमङ्गलाचरण है ? सत्य है। आप ने जो पोप आदि दुर्वचन लिखे हैं वे वेद में कहीं विहित नहीं इस से अमङ्गल ही हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने आदि मध्य अन्त में ऋषिपरिपाटी से मङ्गलाचरण किया और बीच २ में भी सर्वत्र असत्यखण्डन और सत्यमण्डनरूप मङ्गलाचरण ही किया है। उन्हों ने पोपादि शब्दों का प्रयोग भी सर्वसाधारण को धोके से बचाने के लिये किया है, अतः वह भी मङ्गलाचरण ही है ॥

३—क्या स्वामी जी को परमेश्वर के कुछ नाम प्रिय और कुछ अप्रिय हैं ? जो "नारायणाय नमः। शिवाय नमः। सरस्वत्यै नमः" इत्यादि नामों को परमेश्वर का नाम बता कर भी इन नामों से मङ्गलाचरण का निषेध करते हैं ? ॥

प्रत्युत्तर—निस्संदेह ये नाम परमेश्वर के भी है परन्तु स्वामी जी के समय में लोक में इन नामों से विशेष करके पूर्वज पुरुषविशेषों का और वेदविरुद्ध अवतारों का ग्रहण करने का बहुत प्रचार था और है। अतः स्वामी जी ने यह समझ कर इन नामों से मङ्गलाचरण को रोका कि लोक में अवतारादि की कथा प्रचरित होकर वेदविरुद्ध मत मतान्तर फैलते गये और फैलते जाते हैं, जहां तक होसके मङ्गलाचरणादि से भी वैसे अशुद्ध संस्कारों

की पुष्टि न हो, इस लिये ऐसा किया है। उन को परमात्मा का कोई अप्रिय नाम न था॥

४-क्या "रमु" क्रीडायाम् धातु से "राम" और "हृ" धातु से हरि शब्द सिद्ध नहीं होता ? फिर क्यों राम और हरि शब्दों को बुरा समझते हो ? और "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परंधाम कृष्ण इत्यभिधीयते" इस प्रकार कृष्ण के अर्थ भी तो ईश्वर ही के हैं फिर इन से क्यों मङ्गलाचरणादि न किये जावें॥

प्रत्युत्तर-राम, कृष्ण, हरि आदि शब्द चाहे व्याकरण से किसी प्रकार खैंचातानी करके ईश्वरार्थवाचक सिद्ध भी होजावें परन्तु इन शब्दों से वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर का ग्रहण नहीं करते आये हैं, इस लिये स्वामी जी ने ऐसा किया। और "कृष्ण" शब्द की व्युत्पत्ति तो आपने किसी व्याकरण से की भी नहीं ? क्या आप किसी व्याकरण वा निरुक्त में "कृषिर्भूवाचकः" आदि अपनी लिखी कारिका को दिखा सकते हैं ?

५-स्वामी जी ने प्राचीनग्रन्थों से ही विष्णुसहस्रनामादि द्वारा ईश्वर के १००० नाम क्यों न लेलिये, अपने १०० नामों की व्याख्या भिन्न क्यों की ? इस लिये कि हमारे मत में आर्य लोग इसी नई रीति पर चलें॥

प्रत्युत्तर-विष्णुसहस्रनाम के साथ गोपालसहस्रनाम भी तो है, उसे क्यों छोड़ते हो। क्या इसलिये कि उस में तो-

"चोरजारशिखामणिः"

यह भी परमेश्वर का नाम है। बस रहने दीजिये, विष्णुसहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम, गीतगोविन्द आदि का भेद न खुलवाइये और विदेशियों से हंसी न कराइये। स्वामी जी तो आप के घर का भेद खूब जानते थे और आप की शुभचिन्तकता से केवल दिग्दर्शनमात्र ही पोल खोली है। यदि स्वामी जी वा हम लोग आप की तरह करते वा करें तो वही दशा हो जो 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' से भले प्रकार झलकती है। बस इन्हीं बखेड़ों को स्वामी जी उघाड़ना नही चाहते थे, अतएव उन्हों ने गोपालसहस्रनामादि पर उपेक्षा ही की॥

६-ऋषि पुस्तकों में के "ओ३म्" वा "अथ" शब्द वेद के अनुकूल कैसे हैं ?

प्रत्युत्तर-यह आप का काम है कि आप इन शब्दों को वेदविरुद्ध सिद्ध

करें । ओं खम्ब्रह्म । यजुः अध्याय ४० आदि शतशः प्रकरणों में ओमादि नाम जो आर्ष ग्रन्थों में आये हैं, उपस्थित हैं । नहीं तो आप बताइये कि राम कृष्ण हरि आदि नाम वेद में कहां ईश्वरवाचक आये हैं ?

७-जीवनचरित्र में भालू मिला था इत्यादि ठठोल का प्रत्युत्तर देना असभ्यता है अतः तूष्णींभाव ठीक है ॥

ओङ्कारप्रकरण-

द० ति० भा० पृष्ठ ७ पं० २६ से लिखा है कि ओङ्कार की ३ मात्राओं से जो अर्थ स्वामी जी ने लिये हैं वे किसी मन्त्र, ब्राह्मण, शास्त्र, पुराण से नहीं मिलते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-हम अन्य प्रमाण के लिखने की आवश्यकता नहीं समझते किन्तु जो मन्त्र आप ने प्रमाण दिया है और उस का निरुक्त परिशिष्ट तथा भाष्य लिखा है, वही स्वामी जी के अर्थों की पुष्टि करता है । आपने तो केवल मन्त्र, निरुक्त, भाष्य लिख दिया परन्तु यह न विचारा कि यह तो सब स्वामी जी के अर्थ की पुष्टि करता है । यथा-

मन्त्र-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते ॥

ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ३९

निरुक्त-परिशिष्ट

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे । यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु । एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् । निरु० अ० १३ खं० १०॥

पं० ज्वालाप्रसाद जी ने जहां से इस मन्त्र का निरुक्त आरम्भ हुवा है वहां से कुछ छोड़ कर "इतिविदुषउपदिशति" यहां से ही लिखा है तथापि इस से उन की प्रयोजनसिद्धि न हुई, प्रत्युत स्वामी जी का ही तात्पर्य्य सिद्ध होता है ॥

मन्त्र का निरुक्तस्थ अर्थ–

यद्यपि निरुक्तकार ने इस का दूसरा अर्थ आगे सूर्यविषयक भी किया है परन्तु हम प्रथम जिस ओङ्कारविषयक अर्थ को निरुक्तकार ने ब्राह्मण का प्रमाण देकर लिखा है उसी को पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं:–

(ऋचः) ऋचायें, (अक्षरे परमे व्यवने) अविनाशी परम रक्षक में (यस्मिन्सर्वे देवाः [अधिनिषण्णाः] जिस में सब दिव्यगुण स्थित हैं,[उसी में स्थित हैं] (यस्तन्न वेद) जो उस को नहीं जानता (स ऋचा किं करिष्यति) वह ऋचा से क्या करेगा (यइत्तद्विदुस्तइमे समासत इति विदुष उपदिशति) "यइत्तद्वि०" इस से विद्वानों को उपदेश करता है कि–(कतमत्तदेतदक्षरम्) कौनसा है वह अक्षर? (ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः) शाकपूणि आचार्य उत्तर देते हैं कि "ओ३म्" यह वाणी है । (ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते) और ऋचायें निश्चय अविनाशी परम रक्षक में धारित हैं (नानादेवतेषु च मन्त्रेषु) अनेक [अग्न्यादि] देवता वाले मन्त्रों में (एतद्धवाएतदक्षरम्) यही है वह यही अक्षर है (यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति ब्राह्मणम्) जो संपूर्ण त्रयीविद्या के प्रति (बराबर) है, ऐसा ब्राह्मण में लिखा है ॥

ऊपर लिखे निरुक्त के (नानादेवतेषुमन्त्रेषु एतद्धवा०) अर्थात् अनेक देवता वाले मन्त्रों में यही ओङ्कार अक्षर है । इस से स्पष्ट है कि वेद में जो "अग्निमीडे पुरोहितम्०" इत्यादि अग्निदैवत मन्त्र हैं वा वायु आदि देवता वाले मन्त्र हैं उन का मुख्य तात्पर्य अग्न्यादि पदों से ओङ्कार ही है अर्थात् अग्न्यादि पदों से स्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरणों में वेद, परमेश्वर ही को बोधित करता है ॥

अब इस मन्त्र और निरुक्त से इतना तो सिद्ध हो ही गया कि वेदों में अग्न्यादि नाना देवता का तात्पर्य ओ३म् है इस लिये अग्न्यादि बहुत से अर्थ जो स्वामी जी ने ओ३म् से लिये हैं, वे युक्त हैं । अब हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि द० ति० भा० पृष्ठ०८ संस्कृत भाष्य पं० १२ में 'अग्निः" पं० १३ में "वायुः" और पं० १३–१४ में "आदित्यः" ये अर्थ स्वयं पं० ज्वालाप्रसाद लिखते हैं और भाषा पृष्ठ ९ पं० ६ में वही " अग्नि " पं० ७ में 'वायु" और पं० ८ में " आदित्य " शब्द ओङ्कार की व्याख्या में उपस्थित है तब सत्यार्थप्रकाश में लिखे अ,उ,म्, के अग्नि, वायु, आदित्य अर्थों में क्या भुत मिल गया और स्वामी जी ने जो अकार से विराट् अग्नि विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ वायु तैजसादि और मकार से ईश्वर आदित्य प्राज्ञादि अर्थ लिये हैं सो

२

माण्डूक्य उपनिषद् के निम्न लिखित वाक्यों से स्पष्ट निकलते हैं । यथा—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा० ॥

जागरितस्थान=विराट् । वैश्वानर=अग्नि अकार पहली मात्रा ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसउकारो द्वितीया मात्रा० ॥

स्वप्नस्थान=हिरण्यगर्भ । तैजस=तैजस उकार दूसरी मात्रा ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा० ॥

सुषुप्तस्थान=ईश्वर । प्राज्ञ=प्राज्ञ मकार तीसरी मात्रा ॥

देखना चाहिये कि माण्डूक्य के ऊपर लिखे वाक्यों में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ ये तीन अर्थ क्रम से अ, उ, म्, के वैसे ही लिखें हैं जैसे स्वामी जी ने लिखा है । और स्वयं पं० ज्वाला० जी ही जो ज़रा व्याख्या बढ़ा कर पाण्डित्य में गणना होने के लिये द० ति० भा० पृ० १० वा ११ में इन्हीं माण्डूक्य वाक्यों का अर्थ कुछेक घपले से में मिला कर वही अग्नि, तैजस और प्राज्ञ अर्थ करते हैं और करें कैसे ना ! मूल में वे शब्द उपस्थित हैं ॥

इस प्रकार यह ओ३म् का व्याख्यान स्वामी जी कृत और माण्डूक्य तथा द० ति० भा० में एकसा ही होने से वादी अपने आप ही परास्त होता है । हां एक बात शेष है,यद्यपि वह बात सत्यार्थप्रकाश के खण्डन मण्डन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती तथापि ओ३म् की चतुर्थ मात्रा जो अ, उ, म्, का अवसान है, उस पर माण्डूक्य का वाक्य और शङ्करमतानुसार अर्थ कर के पं० ज्वाला० जी ने जो कुछ लिखा है उस से पाठकों को अद्वैतवाद की झलक आवेगी, जो अद्वैतवाद (जीव ब्रह्म की एकता) हमारी समझ में वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है,अतः हम भी पाठकों के भ्रम निरासार्थ नीचे वह माण्डूक्य वाक्य और उस का स्पष्ट अक्षरार्थ किये देते हैं । यथा–

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

माण्डूक्योपनि० ॥

(अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः) बिना मात्रा चौथा [अवसान] किसी शब्द से व्यवहार में नहीं आसकता (प्रपञ्चोपशमः) उस में प्रपञ्च=जगत् का उपशम=लय है (शिवः) वह कल्याणमय है (अद्वैतः) वह अद्वितीय है अर्थात उस के सदृश कोई नहीं।(एवमोङ्कारः) इस प्रकार का ओ३म् है। (य एवं वेद) जो ऐसे

जानता है वह (आत्मैव आत्मनात्मानं संविशति) आप ही अपने स्वरूप से परमात्मा को संवेश करता है-ब्रह्म को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है ॥

बिना खैंचातानी के सीधा अक्षरार्थ यही है परन्तु केवल " अद्वैतः " के आते ही पं० ज्वालाप्रसाद जी खिंच गये । अद्वैत शब्द का सुगम अर्थ सब कोई समझ सक्ता है कि "जिस के सदृश कोई न हो " । यह तात्पर्य्य नहीं निकल सक्ता वा खैंच तान से निकलता है कि "उसके अतिरिक्त कुछ न हो" ॥

यह ओङ्कार की व्याख्या और द० ति० भा० के प्रथम समुल्लास का खण्डन समाप्त हुवा ॥

ओ३म्

अथ द० ति० भास्करस्य द्वितीयसमुल्लासखण्डनम् ॥

द० ति० भा० पृ० १३ पं० ३ से स्वामी जी के लेख (धन्य वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, सुशीलता का उपदेश करे) पर आक्षेप करते हैं कि गर्भाधान से सुशीलता का उपदेश असम्भव है ॥

प्रत्युत्तर–क्या आप नहीं जानते कि:–

आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि और सत्व की शुद्धि में स्मृति निश्चल होती है । अर्थात् खाने पीने आदि व्यवहारों का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है और माता के अङ्गों से सन्तान के अङ्ग बनते हैं । यथा–

अङ्गादङ्गात्संस्रवसि हृदयादधि जायसे ॥

हे पुत्र ! तू अङ्ग २ से टपकता और हृदय से अधिकतर हो उत्पन्न होता है । जब कि माता के अङ्ग २ से सन्तान के अङ्ग बनते और माता की भोजनादि व्यवस्था का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है तब गर्भाधान से ही लेकर माता के अच्छे व्यवहारों का प्रभाव होकर सन्तान अवश्य सुशील हो सकती है । दूसरी बात यह है कि जब आप पुराणों को मानते हैं और उन में नारद ने अपनी गर्भावस्था में ज्ञानोपदेश पाने का वृत्तान्त कहा है तो आप किस मुंह से इस विषय में शङ्का करते हैं ?

सत्यार्थप्र० पृ० २८ पं० १६ जैसा ऋतुगमन की विधि का समय है रजोदर्शन

के ५ वें दिन से १६ वें तक ऋतुदान का समय है। प्रथम ४ दिन त्याज्य हैं शेष १२ में एकादशी त्रयोदशी छोड़ शेष दिनों में ऋतुदान दे। इस पर-

द०ति०भा० पृ० १३ पं० १३ से लिखा है कि क्या यह लेख ज्योतिषविद्या से सम्बन्ध रखता है वा नहीं? मनु ने त्याज्य रात्रियों में दुष्ट सन्तान और श्रेष्ठ रात्रियों में श्रेष्ठ तथा युग्म में पुत्र अयुग्म में पुत्री का जन्म लिखा है जिसे आप फल को नहीं मानते तो भी गुप्त २ लिखते हैं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-इस मनु और स्वामी जी के लेख का फलित ज्योतिष के साथ सम्बन्ध नहीं। रजोदर्शन से १३ वीं ११ वीं रात्रियों और युग्मायुग्म रात्रियों तथा प्रथम की ४ रात्रियों का विचार पदार्थविद्या से सम्बन्ध है। फलित ज्योतिष तो बहुधा गणितशास्त्र तथा पदार्थविद्या का विरोधी होने से त्याज्य ही है। जैसा कि "जातकाभरण" में-

पञ्चाशीतिर्भवेदायुर्वैशाखस्याद्यपक्षके।
सार्पेऽष्टम्यां भृगोर्वारे निधनं पूर्वयामके॥

मेषादि राशि में जन्मने वालों की आयु बताते हुवे कहते हैं कि "तुला राशि वाले की मृत्यु, ८५ वर्ष में वैशाख कृष्णा ८ भृगुवार अश्लेषा नक्षत्र पूर्व प्रहर में हो"। अब इन फलित वालों से पूंछना चाहिये कि समस्त ज्योतिष (गणित) का सिद्धान्त यह है और ऐसा ही तिथिपत्रों में होता है और नक्षत्रों के नाम पर महीनों के नाम का कारण यही है कि वह नक्षत्र उस महीने की पौर्णमासी वा उस के एक दिन आगे पीछे आता है। इसी आशय पर पाणिनि मुनि का सूत्र भी है। यथा-सास्मिन्पौर्णमासीति ४। २। २१ जैसे कि चित्रा नक्षत्र की पौर्णमासी वाला "चैत्र" कहाता है इसी प्रकार विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्यैष्ठ, आषाढ़ा से आषाढ़ और श्रवण से श्रावणादि जानो। विचारना चाहिये कि जब चैत्र की पौर्णिमा को चित्रा हो तो वैशाख कृष्णा ८ को अभिजित वा श्रवण हो सकता है जो चित्रा से ९ वां है परन्तु ऊपर के लिखे श्लोक में अश्लेषा लिखा है जो चित्रा से २२ वां है जो कभी वैशाख कृ० ८ में आवेगा ही नहीं। जब इस प्रकार का अन्धेर असंख्य जगहों में नवीन कल्पित फलित ग्रन्थों में उपस्थित है तो भला इनके रचने वालों को पदार्थविद्या और गणित ज्योतिष कहां आता था? और इन के मानने वाले दिन धौली अन्धकार में क्यों नहीं जा रहे हैं? अवश्य जारहे हैं॥

सत्यार्थप्र० में जो सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् स्त्री को सङ्कोच और पुरुष को स्तम्भन का उपदेश है जिस से दूसरे सन्तान हृष्ट पुष्ट होकर आरोग्य रहकर धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति कर सकें । इस पर:-

द० ति० भा० पृ० १३ पं० २१ से ठठोलबाज़ी की है जो ग्रन्थकर्त्ता का स्वभाव है कि-आप ने कोई औषध न बता दिया जिस से विषयी स्त्री पुरुष आप से प्रसन्न होते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी महाराज ने तो स्पष्ट लिख भी दिया है कि-"पुनः सन्तान जितने होंगे वे सब उत्तम होंगे" सत्यार्थ० पृ० २९ पं० २१ में, परन्तु आपने पं० २० लिख २१ को जान बूझकर छोड़ दिया और उलटा फल निकालने लगे "कि विषयी लोग प्रसन्न होते"। औषध वैद्यकशास्त्र में लिखे ही हैं उन के लिखने की आवश्यकता न थी, अतः स्वामी जी ने शिक्षामात्र करदी ॥

सत्यार्थ० पृ० ३० में जो "उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्यक्षीणतादि होते हैं" लिखा है इस पर:-

द० ति० भा० पृ० १३ पं० २९ से लिखा है कि- जब माता पुत्र को यह शिक्षा करेगी तब निर्लज्जता होगी इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जो २ बातें सन्तानों की हानिकारक हों उन २ से सचेत करना बड़ों का ही काम है । यदि इस प्रकार हितकारक उपदेशों में सङ्कोच किया जावे तो सन्तानों की बड़ी दुर्दशा हो । जैसी कि आज कल हो भी रही है । परन्तु आप को इस से क्या प्रयोजन ! आप तो "गणानां त्वा" आदि के महीधरभाष्य को लज्जा का रक्षक समझते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १४ पं० ३ से लिखते हैं कि-स्वामी जी ने जो भूत प्रेतादि का खण्डन करने में मनु का यह श्लोक लिखा है कि-

> गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
> प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ मनुः ॥

अर्थात् जब गुरु मर जावे तो शिष्य, मृतक के उठाने वालों के साथ दश दिन में शुद्ध होता है । इस पर पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि-स्वामी जी जब कोई बात बनाते हैं तो कोई श्लोक लिख कर उस का अर्थ उलटा कर देते हैं । इस श्लोक में (पितृमेधं समाचरन्) का अर्थ ही नहीं किया इस का यह अर्थ है कि-जब गुरु का शरीर छूट जावे तो शिष्य गुरु की अन्त्येष्टि

क्रिया पिण्डादि विधान करता हुवा मृतक के उठाने वालों के साथ १० वें दिन शुद्ध होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-टुक ध्यान देकर पढ़िये, स्वामी जी ने (पितृमेधं समाचरन्) का अर्थ "दाह करानेहारा शिष्य" यह स्पष्ट लिखा है और दाहक्रिया ही पितृमेध है। पिण्डादि का नाम पितृमेध तौ आपने लेलिया, अक्षरार्थ वही है जो स्वामी जी ने लिखा है। और मूल बात तौ यह थी कि स्वामी जी इस श्लोक से यह दिखलाते हैं कि यदि प्रेत कोई ऐसी वस्तु होती जैसी आज कल लोग मानते हैं तौ इस श्लोक में आये "प्रेतहारैः" पद से विरोध आता है "प्रेतहारैः" का अर्थ यह है कि "प्रेत=मृतक (लाश) के उठाने वालों के साथ" और यही अर्थ आप करते हैं, तौ यह तौ आपने भी सिद्ध ही माना कि प्रेत (लाश) को उठाने वाले "प्रेतहारैः" का अर्थ है। अर्थात् मनु के इस श्लोक में आये हुवे "प्रेत" शब्द का अर्थ तौ आप भी स्वामी जी के समान "मृतक शरीर" ही मानते हैं तब स्वामी जी पर आप का कोई आक्षेप नहीं होसक्ता। यह दूसरी बात है कि आप भूत प्रेतादि की सिद्धि में कोई अन्य प्रमाण देवें। आगे जो प्रमाण आप ने दिये हैं हम उन का प्रतिवाद करेंगे और स्वामी जी ने जो "भूत" का अर्थ "होचुका" किया है सो तौ निर्विवाद ही है। परन्तु स्वामी जी ने प्रकरण-विरुद्ध कालवाचक "भूत" का अर्थ नहीं किया किन्तु भूतकाल में वह प्राणी देहधारी था, ऐसा मान कर जो एक समय जीवित था वह मरने पर "भूत"="हो चुका" कहाता है। कोई योनिविशेष, जैसी कि पौराणिक मानते हैं, नहीं है। और यह कि स्वामी जी मरगये अब उन के पीछे आर्य लोग परमहंस के साथ "भूत" पदवी लगाया करें। इसलिये व्यर्थ है कि जैसे मनुष्यमात्र के साथ मनुष्य-पद लगाकर बोलना व्यर्थ है इसी प्रकार मरे हुए सभी जब भूत कहाते हैं, चाहे स्वामी जी हों चाहे हमारे आप के और संसार भर के भूतपूर्व बड़े हों, तब उन के पीछे भूत पदवी लगाना व्यर्थ है। क्योंकि वह मनुष्यविशेष के साथ मनुष्यपद सामान्य लगाने के समान कुछ अर्थसाधक नहीं॥

द० ति० भा० पृ० १४ पं० २१ से लिखते हैं कि-देखिये मनु वेद चरक सुश्रुत आदि से आप को दिखाते हैं॥

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान् सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथक् गणान्॥ मनु० १। ३७

यक्ष राक्षस पिशाच गन्धर्व अप्सरा नाग सर्प गरुड़ और पितृगणों को भी ब्रह्मा ने उत्पन्न किया॥

प्रत्युत्तर- कृपा करके इस श्लोक से पूर्व के ४ श्लोकों को और सुन लीजिये तब आप को विदित होजायगा कि यह श्लोक और इस का अर्थ क्या हुवा। यथा-

तपस्तप्त्वासृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥
अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितोदश ॥ ३४ ॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥
यक्षरक्षः पिशाचांश्चेत्यादि ॥ ३७ ॥

अर्थ-परन्तु उस विराट् पुरुष ने स्वयं तप कर के जिसे उत्पन्न किया, हे द्विजो ! वह इस सब का स्रष्टा मैं हूं, यह जानो (स्वायंभुव मनु का वचन ऋषियों से) ॥ ३३ ॥ जब मैंने सुदुश्चर तप कर के प्रजा रचनी चाही तौ आदि में दश महर्षि प्रजापतियों को रचा ॥३४॥ मरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्रतु प्रचेता वसिष्ठ भृगु और नारद को ॥ ३५ ॥ इन्होंने अन्य सात बड़े तेजस्वी मनुओं को रचा और देवतों, देवस्थानों और तेजस्विमहर्षियों को ॥ ३६ ॥यक्ष राक्षसपिशाचादि को भी ॥ ३७ ॥

प्रकरण का पूर्ण विचार करने से इन श्लोकों के अनुसार यह नहीं सिद्ध होता कि यक्ष राक्षसादिकों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, किन्तु विराट् ने स्वायम्भुव मनु को, उस ने मरीच्यादि १० प्रजापतियों को और उन्हों ने सब सृष्टि यक्ष राक्षसादि को रचा। आप ने ऊपर यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध किया कि ब्रह्मा ने इन्हें रचा। इस से क्या निश्चय हुवा कि परमेश्वर ने तौ यक्ष राक्षस पिशाच योनि (मनुष्य के अतिरिक्त) नहीं रचीं किन्तु उस के विरुद्ध १० प्रजापतियों ने रचडालीं। इन मनुस्मृति के श्लोकों में इतनी विप्रतिपत्ति हैं। १-जगत् का स्रष्टा परमात्मा है वा १० ऋषि ? २-श्लोक ३३ में मनु आप को सब जगत् का स्रष्टा बताता है फिर आगे श्लोक ३६ में ऋषियों को। ३-स्वायम्भुव तौ कहता ही है कि मेरे पुत्र मरीच्यादि १० हुवे फिर उन पुत्रों ने अन्य ७

मनुओं की रचा (देखो श्लोक ३६) सात मनुवों के नाम मनुस्मृति अ० १ श्लो० ६२ । ६३ में इस प्रकार लिखे हैं:-

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुतएव च ॥ ६२ ॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ॥ ६३ ॥

अर्थ-स्वायम्भुवादि तेजस्वी ७ मनु ये हैं कि-स्वायम्भुव स्वारोचिष उत्तम तामस रैवत चाक्षुष और विवस्वान् ॥

अब बताइये तो सही कि मरीच्यादि का पुत्र स्वायम्भुव ७ मनुओं के अन्तर्गत (देखो श्लोक ३६) है? वा मनु के पुत्र मरीच्यादि १० (देखो श्लोक ३५) हैं? धन्य श्लोक के घड़ने वालो ! और प्रमाण देने वालों को तो क्या कहूं । नींद में श्लोक बनाकर मनु में मिलाये ! और दम मारते हैं !! चलो चुपचाप बैठे रहिये॥

भला ऐसे परस्परविरुद्ध बुद्धिविरुद्ध वेदविरुद्ध श्लोक से प्रेत सिद्ध होते हैं? क्यों न हो, आप के भाई पं० बलदेवप्रसाद तो भूत प्रेतों को मानो मुट्ठी ही में लिये रहते हैं, उन की थियासोफ़ी तो प्रसिद्ध ही है तब आप क्या इतने से भी जाते ! ॥ द० ति० भा० पृ० १५ पं० १ से-

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजुः । २ । ३० ॥

पितरों का अन्न श्राद्ध में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पितरों की समान करते हुए जो देवविरोधी असुर पितृस्थान में फिरते हैं तथा जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना २ असुरत्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उल्मुक रूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयज्ञ स्थान से हटाता है॥

प्रत्युत्तर-आप तो कहा करते हैं कि स्वामी जी उलटा अर्थ करते हैं । आप स्वयं क्यों सीधा अर्थ छोड़ खेंचा तानी करते हैं ? भला मन्त्र में पितरों और श्राद्धों का वाचक कोई शब्द है ? नहीं है तो आप कहां से लाये ? मन्त्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार है:-

अन्वयः-ये असुराः रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः सन्तः स्वधया चरन्ति, ये परापुरो निपुरो भरन्ति तान् अस्माल्लोकादग्निः प्रणुदाति ॥

(ये असुराः) जो स्वार्थी जन (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः) वेष बदलते हुए (स्वधया चरन्ति) पृथिवी आकाश में घूमते हैं (ये परापुरो निपुरः भरन्ति) जो पराये से और निकृष्टता से अपने को पुरने वाले अपना पोषण करते हैं (तानग्निरस्माल्लोकात् प्रणुदाति) उन्हें अग्नि इस लोक से खेद देवे। स्वधा शब्द निघण्टु ३। ३० में द्यावापृथिवी के नामों से पढ़ा है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष, चोर उचक्के बहुरूपिये डांकू आदि वेष बदल कर संसार को ठगते हैं अग्नि (परमेश्वर) उन्हें दूर करे वा अग्नि=भौतिकाग्निके प्रकाश से उन अन्धकारप्रियों को पकड़ना और दण्ड देना चाहिये। इस मन्त्रमें भूत प्रेतादि का कथनमात्र भी लेश नहीं। अथवा शतपथानुसार कर्मकाण्डपरक यह अर्थहै कि-"वेदि वा पृथिवी के रहनेवाले प्राणनाशक दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थ दूर होवें" अब इस मन्त्रमें आगेपरमात्मा ने यह बताया है कि अग्नि उन दुष्ट प्राणियों वा पदार्थों को दूर करता है। ज्ञात रहे कि असुर वा राक्षस् शब्द से यहां उन वायुमें रहने वाले दुष्ट पदार्थों वा कीड़ों से तात्पर्य है, जो रोगों को उत्पन्न करके प्राणनाश वा मृत्यु का कारण बनते हैं औरअग्नि में होम करने से वे दूर होते हैं॥

मन्त्रार्थः-(ये) जो (असुराः) असुर (रूपाणि) रूपों को (प्रतिमुञ्चमानाः) बदलते (सन्तः) हुवे (स्वधया) अन्न [निघं० २। ७] के साथ (चरन्ति) वायु में घूमते फिरते हैं और (ये) जो (परापुरः) बुरे शरीरों को और (निपुरः) निकृष्ट सूक्ष्म दुर्गन्धिमय शरीरों को (भरन्ति) धारण करते हैं (तान्) उन सब को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से [जहां यज्ञ होता है] (अग्निः) अग्नि (प्रणुदाति) दूर कर देता है॥

कैसा स्पष्ट वायुगत दुष्टकीड़ों का वर्णन है कि जिन का रूप शीघ्र २ बदल जाता है, जो बुरे और सूक्ष्म शरीरों वाले हैं और वे अग्निके तेजसे दूर होते हैं। शतपथ ब्राह्मण २। ४। २। ५ में लिखा है कि असुरों और रक्षसों को परमात्माने तमस् अन्धकार वा तमोगुण वस्तु खानेको दी हैं,जिस अन्न=अपनी खुराक के साथ वे घूमते हैं॥ द० ति० भा० पृ० १५ पं० ९ से लिखा है कि-

भूतविद्यानामदेवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसांशान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् सु० सूत्रस्थान ११

अर्थ-भूतविद्या जो आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में चतुर्थ है उस को कहते हैं कि देव असुर गन्धर्व यक्ष राक्षस पितर पिशाच और नाग आदि ग्रहों करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को ग्रहशान्ति करने से आरोग्य होता है। आशय यह है कि सुश्रुतकार ने भी भूत, प्रेतादि योनि मानी हैं॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश पृ० ३० पं० २२ में जो लिखा है कि—"जिस को शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है उस को भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।" इस से स्वामी जी का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भूत प्रेतादि योनिविशेष कोई नहीं तथापि जिन के चित्त में अविद्या से इन की शङ्का वा भय जम गया है उन को अवश्य वह भय वा शङ्का ही तद्रूप बनकर दुःख देने लगते हैं। इसी प्रकार यहां सुश्रुत में भी जो कुछ सुश्रुतकार वा उन के नाम से अन्य किसी ने लिखा है उस से यह तो नहीं सिद्ध होता कि भूत प्रेतादि योनिविशेष हैं किन्तु यह विहित होता है कि "उपसृष्टचेतसां" जिन के चित्त में भूत प्रेतादि का ख़याल जम गया है उन की चिकित्सा शान्तिकर्म और बलि देना आदि जो भूतविद्या कहाती है, उस से होती है। जैसे इन्द्रजालविद्या एक प्रकार की छलविद्या है वैसी ही यह भूतविद्या भी रहो, इतने से भूत प्रेतादि योनिविशेष नहीं सिद्ध होती। यदि कहो कि योनिविशेष नहीं हैं तो उनको बलि देने से प्रायः रोग दूर क्यों होजातेहैं? तो उत्तर यह है कि जिन लोगों के हृदय में ये कुसंस्कार नहीं जमे उन्हें न तो ये रोग हों और यदि उन्मादादि कोई रोग विशेष हो भी जिस में कुसंस्कारी पड़ोसियों को भूत प्रेतादि का भय हो, तो किसी मन्त्र यन्त्र बलि आदि से कुछ भी लाभ नहीं होता। हां भ्रान्तियुक्त पुरुषों को भ्रान्ति से भूत प्रेत डाकिनी शाकिनी आदि की पीड़ा होती हैं और उन्हीं की भ्रान्ति इन्द्रजाल के समान भूतविद्या नाम छलविद्या से दूर करके प्रायः आरोग्य हो जाता है। इन में भी इन्द्रजाल के समान औषधोपचार करते हैं परन्तु रोगी को यही निश्चय कराते हैं कि अमुक प्रेतादि की अमुक प्रकार बलि आदि की जाती है देखो अभी तुम्हें आराम हुवा जाता है। बात यह है कि उस रोगी को जैसे केवल अपने मन की भ्रान्ति से रोग हो गया वैसे ही मन को संतोष दिलाने वाली बनावट से आराम भी होजाता है। क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन की कल्पना का बड़ा सामर्थ्य है। सुना है कि अमेरिका देश में मन की भ्रान्ति के फल की परीक्षा के लिये एक पुरुष जिस का प्राण किसी कारण लेना ही था उस को विश्वास दिलाया कि तुम्हारे शरीर के अमुक स्थान की नस काट दी जावेगी उस में ख़ून (रक्त) निकलतेर तुम्हारा प्राण लिया जावेगा, तुम्हारे माथे और आंखों पर पट्टी बन्धी रहेगी। जब उस पुरुष को ऐसा निश्चय दिलाकर आंख बन्द करके बिठाकर उस के रक्त की नाड़ी के स्थान में उसे न काट कर अन्य नाड़ीका छेदन किया जिससे रक्त एक बिन्दु भी न निकला

किन्तु रक्त के बराबर गरमी वाला पानी बून्द २ करके नाड़ीछेदन के स्थान पर टपकाते गये जिस से वह पुरुष समझता रहा कि मेरे देह से रक्त बिन्दु टपकती है। बस उस के इस निश्चय से कि मेरा रक्त निकलता है, थोड़े ही मिनटों में उसका प्राणान्त हो गया। किसी मनुष्य को जो भूत प्रेतादि नहीं मानता था कहागया कि अच्छा तुम अर्धरात्रिमें अमुक जङ्गल में अमुक पीपलके वृक्षके नीचे कील गाड़ आओ जब उसने कील गाड़ी, दैवयोगसे उसके अङ्गरखे का सिरा कील में इलझकर गड़गया। जबवह वहांसे चला तो उसने रुकने से समझा कि भूत अवश्यही उसीने मेरा पल्ला पकड़ा है अस्तु खेंचतानकर अङ्गरखा फाड़तोड़, भाग आया परन्तु आते ही प्रेतज्वर (आगन्तुक) चढ़ा और उसी से मर भी गया। आशय यह है कि स्वामी जी के लेखानुसार प्रेतादियोनि न होने पर भी वृथा भ्रम से शाकिनी डाकिनी आदि का रोग होजाता है उसी की निवृत्ति के लिये सुश्रुत में वह प्रतीकार लिखा है कि शान्ति और बलि आदि कराने से आरोग्य होता है किन्तु जिन को भ्रान्ति नहीं उन्हें न यह रोग हो और न बलि आदि से आरोग्य होता है॥

द० ति० भा० पृ० १५ पं० १९ में लिखा है कि-निश्चय जानिये कि देवतों ने ही आप का प्राण शरीर से निर्गत कर दिया, नहीं तो ब्रह्मचर्य वालों की तो आप के कथनानुसार बड़ी उमर होती इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-निश्चय जानिये कि देवतों का काम किसी का प्राण लेना नहीं किन्तु उनके लेखानुसार किसी राक्षसने अवश्य उन का प्राण लिया, नहीं तो आप भी जिनके ब्रह्मचर्य बल को स्वीकार करते हैं ऐसे पूर्ण यती की अवस्था अवश्य बहुत होती परन्तु राक्षसों से उन की लोकोपकारक देवचेष्टा सही न गई और सुनते हैं कि उन का प्राण विष द्वारा ले लिया॥

द० ति० भा० पृ० १५ पं० २६ से लिखा है कि यदि फलित ज्योतिष झूंठा है तो आपने ही 'कारकीय" में "उत्पातेन ज्ञाप्यमाने" इस वार्तिक पर नीचे लिखा महाभाष्य है। यथा-

वाताय कपिलाविद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

पीली बिजुली चमके तो वायु चले, लोहित से धूप, कृष्ण से सर्वनाश और श्वेत से दुर्भिक्ष। कहिये यह फलित नहीं तो क्या है? जन्मपत्र शोकपत्र है तो कहिये आप के जन्म का दिन संवत् आप को उत्पन्न होने ही से याद है? और कोई प्रमाण भी है? इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि वे सूर्यादि ग्रह प्रकाश और गरमी आदि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सक्ते। बस महाभाष्य में जो बिजुली का फल लिखा है वह भी गरमी की न्यूनाधिकता और उससे होने वाला मात्र ही है, अधिक कुछ नहीं। और जन्मपत्र का फल आप के लेखानुसार यदि जन्मसमय का स्मरण रहना है तो यह हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु उस से धन धान्य स्त्री पुत्र जीविकादि का ज्ञान साध्य था जिस की सिद्धि में आप को वेदादि का प्रमाण देना था सो आप ने कुछ नहीं लिखा। और आगे:—द० ति० भा० पृ० १६ पं० २० में लिखा है कि—

शंनोग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्चराहुणा ॥ अथर्ववेद ॥

अर्थात् चन्द्रमा राहु आदित्यादि ग्रह सुखदायक हों इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जैसे कोई यह प्रार्थना करे कि हम को पानी पवन अन्न आदि सुखकारक हों, क्या उस का यह तात्पर्य होता है कि ये पदार्थ चेतन हैं? नहीं, केवल यह कि हम को इन पदार्थों से सुख मिले ऐसा चाहते हैं ॥ और रामचन्द्र जी के जन्म समय ग्रहों के लिखे जाने का कारण यह है कि ग्रहों से ऐतिहासिक सहायता भविष्यत् के लिये बड़ी पुष्ट मिलती है। यदि आज कल उन ग्रहों के गणित से आजकल के ग्रहों का गणितफल निकाला जाय तो गत समय का निश्चित ज्ञान हो सक्ता है ॥

द० ति० भा० पृ० १६ पं० २८ डोरा बान्धने से और मन्त्र पढ़के रक्षा नहीं होती तो आपने सन्ध्या में गायत्री मन्त्र से शिखाबन्धन और रक्षा क्यों लिखी है और शिखा बान्धने से रक्षा होजाय तो तलवार तमंचा आदि व्यर्थ होजावें इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो कृपा करके ऐसे कुतर्क न कीजिये जिन से आप के भी सम्मत विषयों में आक्षेप हो। महाशय! सन्ध्या में शिखाबन्धन और रक्षा को तो आप और समस्त हिन्दु नामधारी मानते हैं उस में आप को शङ्का न करनी चाहिये, क्यों कि उस के खण्डन से आप का भी खण्डन होता है परन्तु यदि आप को यही हठ है कि "मेरी जाय सो जाय पर पड़ौसी की क्यों रहे" तो उत्तर यह है कि गायत्री मन्त्र परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना का है परमात्मा अवश्य सब के रक्षक हैं। स्वामी जी ने आप के कल्पित देवतों के सामर्थ्य पर आक्षेप किया है। शिखा बान्धने का फल-बालों की ओर से सावधानता होना वहीं लिखा है। रक्षा के उपायों में एक उपाय परमेश्वर से प्रार्थना भी है। यदि कोई किसी रोग की एक औषधि लिखे तो क्या उस से अन्य औषधियों की निष्फलता सिद्ध हो जाती है? नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना, तलवार आदि द्वारा रक्षाओं को व्यर्थ नहीं करती। हां,

यह अवश्य है कि हम प्रार्थी लोग इस योग्य परमात्मा की दृष्टि में ठहरें कि वह प्रार्थना स्वीकार करे तो इस में भी सन्देह नहीं कि तलवार आदि उस के सामने कुछ वस्तु नहीं ॥ द० लि० भा० पृ० १७ पं० ५ में लिखा है कि:—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ मनु २।७९॥

ओ३म्, व्याहृति और गायत्री को नगर से बाहर १००० एक मास पर्यन्त जपे तो द्विज महान् पाप से छूटे । देखो यह मनु ने मन्त्र का फल लिखा है तथा अघमर्षण पापदूर करने के निमित्त जपा जाता है । कौशल्या ने रामचन्द्र के बनवास होते समय मन्त्र पढ़कर रक्षा की ऐसा वाल्मीकीय रामायण में लिखा है । और शौनककृत ऋग्विधान में वेदमन्त्र जप से रोगादि शान्ति लिखी है यथा—

८।७।१४ रात्रिसूक्तं जपेद्रात्रौ त्रिवारन्तु दिने दिने ।
भूतप्रेताहिचौरादिव्याघ्रादीनां च नाशनम् ॥ १ ॥
३।४।२३ कृणुष्वेति जपेत्सूक्तं श्राद्धकाले प्रशस्तकम् ।
रक्षोघ्नं पितृतुष्ट्यर्थं पूर्णं भवति सर्वतः ॥ २ ॥
६।२।१९ येषामावधमन्त्रं च जपेच्च अयुतं जले ।
बालग्रहा न पीड्यन्ते भूतप्रेतादयस्तथा ॥ ३ ॥

तात्पर्य यह है कि रात्रिसूक्त, कृणुष्वेति सूक्त और "येषामावध" मन्त्र को १०००जपने से भूत प्रेतादि शान्ति, पितरों की तुष्टि आदि फल होता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—गायत्री ओ३म् व्याहृति के जप का फल पापनिवृत्ति इस लिये ठीक है कि उस में ईश्वर की स्तुतिपूर्वक उत्तम बुद्धि की प्रार्थना है । और बुद्धि उत्तम होने से पाप में प्रवृत्ति नहीं होती, यह पापनिवृत्ति है । परन्तु यह तो मनु ने नहीं लिखा कि पुरोहितादि लोग दक्षिणा लेलें और जप कर के पाप उतार दें । स्तुति प्रार्थना का फल (असर) करने वाले पर अवश्य पड़ता है, यदि वह जी लगा कर करे परन्तु अन्य के किये जप पाठ पुरश्चरणादि से यजमानादि अन्य को फल पाठादि का नहीं होता । हां, यह ठीक है कि वेदाभ्यासादि करने वाले जीविकार्थ अन्य उद्योग जिन का नहीं उन लोगों की जीविकार्थ दक्षिणा देने से दाता की शुभकर्म की प्रवृत्ति में हेतुता आती है इस लिये उसे कुछ पुण्य हो परन्तु ऊपर लिखे मनु के श्लोक वा अन्य

किसी रीति से यह नहीं आता कि अन्यकृत जपादि का फल साक्षात् अन्य को हो। कौशल्या ने भी वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा से रामचन्द्र की रक्षा-प्रार्थना की हो तौ इन से मन्त्र यन्त्र तन्त्रों की वर्त्तमान रीति की पुष्टि नहीं होती और शौनककृत ऋग्विधान का जो आप प्रमाण देते हैं उस में इतनी बातों का प्रथम उत्तर दीजिये १-यदि यह ग्रन्थ प्राचीन है तौ इस के पाठ की शैली नूतन क्यों है। २-चौरादि व्याघ्रादि पद में दो वार आदि शब्द का प्रयोग क्यों है। ३-ऋग्वेद के कृणुष्वपाज० सूक्त और येषामाबाध० मन्त्र में तौ भूत प्रेत का वर्णन है ही नहीं उन में अग्नि का वर्णन है। सायणाचार्य भी इन का अग्नि देवता लिखते हैं, भूत प्रेत नहीं। ४-अयुतं का अर्थ ३००० आप कैसे लेते हैं। ५-"मन्त्रं च जपेच्च" ये दो चकार व्यर्थ क्यों आये हैं। ६-"जपेच्च अयुतं" में सवर्ण दीर्घ की सन्धि न करने का क्या कारण है, यदि कहो कि विवक्षाधीन है तौ क्या किसी कवि का लौकिक शिष्ट प्रयोग ऐसा अन्यत्र भी कहीं है वा नहीं, यदि है तौ कहां और नहीं तौ इस में ही ऐसा क्यों हुवा। ७-पीडयन्ति के स्थान में पीड्यन्ते कैसे हुवा। यदि पीड्यन्ते ठीक है तौ "ग्रह नहीं पीड़ित किये जाते हैं" यह अर्थ होगा, न कि "ग्रह नहीं पीड़ा करते हैं"। ८-भूत प्रेतादि पद (१) में आया है पुनः (३) में क्यों दुबारा आया॥ प्रथम तौ इन श्लोकों में से इन दोषों का हटाना असंभव है, दूसरे यदि अशुद्ध श्लोक मान भी लिये जावें तौ क्या वेदमन्त्र वा सूक्त किसी को मना करते कि हम को जप करके भूत प्रेतादि की छलविद्या न करो। पूर्व प्रकार सुश्रुत के प्रमाण पर भूत प्रेतादि विषय में जो उत्तर दिया गया वही यहां जानिये॥

द० ति० भा० पृ० १८ पं० ४ से लिखा है कि-सत्यार्थप्र० पृष्ठ ३३ में तौ मति ठिकाने शिर है जो द्विज शब्द ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और जाति ही सिद्ध रक्खी है परन्तु तीसरे समुल्लास में इस के विरुद्ध है सो उस का खण्डन वहीं होगा॥

प्रत्युत्तर-द्विज शब्द से अन्यत्र भी तौ ब्राह्मणादि ३ वर्णों ही का ग्रहण किया है। रही यह बात कि यहां तौ जाति ही सिद्ध रक्खी है-सो नहीं। किन्तु विद्यारम्भ करने वाले सन्तान के माता पिता का वर्ण, गुण कर्म स्वभावानुसार ही यहां भी अभिप्रेत है और आगे जैसा आप खण्डन करेंगे उस का प्रत्युत्तर वहीं दिया जायगा॥

द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में लिखा है कि-सत्यार्थप्र० पृ० ३५ बड़ों का मान्य दे उन के सामने उठ कर जाकर उच्चासन पर बैठा प्रथम नमस्ते करे। इत्यादि पर समीक्षा की है कि-यह नमस्ते की परिपाटी भी अजब ढङ्ग की

चलाई है और परस्पर नमस्ते करने का प्रणाम कोई नहीं लिखा। छुटाई बड़ाई नीच ऊंच की कुछ न रही, और बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर कहते हैं कि [नमःज्येष्ठाय च कनिष्ठाय] यजु १६। ३२ में छोटे बड़े को नमस्कार लिखा है। यह मन्त्र रुद्राध्याय का है जिस में ज्येष्ठ का अर्थ व्यष्टि शिव तथा कनिष्ठ के अर्थ समष्टिरूप शिव के हैं। छोटे बड़े मनुष्यों को नमस्ते का विधान इस में नहीं है। आगे व्यवहार की प्राचीन रीति लिखते हैं:-

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेवच ॥
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥
शय्यासने ध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

इत्यादि १२० से १२७ तक मनु अ० २ के श्लोक और उन का अर्थ लिखा है और यह भी लिखा है कि स्वामी जी इस स्थान पर मनुस्मृति देखते २ ऊंघ गये। समाजियों को क्या सूझी है कि छोटा बड़ा भाई बेटा शूद्र वा गुरु सब से नमस्ते ही करते हैं। जो समाजी पण्डित वैश्य शूद्रादि को नमस्ते करते हैं वे (यो न वेत्त्यभिवादस्य०) के अनुसार शूद्रवत् ही हैं। पैसे का लोभ करो तौ तुम्हारे पुरुषा तुम से चौगुणा धन कमाते थे। तथा विदेश में कहते हैं कि हमारा अमुक से नमस्ते कह देना। भला परोक्ष में नमस्ते प्रयोग कब घटता है? चिट्ठी में यह बात नहीं बन सकी इससे नमस्ते कभी न करे, प्रणाम दण्डवत् इत्यादि करे ॥

प्रत्युत्तर-आपने सत्यार्थप्र० पृ० ३५ से जो लेख उद्धृत किया है उस में जानबूझ कर वा भूल से एक भेद कर दिया जिस से अर्थ पलट गया। वह यह है कि "उच्चासन पर बैठावे" ऐसा चाहिये परन्तु आपने द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में "उच्चासन पर बैठा" प्रथम नमस्ते करे, यह लिख दिया जिस से अर्थ में यह भारी अन्तर हो गया, क्योंकि स्वामी जी का तात्पर्य तौ इस शिक्षा से है कि छोटा बड़े को उच्चासन पर बैठावे अर्थात् स्वयं नीचे बैठे, और आप के उद्धृत अशुद्ध पाठ से उलटा यह तात्पर्य झलकता है कि छोटा उच्चासन पर बैठा हुवा बड़े से नमस्ते करे। स्वामी जी का तात्पर्य मनु के इन श्लोकों से मिलता है, जिन्हें आप पृष्ठ १८ व १९ में लिखते हैं कि-

तं पूर्वमभिवादयेत्। प्रत्युत्थायाभिवादयेत्।

अर्थात् प्रथम अभिवादन करे और उठकर करे। यही स्वामी जी ने पृ० ३५ पं० २ में लिखा है। रही यह बात कि स्वामीजी ने नमस्ते लिखा है अभिवादन नहीं लिखा। अभिवादन, वन्दना, नमः, प्रणाम, प्रणति, नति ये एकार्थ हैं इसलिये इन में कुछ भेद नहीं। छुटाई उठने, हाथ जोड़कर करने, प्रथम करने आदि से भले प्रकार सूचित होती है। यदि आप का यह पक्ष हो कि अभिवादन अन्य शब्दों से न किया जावे तो आप ने जो अन्त में दण्डवत् प्रणामादि लिखे हैं, वे भी असत्य हैं। और वर्त्तमान में ब्राह्मण आपस में नमस्कार करते हैं और उन में आपस में गुरु शिष्य, पिता पुत्र आदि सम्बन्ध के कारण छुटाई बड़ाई रहने पर भी नमस्कार शब्द के प्रयोग वा राम २ तथा यहां तक कि हिन्दू लोग मुसल्मानादि से क्या अपने आपस तक में सलाम करने लगे हैं तथापि आप उन पर कुछ नहीं कहते लिखते। "नमोज्येष्ठायच" इस मन्त्र में ज्येष्ठ कनिष्ठ शब्द स्पष्ट छोटे बड़े के वाचक हैं और इस के आगे इसी १६ वें अध्याय में "स्तेनानांपतये" इत्यादि शब्द भी आते हैं जो शिव वा ईश्वर पक्ष में सर्वथा नहीं लग सक्ते। यदि इस का विशेष व्याख्यान देखना चाहो तो "शास्त्रार्थखुरजा" नामक पुस्तक में देख लीजिये। स्वामी जी तो मनुस्मृति को देखते२ नहीं ऊंघे परन्तु आप की समझ निराली है जो आप अभिवादन प्रणाम नमस्ते आदि में भेद समझते हैं। स्वामी जी को अभिवादनादि शब्दों का व्यवहार ज्ञान था, यह तो संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कार प्रकरण से अच्छे प्रकार विदित हो सक्ता है जहां ठीक यही मनु के अनुसार अभिवादन का विधान लिखा है (देखो संस्कारविधि वेदारम्भ पृ० ३८ पं० २१) जो समाजी पण्डित वैश्य आदि को नमस्ते करते हैं वे अभिवादन प्रत्यभिवादन के तात्पर्य को ठीक२ जानते हैं और आप के समान अभिमान में नहीं ऐंठते हैं। वे योग्यतानुसार वर्त्ताव करते हैं। वे हर समय बड़े भी नहीं बनते। वे साधर्म्य और वैधर्म्य तथा सामान्य और विशेष का तात्पर्य समझते हैं। ध्यान देकर सुनिये। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्यत्व साधर्म्य से समान है, फिर एक ही धर्म का अवलम्बी होने से समान है, एक ही ईश्वर का उपासक होने से समान है, एक ही देश में रहने वाला होने से भी समान है, लोक में जाति भाई, देश भाई, धर्म भाई आदि व्यवहार हैं। परन्तु यह सामान्य, उस विशेष का बाधक नहीं जो विशेष छुटाई बड़ाई राजा प्रजा, गुरु शिष्य, पिता पुत्र, सेव्य सेवकादि सम्बन्ध

विशेषों से होती है। इसलिये आर्य पण्डित सामान्य और विशेष का ठीक तात्पर्य्य समझते हुवे धर्मभाई, देशीभाई आदि व्यवहार को जानकर अभिमान में चूर नहीं होते । और आप छुटाई बड़ाई का क्यों इतना विचार करते हैं, आप के यहां तो मूर्ख पण्डित आदि में कुछ विवेक ही नहीं "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः" मूर्ख हो वा विद्वान् ब्राह्मण मेरा देह है, यह भगवान् का वाक्य है। आप के यहां तो ब्राह्मणों ने विष्णु भगवान् की छाती में लात मारी है, भला फिर ब्राह्मण मनुष्य को मनुष्य क्यों गिनने लगे हैं? और पण्डितों का तो कहना ही क्या है। और आप तो मूर्ख से मूर्ख ब्राह्मण को भी शूद्रवत् नहीं कह सक्ते क्योंकि वह भगवान् का स्वरूप है फिर आप के मतानुसार प्रत्यभिवादन न जानने वाले पण्डित शूद्रवत् कैसे हैं? और पैसे का लोभ तो आर्य्य पण्डितों को नहीं है, यह तो आप के लेख से भी सिद्ध है क्योंकि आपने भी लिखा है कि "तुम्हारे बड़े चौगुणी जीविका करते थे" और सच मुच करते हैं! ठीक है, यह चौगुणी जीविका ही पौराणिक पाखण्डों को नहीं छोड़ने देती और आर्यधर्म के विरुद्ध द० ति० भा० जैसे पोथे लिखा रही है। और विदेश में जो नमस्ते कहला कर भेजते हैं वा पत्र में लिखते हैं वह प्रत्यक्ष का अनुकरण लिखा जाता है। इसलिये नमस्ते, अभिवादये आदि करना और जड़वत् दण्डवत् अडीएङ्ग आदि त्याज्य हैं॥

द० ति० भा० पृ० २० पं० २३ से लिखते हैं कि "वाह बड़ी सुन्दर शिक्षा लिखी। वेद का प्रमाण नहीं, यह शिक्षा स्वतः प्रमाण है वा परतः प्रमाण? योनि संकोचन, उपस्थेन्द्रिय स्पर्श न करना आदि शिक्षा नहीं किन्तु सत्यानाश करने, नास्तिक बनाने और वर्णसङ्कर करने की है॥

प्रत्युत्तर—इस शिक्षा में इतने प्रमाण दिये गये हैं, देखो सत्यार्थ०प्र० पृ० २८ पं० ३ में:—

मातृमान् पितृमान् आचार्य्यवान् पुरुषोवेद। शतपथ।

फिर पृ० ३० पं० १५ में:—

गुरोःप्रेतस्यशिष्यस्तुपितृमेधंसमा०मनु और पृ० ३४ पं० ५ में सामृतैःपाणिभिघ्नन्तिगुरवो०महाभाष्य। पुनःपृ० ३५ पं० ७ में यान्यस्माकꣳसुचरितानितानित्वयो० तैत्ति० अपरञ्च पं०२३में दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं

मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनु ॥ और वहीं पं० २७ में:-

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः । चाणक्य ।

इन के अतिरिक्त पुस्तक बढ़ने के भय से भाषा में जितनी बात हैं वे प्रायः शास्त्रों का सार हैं परन्तु आप को तो योनिसंकोच का द्वेष उपस्थेन्द्रियस्पर्शत्याग का द्वेष है, फिर भला आप की शिक्षा के होते हुवे स्त्रियों को प्रदरादि रोग और पुरुषों को स्पर्शातिशय से प्रमेहादि रोग क्यों न हों। आप ने तो देश को रसातल पहुंचाने में अपनी शक्ति भर उद्योग करना ही, इतने पर भी यदि इस देश के लोग वैदिक धर्म की ओर प्रतिदिन उत्साह को बढ़ाते ही जावें, अनाथों का पालन, ब्रह्मचर्य की प्रणाली का सुधार, संस्कृत की शिक्षा, और देशहितैषिता फैलती ही जावे तो आप का क्या दोष। आप ने तो अपनी करनी में कसर न की और न करोगे परन्तु इतने पर भी यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सत्य सङ्कल्प सुफल होते ही जावें तो आप तो अन्त में कहियेगा ही कि भाई युग का प्रभाव है!!! परन्तु न जाने जो वैदिक मार्ग के प्रचार में बाधा डालते हैं वह युग का प्रभाव है वा वैदिक धर्म का प्रचार और उस की दिनोंदिन उन्नति युग का प्रभाव है? अस्तु॥

यह दयानन्द ति० भा० का खण्डन और सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास का मण्डन समाप्त हुवा ॥

—:※:—

ओ३म्

अथ तृतीयसमुल्लासखण्डनम् ॥

द० ति० भा० पृ० २१ पं० ४ में सत्यार्थप्रकाश के पृ० ३८ पं० १२ से उद्धृत करके लिखा है किः—

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् । मनु०

स्वामी जी लिखते हैं कि ८ वें वर्ष उपरान्त लड़के लड़की घर में न रहें पाठशाला में जावें यह जातिनियम और राजनियम होना चाहिये जो इस के विरुद्ध करें दण्डनीय हों इत्यादि। इस पर समीक्षा करते हुवे पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि इतना लम्बा चौड़ा अभिप्राय कौन से अक्षरों से

निकलता है ? इन्हीं अभिप्रायों ने नवशिक्षितों की बुद्धि पर परदा डाला है फिर "मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा" इत्यादि मनु अ० ७ श्लोक १५१। १५२ लिख कर कहते हैं कि यह राजप्रकरण है राजा को योग्य है कि अर्धरात्र वा दोपहर को विश्रामयुक्त हो मन्त्रियों सहित धर्म अर्थ काम का विचार करे वा आप ही। अपने कुल की कन्याओं के विवाह और कुमारों के विनयादि रक्षण का विचार करे । स्वामी जी का तात्पर्य इस से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। स्त्रियों का यज्ञोपवीत नहीं होता तब गायत्री का अधिकार कब है ? आप ने गायत्री पढ़ना लिख दिया तो यज्ञोपवीत भी क्यों न लिख दिया समाजी तो आप के लेख को पत्थर की लकीर मान्ते ही इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह श्लोक राजप्रकरण का है और यथार्थ में है ही, तो राजाको अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा का विशेष विधान करना किस लिये लिखा, जबकि प्रत्येक प्रजागणस्थ पुरुष का भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा करें । तात्पर्य यथार्थ में यही है कि राजा अपनी प्रजा का पितृतुल्य रक्षक है, इसी लिये आप की विवाह पद्धतियों में कन्यादान के पूर्व, किस को कन्यादान करना उचित है, यह निश्चय करते हुवे लिखा है कि:-

"अथ कन्यादानं कुर्य्यात्पिता तदभावे माता तदभावे भ्राता तदभावे राजा इत्यादि" ॥

अर्थात् कन्यादान में पिता उस के अभाव में माता उस के अभाव में भ्राता उस के भी अभाव में राजा इत्यादि का अधिकार है। इस से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि यदि कोई अपनी सन्तान के विषय में अपने कर्त्तव्य को पूर्ण न करे, न कर सके वा करने वाला न रहे तो वह कार्य राजा करे। बस यही तात्पर्य लेकर राजा को विशेष आज्ञा है कि वह प्रजावर्ग के पुत्र पुत्रियों के रक्षण शिक्षणादि का प्रबन्ध करे। वह प्रबन्ध दो प्रकार से हो सकता है १-पितृवर्ग जीवित और योग्य हों तो जाति वा राजा का नियम रहे जिसे वे उल्लङ्घन न करें और २-दूसरा यह कि उन के अभाव में राजा स्वयं करे। अब बताइये स्वामी जी ने इस में क्या मिला दिया। ८ वर्ष का तात्पर्य मनु के उन श्लोकों से निकल आता है जो उपनयन की अवस्था बताते हुवे मनु ने लिखा है कि-

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । इत्यादि मनु २।३६

कन्याओं को यज्ञोपवीत न होने से गायत्रीमन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं तो लाजाहोम के समय "इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा" । और प्रतिज्ञा के समय विवाह में "समञ्जन्तु विश्वेदेवाः" इत्यादि वेदमन्त्रों के पाठ का अधिकार कहां से आ जायगा और स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी कैसे मानी जायगी और:-

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अथर्व०

के अनुसार कन्या ब्रह्मचारिणी होवें यह पाया जाता है, तब आप कन्याओं के ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन से ऐसे क्यों चौंकते हैं। क्या आप के पास कोई वेद का प्रमाण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य और वेदपाठ का अधिकार नहीं? द्विज कहने से जब कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का आप भी ग्रहण करते हैं और द्विज का अर्थ दो जन्म वाला है अर्थात् एक माता के उदर से प्रकट होना दूसरा गुरुकुल में प्रकट होना, तो हम पूंछते हैं कि जब जन्म और संस्कार इन दोनों से द्विज बनता है और आप के मत में कन्या का द्विजत्व-सम्पादक संस्कार नहीं होता तो:-

उद्वहेत द्विजोभार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

जिस का अर्थ स्पष्ट है कि द्विज, लक्षणवती सवर्णा भार्या से विवाह करे। सवर्णा का अर्थ समानवर्ण वाली है। वर्ण ४ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं जिन में से पहले ३ द्विज इस लिये हैं कि उन के दो जन्म होते हैं तो बताइये तो सही कि कन्या के दो जन्म नहीं हुवे और जननी और गायत्री इन दो माताओं को जो कन्या प्राप्त नहीं हुई वह द्विज कैसे होगी और जो कन्या द्विज नहीं वह द्विजों की सवर्णा कैसे हो सक्ती है और सवर्णा से द्विजों को विवाह विहित है तो आपके मत में द्विजों को कन्या ही न मिलेगी। अब स्त्रियों के वेदपाठाधिकार में प्रमाण सुनिये:-

१-इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्। श्रौ० सू०

इस मन्त्र को पत्नी पढ़े॥

२-वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्। श्रौतसूत्र

स्त्री को पुस्तक देकर वेद बंचवावे॥

३—अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव ।

बृहदारण्यक । याज्ञवल्क्य की दो स्त्री थीं मैत्रेयी और कात्यायनी इन में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी । यदि स्त्रियों को वेदपाठ का अधिकार नहीं तो मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी कैसे हुई ॥

४-शङ्करदिग्विजय में मण्डनमिश्र की स्त्री ने शङ्कराचार्य से कहा कि—

अपि तु त्वयाद्य न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम् । वपुरर्द्धमस्य न जिता मतिमन् अपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम् ॥ ५८ ॥

हे शङ्कराचार्य ! आप ने मेरे प्रतिष्ठाग्रणी पति को अभी पूर्ण नहीं जीता क्योंकि उस का अर्ध देह मैं हूं जब मुझे भी आप जीत लें तब मेरे पति को शिष्य करलें ॥

शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया किः—

यदवादिवादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यबले । तदसाम्प्रतंनहिमहायशसो महिलाजनेनकथयन्तिकथाम् ॥५९॥

तुम शास्त्रार्थ करने को चाहती हो परन्तु महायशस्वी लोग स्त्री से शास्त्रार्थ नहीं करते ॥

उस ने उत्तर दिया कि—

स्वमतं प्रभेत्तुमिहयो यतते सवधूजनोस्तुयदिवास्त्वितरः । यतितव्यमेव खलु तस्यजये निजपक्षरक्षणपरैर्भगवन् ॥६०॥

भगवन् ! जो अपने मत का खण्डन करे चाहे स्त्री हो वा पुरुष, अपने पक्ष की रक्षा में तत्परों को अवश्य उस के विजय करने में प्रयत्न करना उचित है॥

इस के अतिरिक्त उस समय विद्याधरी ने प्राचीन समय में भी स्त्री पुरुषों में शास्त्रार्थ होने का प्रमाण दिया कि—

अतएवगार्ग्यभिधयाकलहंसहयाज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्।जनकस्तथासुलभयाऽबलयाकिममीभवन्ति न यशोनिधयः ॥ ६१ ॥

अपने दिये प्रमाण के विरुद्ध सूर्यलोक का ग्रहण करेंगे और गायत्री से सूर्य देव की भौतिक उपासना सिद्ध करेंगे तो आपने ही जो विस्तारपूर्वक गायत्री मन्त्र में आये "भर्गः" पद का अर्थ लिखा है कि–

भइतिभासयतीमान् लोकान्। रइतिरञ्जयतीमानिभूतानि। गइतिगच्छन्त्यस्मन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः॥

इस का अर्थ भी आपने पृ० २६ पं० ५ में लिखा है कि–"सुषुप्ति प्रबोध वा महाप्रलय, उत्पत्ति काल में सर्व प्रजा, परमात्मा में लीन होकर उत्पन्न होती हैं"॥

देखिये आपने भी यहां 'भर्ग' शब्द के अर्थ में परमात्मा का ग्रहण किया है। इस से सिद्ध हुआ कि स्वामी जी ने जो अर्थ किया है वह सङ्गत और शास्त्रानुकूल होने के अतिरिक्त आप के पुस्तक से भी पुष्ट होता है। यह दूसरी बात है कि आप ने पाण्डित्यप्रकाशनार्थ व्याहृतियों का अर्थ करते हुए तैत्तिरीय का पाठ बहुत सा भर दिया और आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ लिख दिये और स्वामी जी ने वे सब अर्थ न लिखकर संक्षेप से एक अर्थ लिख दिया जो ब्रह्मयज्ञ में उपयोगी था और उन्हों ने सत्यार्थप्र० पृ० ३८ पं० २२ में प्रथम ही लिख दिया है कि अब तीन महाव्याहृत्तियों के अर्थ "संक्षेप" मे लिखते हैं। इस लिये उस पर यह तूफ़ान मचाना और तैत्ति० का बहुत पाठ लिख मारना और वृथा लिखना कि स्वामी जी ने अपनी कल्पना तैत्ति० के नाम से की है, सब अनर्थ और असत्य है। और आपने जोः–

खल्वात्मनोत्मा नेतामृताख्यश्चेता मन्ता गन्तोत्स्रष्टानन्दयिता कर्त्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पृशति च॥

और

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह। इत्यादि–

लेख से बृहदारण्यक के इस पाठ को जोड़ दिया है कि:–

आत्मेत्येवोपासीतात्रह्येतेसर्व एकंभवन्ति। बृह० अ० ३ ब्रा० ४॥

सो आपने चातुर्य नहीं किया किन्तु खुल्लम खुल्ला झूंठ लिखा है। भला पूर्वोक्त पाठ का इस से क्या सम्बन्ध। धन्य! महाराज!! आपने इसी वास्ते अपने पूर्व लेख (खल्वात्मनोत्मा नेता०) का पता जान बूझ कर नहीं लिखा जिस से कोई पता न चला लेवे, भला इस प्रकार के चातुर्य से कभी सत्यार्थप्रकाश का खण्डन वा विद्वानों की आखों पर धूलफेंक कर कार्यसिद्धि होसकती है?

वा अद्वैत पक्ष सिद्ध हो सकता है ? कभी नहीं । तथापि हम आप के बेपते लेखका अर्थ करके आप को दिखलाते हैं कि इस में अद्वैत का क्या वर्णन है-

(आत्मनः आत्मा नेता) आप के ही लेखानुसार आत्मा अर्थात् शरीरेन्द्रियसंघात का जो नेता आत्मा है वही चेता मन्ता गन्ता उत्स्रष्टा आनन्दयिता कर्त्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता और स्प्रष्टा है । भला इस से द्वैत अद्वैत का क्या सिद्ध हुवा ? और दूसरे वाक्य-

त्रिभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवंह्याह। अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्म-निर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किंतदवाच्यम् ॥

का अर्थ यह है कि-व्यापक आत्मा देह में घुसा है. यह कहते हैं । जब द्वैतीभूत ज्ञान होता है तब समझा जाता है कि आत्मा सुनता देखता सूंघता चखता और छूता है तथा सर्व को जानता है परन्तु जब अद्वैत अर्थात् देहादि द्वितीय पदार्थों से सम्बन्ध छूट जाता है तब कार्य कारण कर्म से निर्मुक्त, वचन उपमा और नाम से रहित किम् और तद् शब्द का भी वाच्य नहीं होता । तात्पर्य यह है कि आत्मा में देखना सुनना आदि व्यवहार, निर्देश, देवदत्तादि नाम-शरीरसम्बन्ध से बनते हैं, केवल में नहीं । भला इस से जीव ब्रह्म की एकता अनेकता क्या निकलती है ? कुछ नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २७ पं० २५-दयानन्द जी ने सत्या० पृ० ६०१ में वेदों की ११२७ शाखा व्याख्यान रूप बताई हैं परन्तु गायत्रीमन्त्र के अर्थ करने में किसी भी व्याख्यान की रीति से न लिखा । तथा वेदों की शाखा ११३१ हैं उन्हों ने महाभाष्य के विरुद्ध ४ न्यून लिखी हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामीजी ने संक्षेप के कारण आप के समान तैत्तिरीय शाखा का पाठ नहीं भरा परन्तु जितना लिखा है वह सब तैत्तिरीय के अनुकूल ही है । हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि जो अर्थ स्वामीजी ने लिखे हैं वही आपने भी लिखे हैं। हां, उन्हों ने प्रकरणानुकूल संक्षेप से और आप ने प्रकरणविरुद्ध विस्तार से लिखा है। वेदोंकी ११३१ शाखाओं में ४ संहिता मूल वेद भी अन्तर्गत गिनी हैं उनको पृथक करके स्वामीजी ने ११२७ गिनाई हैं, समझ कर देखिये ॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १ स्वामी जी ने सवितृ पद का व्याख्यान यह लिखा है जो (सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता) दयानन्दजी तौ अपने को निघण्टु निरुक्त का पण्डित मानते हैं फिर यह विरुद्ध अर्थ क्यों लिखा। क्योंकि निरु० अ० ५ खं० ४ में सवितृ पद का व्याख्यान यह है कि (सविता षु प्रसवैश्वर्ययोः भू० प० तृचि सविता सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना अभ्यनुज्ञाता) षु धातु प्रसव और ऐश्वर्य अर्थ में है। प्रसव नाम अभ्यनुज्ञान का है अर्थात् फल देने वाले कर्म का स्वीकार करना। सो सविता देव वृष्टिरूप फल देने वास्ते यावत् प्राणीवर्ग के कर्म को स्वीकार करता है और ऐश्वर्य नाम प्रेरणा का है सो सविता देव सर्वजन्तुमात्र को कर्म में प्रवृत्त करता है। तब निरुक्त के मत में "सुवीतीति सविता" होना चाहिये और दयानन्दजी ने "सुनोति" यह प्रयोग रख कर "उत्पादयति" अर्थ लिखा है जो पाणिनिलिखित धात्वर्थ से विरुद्ध है क्योंकि "सुनोति" धातु का अर्थ अभिषव है। "अभिषव" नाम कण्डन का है सोमवल्ली का रस निकालने में उस का अभिषव नाम कण्डन होता है। स्वादिगणी षुञ् धातु का अर्थ उत्पादन नहीं। इस से पाणिनि के भी विरुद्ध है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर–आप ने जो पाठ निरु० अ० ५ खं० ४ का लिखा है वह न तौ नैगम काण्ड अ० ५ खं० ४ में है और न दैवत काण्ड अ० ५ खं ४ में लिखा हैं। अतः या तौ आप पता भूले वा अन्य कुछ कारण हो इस लिये जबतक निरुक्त में इस पाठ का पता पं० ज्वालाप्रसाद न लगायें तब तक उत्तर देना व्यर्थ है। रही यह बात कि निरुक्तकार के मतानुसार भ्वादिगणी षु प्रसवैश्वर्ययोः धातु का प्रयोग "सुवति" होता है "सुनोति" नहीं, इस का उत्तर यह है कि प्रथम तौ आपका लिखा निरुक्त का पाठ उस पते पर मूल में उपस्थित नहीं जो पता आपने छापा है, इस के अतिरिक्त निरुक्तकार ने कहीं धातुओं के गण भी नहीं बताये हैं कि भ्वादि आदि में से अमुकगणी धातु का प्रयोग है इस लिये आपका (भू० प०) लिखना असङ्गत है। निरुक्त में केवल प्रयोग से गण पहचाना जाता है सो आप के असत्य पते के निरुक्त में भी सुनोति वा सुवति इन दोनों में से कोई प्रयोग भी नहीं है तौ आप के लेखानुसार भी स्वामी जी का "सुनोति" प्रयोग निरुक्त के विरुद्ध नहीं प्रतीत होता। और पाणिनि का जो आप प्रमाण देते हैं कि पाणिनि ने स्वादिगणी षुञ् धातु का अर्थ अभिषव लिखा है, उत्पादन नहीं, इस का उत्तर यह है कि महात्मा जी!

पाणिनि जी ने अभिषव अर्थ तो लिखा है परन्तु यह तो नहीं लिखा कि अभिषव का अर्थ उत्पादन नहीं वा कुछ अन्य अमुक अर्थ है ? अर्थ समझना हमारा आप का काम है। सोमवल्ली के रस निकालने में इस धातु का प्रयोग होता है तो यह तो समझिये कि रस निकालना वा रस उत्पन्न करना इस में क्या भेद है ? कुछ नहीं। रस निकालने का तात्पर्य भी तो यही है कि सोमरस का उत्पन्न करना। इस लिये स्वामी जी का लेख पाणिनि के विरुद्ध नहीं। और आप ने जो "षुप्रसवैश्वर्ययोः" धातु को भू० प० लिखा क्या यह अदादि गण में नहीं है ? जब षु धातु भ्वादि अदादि और स्वादि तीनों गणों में है तो स्वादि गण में गण का आदि होने से मुख्य है। तो "मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" के अनुसार स्वादिगणी का ही ग्रहण भी चाहिये, जैसा कि स्वामी जी ने किया है॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १६ में लिखा है कि स्वामी जी ने देव पद की व्युत्पत्ति में "दीव्यति दीव्यते वा" यह दो प्रयोग लिखे हैं परन्तु दिव धातु परस्मैपदी है उस का दीव्यति प्रयोग होता है किन्तु आत्मनेपदी न होने से "दीव्यते" प्रलाप है। यदि कहो कि कर्म में प्रत्यय मान कर आत्मनेपद ठीक है सो भी नहीं क्योंकि ऐसा होता तो स्वामी जी को "यः" के स्थान में कर्त्तृपद "येन" लिखना था। यदि कहो कि उस पक्ष में यः यह कर्मपद परमात्मा का वाचक है तो प्रकाश्य जड़ जगत् है सो ऐसा करने से प्रकाश्यता से जड़ता ईश्वर में आवेगी क्योंकि ईश्वर प्रकाश का कर्ता है न कि प्रकाशित कर्म। और देवपद कर्तृप्रकरणस्थपचादि गण में पड़ा है कर्मवाच्य में नहीं। और (सब सुखों का देने हारा) यह देवपद का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि दिवु धातु के १० अर्थों में सुख देना अर्थ नहीं है। दयानन्द जी ने यह अर्थ कल्पना कर लिया इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—दीव्यते प्रयोग यथार्थ में कर्मवाच्य है और यही कारण आत्मनेपद लिखने का है। और प्रकाश "प्रकट होने" को भी कहते हैं क्योंकि परमात्मा भक्तों के हृदय में प्रकट होते हैं इस लिये प्रकाश क्रिया के कर्म भी कहे जा सकते हैं, इस में कुछ दोष नहीं। पचादिगण में कर्तृवाच्य लिखने से हमारी हानि नहीं क्योंकि स्वामी जी ने कर्तृवाच्य अर्थ भी तो लिखा ही है। कर्तृवाच्य अर्थ में "यः" है ही कर्मवाच्य में कर्तृपद अप्रयुक्त "येन" का अध्याहार हो जायगा। "सब सुखों का देने वाला" यह पदार्थ नहीं किन्तु भावार्थ है। दिवु धातु का "मोद—आनन्द" अर्थ है ही, बस स्वयम् आनन्दस्वरूप है

वही अपने भक्तों को सब सुख दे सकता है। इस लिये स्वामी जी का तात्पर्य निर्दोष है॥

अथाचमनप्रकरणम्

स्वामी जी ने जो आचमन का फल कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति लिखा है और जलाभाव में आचमन की उपेक्षा की है, मार्जन से आलस्य दूर होना लिखा है उस पर द० ति० भा० पृष्ठ २९ पं० ९ से लिखा है कि "यदि आचमन का प्रयोजन यह है तो क्या सभी लोग सन्ध्याकाल में कफ पित्त ग्रसित होते हैं? और सब को आलस्य और निद्रा ही दबाये रहती है। वह निद्रा का समय नहीं। और जल से कफ की निवृत्ति नहीं किन्तु वृद्धि होती है। और ऐसा ही है तो हाथ में जल लेकर ब्राह्मतीर्थ से ही आचमन की क्या आवश्यकता है। और आलस्य दूर करने को हुलास की चुटकी ही क्यों न सूंघ ली जावे? अथवा चाय वा काफ़ी पी लेवें, वा एमोनियां की शीशी पास रक्खें। और स्नान करने से ही आलस्य न गया तो मार्जन से क्या होना है। इस से स्वामी जी का लिखना मिथ्या है। मनु के अनुसार आचमन की विधि नीचे लिखते हैं कि आचमन से आभ्यन्तर शुद्धि होती है। यथा-अ० २

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ ५८॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मंतीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ ५९॥

इत्यादि ६०। ६१ और ६२ तक श्लोक हैं जिन का तात्पर्य यह है कि विप्र को ब्राह्मकाय वा दैव तीर्थ से आचमन करना, पित्र्य से नहीं। ५८। अङ्गुष्ठ मूल में ब्राह्म, अङ्गुलिमूल में काय, अङ्गुलियों के अग्र भाग में दैव और उन के नीचे पित्र्य तीर्थ है। ५९। प्रथम तीन आचमन करे फिर दो बार मुख धोवे और जल से इन्द्रियां देह और शिर को छुवे। ६०। फेन और उष्णता रहित जल से उचित तीर्थ से धर्मवेत्ता शौच चाहने वाले को सदा एकान्त में उत्तरमुखस्थ होकर आचमन करना चाहिये। ६१। ब्राह्मण हृदयगत जल से, क्षत्रिय कण्ठगत, वैश्य जिह्वागत और शूद्र स्पर्श से शुद्ध होता है। ६२। आप के चेले तो कोट पतलून पहर कर सन्ध्या करेंगे फिर स्नान कौन करेगा और

मनसा परिक्रमा किस की करे आप की वा सत्यार्थप्रकाश की ? क्योंकि निराकार ईश्वर की परिक्रमा असंभव है। (अपां समीपे) मनु में लिखा है कि जलाशय पर गायत्री जपे परन्तु आप के मत में तौ कफ ने घेरा हुवा पुरुष कोठी बंगले ही में करेगा इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति कण्ठ में थोड़ा जल पहुंचने से अवश्य होती है। स्वर स्पष्ट हो जाता है। जल कफरोग को बढ़ाता है परन्तु यह किसी रोग का तौ इलाज नहीं किन्तु सामान्य प्रकार से कण्ठ में कफ रहता और मन्त्रोच्चारणादि में वहां का कफ बाधक होता है वह निवृत्त हो जाता है। यदि जल तर होने से कफरोग को उत्पन्न करता है यह नियम हो तौ जितने वैद्यक के प्रयोगों में मिश्री गुड़ शहत गुडूची आदि तर वस्तु खांसी के रोग में प्रयुक्त की हैं, सब व्यर्थ होजावें। यथार्थ में तरी के द्वारा दोष का नाश नहीं करना है किन्तु उसे शान्त रखना अभीष्ट है। और आपने जो मनु के श्लोक लिख दिये उन से स्वामी जी के लिखे फल का निषेध तौ नहीं आया किन्तु आचमन के प्रकार का वर्णन है। और ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तरोत्तर न्यून जल से शुद्धि का प्रयोजन यह है कि अपने २ वर्णानुसार उन को उतनी २ शुद्धि भी न्यूनाधिक ही अपेक्षित है। ब्राह्मण को उत्तम होने से जितनी शुद्धि अपेक्षित है अन्यों को क्रमशः उस से न्यून अपेक्षित है, इत्यादि प्रकार से कारणवाद सर्वत्र खोजा जासकता है। हम आप से यह पूंछते हैं कि स्वामी जी ने कर्म तौ वे २ लिखे ही जिन्हें आप भी मानते हैं परन्तु उस की पुष्टि के लिये यदि स्वामी जी ने कुछ युक्ति भी लिखदीं तौ क्या दोष होगया ? और स्वामी जी के लिखने को तो आप न मानियेगा परन्तु वेदवचन को कैसे न मानियेगा। देखिये यजुर्वेद। ३६। १२॥

शन्नो देवी रभिष्टय आपोभवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः

इस का आध्यात्मिक अर्थ तौ पञ्चमहायज्ञविधि के लिखे अनुसार है परन्तु आधिदैविक और भौतिक अर्थ पर दृष्टिपात कीजिये-देव्य आपः नः पीतये शंभुवन्तु। नोऽस्मान् अभिष्टये शंयोरभिस्रवन्तु। अर्थात् दिव्यजल हमारे पीने के लिये सुखदायक हो और वह हम को मनोवाञ्छित सुख को वर्षावे। तात्पर्य यह है कि उत्तम दिव्य जल से (जैसा कि मनु अ० २ श्लोक ६१ में स्वच्छ जल से आचमन लिखा है) आचमनादि करने से सुख की प्राप्त होती

है। अर्थात् शारीरिक सुख तृप्तिशान्ति आदि के लिये जलको प्रयोग में लाना चाहिये। यही कारण इस मन्त्र के आचमन करने में विनियोग होने का है। और आलस्यनिवृत्त्यर्थ मार्जन पर जो आप ने लिखा कि क्या सब को आलस्य दबाये रहता है? और स्नान से आलस्य दूर न हुवा तो मार्जन से क्या होगा। महाशय! प्रथम तो यह बात है कि जल के छींटा पड़ने से जैसी चेतनता होती है उस प्रकार की स्नान से नहीं होती दूसरी बात यह भी है कि भला प्रातः सन्ध्या में तो स्नान करके बैठते हैं परन्तु सायंसन्ध्या में स्नान का नियम नहीं देखा जाता और तीसरी बात यह है कि जाड़े में भी एक वार नित्य स्नान करना उत्तम कर्म है और गरमी आदि में दो वार वा जितने वार से देह शुद्ध रहे। परन्तु स्नान की कर्त्तव्यता, सन्ध्याकी कर्त्तव्यता के बराबर नहीं रक्खी गई। जिस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में-

नतिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमाम्॥ सशूद्र-
वद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः। २। १०३॥

दोष लिखा है कि "प्रातः सायं सन्ध्या न करे उसे शूद्र तुल्य बाहर किया जावे" इस प्रकार मन्वादि किसी धर्मशास्त्रकार ने प्रातःसायं स्नान न कर सकने वा न करने वालों को बाह्य करना नहीं लिखा इस से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि स्नान कर्त्तव्य नहीं किन्तु सन्ध्या के बराबर नहीं। अर्थात् स्नान १ के स्थान में १० वार भी करे और सन्ध्या न करे तो पतित ही हो जायगा। परन्तु स्नान न करके भी सन्ध्योपासन कर लेने वाला पतित नहीं होसक्ता तो सन्ध्या के अङ्ग आचमन मार्जनादि में स्नान से व्यर्थता लिखना ठीक नहीं। ब्राह्म तीर्थ से सुगम और उत्तम रीति से आचमन हो सक्ता है और धर्मशास्त्र ने भेद भी भिन्न २ कर्मों के कर दिये हैं इस लिये ब्राह्म तीर्थ से आचमन करना अन्य रीति की अपेक्षा उत्तम है। हुलास की चुटकी से आलस्य दूर करने की विधि सन्ध्याकाल में सच्छास्त्रों में होती तो वह भी माननीय होती। परन्तु स्वामीजी का तो प्रयोजन यह था कि जो कुछ विधि शास्त्रानुकूल हैं उनको अनुकूल तर्क से पुष्ट किया जावे, न कि नई बात चलावें। स्वामीजी के चेले कोट पतलून पहर कर तो सन्ध्या कर लेंगे परन्तु आप के चेले तो वेद शास्त्र सन्ध्या आदि सभी से छुट्टी पागये और पाते जाते हैं। यदि स्वामी जी महाराज का पुरुषार्थ न होता तो अंग्रेज़ी शिक्षा

के फैलते ही सब कर्म धर्म दूर हुवा था। धन्य है स्वामीजी को जो कोट पतलून वालों को गिरजों से बचाकर सन्ध्या सिखलाई। परिक्रमा मन से परमात्मा की हो सक्ती है। परिक्रमा का वह अर्थ नहीं जो आप ठाकुरजी की परिक्रमा समझते हैं कि बीच में ठाकुरजी को करके उन के चारों ओर घूमना। किन्तु परि=सब ओर, क्रम=घूमना अर्थात् सब ओर मन जावे और जहां जावे वहां परमात्मा को ही पावे, पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर ऊपर नीचे सर्वत्र परमात्मा को ही पावे। यह परिक्रमा है। (अपां समीपे०) जलाशयों के किनारे हरित वृक्ष पत्र पुष्पादि से रम्यस्थान में सन्ध्या करे। और आप कोठी बंगलों पर क्यों चिढ़े हैं। यदि कोठी बंगलों में सुन्दर फव्वारे लगे हों, एकान्त हो, पुष्पादि के गमलों से सुसज्जित हो तौ क्या हानि है। इस प्रसङ्ग में शास्त्रीय प्रमाणों से काम न लेकर आपने ठठोलबाज़ी बहुत की है, अतः हम को अधिक लिखने की आवश्यता नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३० पं० २२ से लिखा है कि स्वामी जी ने जो दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करना लिखा है सो क्या अधिक करने में कोई पाप है? परमेश्वर का नाम जितना अधिक लिया जाय श्रेयस्कर है इसलिये स्वामी जी का दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र का विधान ठीक नहीं॥

प्रत्युत्तर—जब आप को त्रिकाल सन्ध्या का कोई प्रमाण न मिला तौ धन्य! यही लिख दिया कि परमेश्वर का नाम श्रेयस्कर है। हम भी तौ कहते हैं कि परमेश्वर का जितना अधिक स्मरण करो अच्छा है परन्तु प्रसङ्ग तौ यह है कि जिस सन्ध्योपासन के बिना किये द्विज पतित हो जाता है उस का विधान तौ स्वामी जी के लेखानुसार ही शास्त्र से केवल दो काल में सिद्ध है। यूं तौ " अधिकस्याधिकं फलम् " के अनुसार त्रिकाल सन्ध्या की अपेक्षा भी समस्त दिन उसकी उपासना करो तौ क्या पाप है? तब आप की त्रिकाल सन्ध्या जो वेद और धर्म शास्त्र की मर्यादा से भिन्न आप में प्रचरित है उस की निर्मूलता स्वामीजी ने लिखी सो ठीक ही है॥

द० ति० भा० पृ० ३० पं० २६ से लिखा है कि सत्या० पृ० ४२ पं० १५ स्वाहा शब्द का यह अर्थ है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही बोले। समीक्षा—यह स्वाहा शब्द का अर्थ कौन से निरुक्त से निकाला भला ऊपर जो आप ने लिखा है कि "प्राणाय स्वाहा" तौ इसका यह अर्थ हुवा कि प्राण अर्थात् परमेश्वर के अर्थ जैसा ज्ञान आत्मा में होवे वैसा बोले। भला यह क्या बात

हुई इससे हवन की कौन सी कला सिद्ध होती है । सुनिये स्वाहा अव्यय है जिन के अर्थ हविस्त्यागन करने के हैं जो देवता के उद्देश से अग्नि में हवि दिया जाता है उन में स्वाहा शब्द का प्रयोग होता है जैसे "प्राणाय स्वाहा" प्राणों के अर्थ हवि दिया वा प्राणों के अर्थ श्रेष्ठ होम हो ॥

प्रत्युत्तर-स्वाहा शब्द के उक्त स्वामीजी कृत अर्थ में प्रमाण सुनिये जो उन्हों ने "पञ्चमहायज्ञविधि" में लिखा भी है:-

स्वाहा कृतयः स्वाहेत्येतत्सुआहेति वा स्वावागाहेति वा स्वं प्राहेतिवा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा तासामेषा भवति ॥

निरु० दैवत कां० अ० ८ खं० २०॥

इस में से "स्वा वागाहेति" का अर्थ भी "पञ्चमहाय०" में लिख दिया है कि "या स्वकीया वाग्ज्ञानमध्ये वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्"। अर्थात् जैसा ज्ञान मन में हो वैसा कहे किन्तु बाहर भीतर में भेद करके कपट व्यवहार न करे। यह तो प्रमाण हुवा। अब यह भी सुनिये कि प्राण नाम परमेश्वर का है तो "प्राणायस्वाहा" का क्या अर्थ हुवा। इस का यह अर्थ हुवा कि परमेश्वर के लिये अर्थात् उस की प्रसन्नता के लिये सत्य ही बोलना कपट न करना। और आपने जो आहुति देना अर्थ लिखा है वह भी ठीक है और वह स्वामी जी ने भी "पञ्चमहायज्ञविधि" में निरुक्त के "स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा" इस वाक्य का प्रमाण देकर लिखा है परन्तु यहां सत्यार्थप्रकाश में यह समझ कर कि पञ्चयज्ञ का विधिपूर्वक लेख तो पञ्चमहायज्ञविधि में है ही वहां सब लोग पढ़ कर जानलेंगे इसलिये संक्षेप से सन्ध्योपासनादि की शिक्षा के प्रसङ्ग में थोड़ा सा लिख दिया। संक्षेप के कारण जैसा "पञ्चमहा०" में स्वाहा शब्द के कई अर्थ निरुक्त के प्रमाण से लिखे हैं वे विस्तारभय से यहां नहीं लिखे। और "स्वाहा अव्यय है" यह जो आप ने लिखा तो क्या स्वामी जी ने इस के अव्ययत्व का निषेध किया है? यदि नहीं किया तो व्यर्थ आप क्यों पुस्तक बढ़ाते हैं? ॥

द० ति० भा० पृ० ३१ पं० ८ से अग्निहोत्रविषयक सत्यार्थप्र० के लेख पर इतने आक्षेप हैं:-

१-यज्ञपात्रों की आकृति वेदविरुद्ध है ॥

प्रत्युत्तर-आप कृपा करके वेदोक्त आकृति लिखते तो जाना जाता कि

स्वामी जी ने वेदविरुद्ध लिखा। परन्तु आप के प्रमाणशून्य कथनमात्र से कोई नहीं मान सक्ता॥

२-यदि अग्निहोत्र का फल जल वायु की शुद्धि है तो थोड़ीसी आहुतियों से क्या होगा किसी अढ़तिये की दूकान में आग लगा देनी चाहिये। जल वायु की शुद्धि तो प्राकृत नियम से ही होती है बन में अनेक सुगन्धि पुष्प वायु में प्रसरण को स्वयं ही प्राप्त होते हैं। वायुशुद्धि गन्धक से हो सक्ती है। जलशुद्धि निर्मली के बीज से होसक्ती है॥

प्रत्युत्तर-हम भी आप से कह सक्ते हैं कि यदि अन्न से क्षुधानिवृत्ति होती है तो क्या किसी हलवाई की दुकान लूट खाइयेगा वा अनाजमण्डी का चर्वण करलेना उचित होगा? जैसे आप किसी की घृत की दुकान में आग लगाने से कहते हैं प्राकृत नियम से जैसे दुर्गन्धयुक्त पदार्थों के बदले सुगन्ध का प्रसाद परमात्मा करते हैं वैसे ही मनुष्यों के उत्पन्न किये दुर्गन्ध फैलाना रूप पाप की निवृत्ति के लिये वा अग्नि वायु जल आदि भौतिक देवक्षण की निवृत्ति करने अर्थात् जलादि अशुद्ध को शुद्ध करने के लिये परमात्मा ने वेद में हम को हवन का फल बताया है। यथा-

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि०।

इत्यादि। यजुः अ० १ मं० २

"यज्ञो वै वसुः" शतपथ १।५।४।९। वसु जो यज्ञ है वह पवित्र है। दिव्यगुणयुक्त है। विस्तारयुक्त है वायुशोधक है। मूल मन्त्र में मातरिश्वा शब्द वायु के लिये है। "मातरिश्वा वायुः" निरु० ७। २६॥ इत्यादि शतशः प्रमाण वेदों में यज्ञफल सूचक हैं जिन्हें विस्तारभय से यहां कहां तक उद्धृत करें। गन्धक में सुगन्ध है वा दुर्गन्ध जो यह भी नहीं जानता उस से क्या कहा जावे। सुगन्ध मिष्ट पुष्ट रोगनाशक चार गुणों वाले पदार्थों के सामने गन्धक की गन्ध आप ही को भावेगी। निर्मली से जल की मट्टी ही केवल नीचे बैठ सक्ती है अन्य रोगकारक वस्तु नहीं। परन्तु वायु और मेघों तक की शुद्धि कर के यज्ञ संसार भर का उपकार करता है। यदि प्रत्येक मनुष्य पूर्वकालिक ऋषियों के समान गौ आदि पाले और नित्य हवन यज्ञ करें तो थोड़ी आहुति न रहें किन्तु भारत के २० करोड़ आर्यवंशियों की १०। १० आहुति मिलकर २ अरब प्रतिदिन की आहुतियों से समस्त देश में आनन्द मङ्गल हो जावे। परन्तु वेद में तो देवतों (जल वायु आदिकों) का दूत "अग्नि" लिखा

है जैसा कि हम नीचे लिखेंगे और आप स्वयं देवदूत बनकर सूर्य्य चन्द्रादि भौतिक देवों के नाम की सामग्री पुजवा कर अपने घर लेजाने की ही परिपाटी स्थिर रखना चाहते हैं तब भला यह लोकोपकार कैसे हो ॥

३-यदि मन्त्रपाठ का कारण यह है कि मन्त्रों में हवन के फल का वर्णन है तो "गायत्री और विश्वानिदेव०" इन मन्त्रों से आप ने क्यों आहुति लिखी इन मन्त्रों के अर्थ तो अग्निहोत्र के फल को नहीं बताते ॥

प्रत्युत्तर-मुख्यमन्त्रों में जैसे अग्नयेस्वाहा । सोमायस्वाहा । वायवेस्वाहा । वरुणायस्वाहा । प्राणायस्वाहा । इत्यादि में वायु जल प्राण आदि के अर्थ तो हैं ही परन्तु हवन की सामग्री विशेष हो तो गायत्री आदि मन्त्रों से परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करता जावे और शेष सामग्री को अग्नि में चढ़ा देवे, यह तात्पर्य स्वामीजी का है । किसी मुख्य यज्ञ की कोई आहुति विशेष तो गायत्री से स्वामी जी ने नहीं लिखी । जो अग्निहोत्र के विशेष मन्त्र " समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्याजुहोतन " इत्यादि हैं उन में तो अग्नि में समिधाहोम घृतहोमादि का अर्थ स्पष्ट है ही । दुर्गापाठ के तुल्य-

" गर्ज २ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम् " मदिरा की आहुति वेद में नहीं लिखीं ॥

४-गायत्री से प्रथम चुटिया बन्धवाई फिर रक्षा की फिर जप किया अब घी फूंका । आगे २ इंजिन लगाकर रेल चलावेंगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने यदि रक्षादि कार्य्य किये तो अनर्थ क्या किया परन्तु आप तो अपने बड़ों को मानते हैं कि उन्होंने गायत्री के जप से ही इतना सामर्थ्य बढ़ाया था कि धोती निराधार आकाश में सुखाते, जल से अग्नि जलाते, किसी का प्राण चाहते तो ले लेते इत्यादि । और इस में सन्देह नहीं कि हम आप के समान गायत्री को सामर्थ्यहीन नहीं समझते । जैसा आप का भाई धर्म से विधर्म होजावे तो आप की गायत्री गङ्गा यमुना आदि कुछ नहीं कर सक्तीं । यहां यह बात नहीं, किन्तु आप के मुरादाबाद में और अन्यत्र शतशः पतित भाइयों का उद्धार इस सामर्थ्यवान गायत्री मन्त्र से हम ने किया और देखिये आगे २ क्या करेंगे, घबराते क्यों हो । गायत्री की विचित्र शक्ति को देखना क्या २ काम देती है । कदाचित् आप भी तो भूत प्रेत गायत्री से दूर किया करते हैं और यजमानों से दक्षिणा लिया करते हैं । फिर विना

दक्षिणा मांगे स्वामी जी ने गायत्री से रक्षा और होमादि का विधान किया तो बुरा क्या किया ॥

५-जलवायु की शुद्धि प्रयोजन है तो प्रातःसायं का नियम क्यों? स्नानादि की आवश्यकता क्या है? पात्रों की क्या आवश्यकता है चूल्हे वा भट्टी में झोंक दें। और मन्त्रपाठ विना हवन करो तब भी कण्ठस्थ रह सकता है ॥

प्रत्युत्तर-प्रातःसायं ही सब कामों के प्रथम और सब के पश्चात् प्रधान कार्य करने चाहियें। तथा वेद ने भी "सायं सायं गृहपतिर्नो० प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०" (अथर्ववेद कां० १९ अनु० ७ मं० ३। ४ ॥) प्रातःसायं ही इस का विधान किया है। समय भी यही ऐसा है जिस में प्रायः चित्त स्थिर शान्त और अन्यकामों से निश्चिन्त होता है इत्यादि अनेक कारण हैं जिन से प्रातः सायं समय ही उत्तम है। शुद्धिकारक कर्म करते हुवे क्या देह को शुद्ध करना आवश्यक नहीं जो स्नान को व्यर्थ बताते हो। पात्रों के विना वह कार्य वैसा ठीक सिद्ध नहीं होता जैसा उस कार्य के लिये बनाये हुए विशेष पात्रों से। और यूं तो कड़ाही का काम तवे और थाली का तंबिये आदि से अभाव में लिया ही जाता है और अभाव में हवन भी स्थण्डिल पर करते ही हैं परन्तु जिस २ कार्य के लिये जो २ पात्र बनाये गये हों वह २ कार्य उन २ पात्रों से जैसा उत्तम होता है वैसा अन्यथा कदापि नहीं हो सकता इस कारण पात्रविशेष का लिखना सार्थक है ॥

६-यजुर्वेद के अ० ७ मं० ३७ अ० ११ मं० ३५। ३७ और उन का अर्थ लिख कर कहते हैं कि ये मन्त्र परलोक स्वर्ग प्राप्त्यर्थ अग्नि की स्तुति विधान करते हैं। अग्नि देवदूत है। अग्नि हमारा धन सम्पादन करो संग्रामों को विदीर्ण करो। अन्न हमें देओ। शत्रु को जीतो। देवतों को हवि पहुंचाओ। यजमान का कल्याण करो। अपने लोक में ठहरो। पुष्कर पर्ण पर भले प्रकार बैठो इत्यादि अग्नि की स्तुति लिखी है ॥

प्रत्युत्तर-हम आप के किये अर्थों को मानलें तब भी कोई हमारे पक्ष की हानि नहीं क्योंकि जल वायु की शुद्धि से शौर्य धैर्य आरोग्य बल पुष्टि आदि बढ़ते हैं जिस से धन, जय, अन्न, कल्याण की प्राप्ति होती है। इस से वह बात खण्डित नहीं होती जो हम ने ऊपर यजुः अ० १ मं० २ से वायु की शुद्धि यज्ञ द्वारा सिद्ध की है। और अग्नि को देवदूत अर्थात् वायु आदि देवतों को उन के लिये दिया हुवा भाग पहुंचाने और उस से उन को प्रसन्न अर्थात

स्वच्छ शुद्ध अनुकूल करने वाला तौ हम भी मानते हैं,स्वामी जी ने भी माना है। परन्तु आप तौ अग्नि के स्थान में अग्निमुख ब्राह्मणों (नाममात्र) के ही द्वारा सब देवतों की पूजा सामग्री के चट्ट कराने की रीति हो अच्छी समझते हैं। अग्नि के द्वारा (जो देवदूत है) देवभाव उन को प्राप्त कराना तौ आप " आग में झोंकना फूंकना " आदि कठोर शब्दों से व्यवहार करते हुवे अच्छा ही नहीं समझते। और द० ति० भा० पृ० ३२। पं० २५ और पृ० ३३ पं० ३ में जो मनु के अ० ३ श्लोक ७६ । ७४। ७५ से यह लिखा है कि "विद्या पढ़ने पढ़ाने, व्रत, हवन, ३ वेद पढ़ने और यज्ञादि के करने से ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। अग्नि में डाली आहुति सूर्य को प्राप्त होती, उस से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा की उत्पन्न करती है। ७६। अहुतजप, हुत हवन, प्रहुत, भूतबलि, ब्राह्महुत श्रेष्ठ ब्राह्मण की पूजा, प्राशित श्राद्ध। ७४। अग्निहोत्र में युक्त होय तौ जगत् को धारण करता है " इत्यादि का उत्तर यह है कि वेदादि के पढ़ने से आभ्यन्तर और हवनयज्ञ से बाह्य जलादि की शुद्धि हो कर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक मनुष्य, परब्रह्म की प्राप्ति के योग्य होता है, इस में विवाद ही किसे है। परन्तु आप स्वामी जी के विरुद्ध वायु आदि की शुद्धि को हेतुता न हो, ऐसा कोई फल यज्ञ का बतावें। किन्तु आप तौ आहुति से वर्षा और अन्नादि द्वारा प्रजा का धारण पोषण मनु के प्रमाण से लिखते हैं, जिसे स्वामी जी और हम लोग निर्विवाद मानते हैं और वह वायु की शुद्धि वृद्धि हो कर अन्नादि शुद्ध पदार्थ खाने योग्य उत्पन्न होवें तभी संसार का धारण पोषण हो सकता है, सो ठीक है। हमें आप के समान पक्षपात नहीं कि ठीक बात आप लिखें और स्वामी जी के लेख की पुष्टि करें, तब भी हम न मानें। श्लोक ७४ में अहुत, प्रहुत, हुत, प्राशित, ब्राह्महुत ये पञ्चमहायज्ञों के नामान्तर हैं, इस से हमारा कोई विरोध नहीं, आप की विशेष इष्टसिद्धि नहीं, व्यर्थ पुस्तक बढ़ाई गई है। और पृ० ३३ पं० १४ में मनु के श्लोक से जो संध्या और हवन से पापनिवृत्ति लिखी है, सो ठीक है संध्या के द्वारा आभ्यन्तर राग द्वेषादि और हवन से वायुविकारादि बाह्य दोष निवृत्त होते हैं,इस में स्वामी जी के लेख का खण्डन ही आपने क्या किया। देवयज्ञ का विशेष मण्डन देखना हो तौ मेरा व्याख्यान "वैदिकदेवपूजा" देखिये ॥

अथ स्त्रीशूद्राध्ययनप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३३ पं० २१ से पृ० ३४ पं० २५ तक सत्यार्थप्र० पृ० ४३ । ३४ । ९५ । ९४ के लेख उद्धृत कर के शङ्का की है कि स्वामी दयानन्दस० जी मन्त्रभाग छोड़ शूद्र को पढ़ना सुश्रुत से प्रमाणित करके फिर "यथेमां" आदि मन्त्र से शूद्र को पढ़ने का अधिकार लिखते हैं । और " तुम कुवे में पड़ो " इस को दुर्वचन बता कर उलाहना दिया है ॥

प्रत्युत्तर—अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं १ 'योग्यता' २ 'स्वत्व'। स्वामी जी ने वा अन्य किसी ऋषि ने जहां २ शूद्र को मन्त्रसंहिता छोड़ कर अन्य सब कुछ पढ़ना लिखा है उसका तात्पर्य योग्यतापरक है अर्थात् शूद्र मन्त्रसंहिता पढ़ने के अयोग्य है वा उस के पढ़ने की योग्यता से रहित है। जैसे स्कूल में सब विद्यार्थी ऊंची क्लास में पढ़ने को योग्य नहीं होते किन्तु कोई२ होते हैं । जो नहीं होते उन्हें कहा जा सक्ता है कि वे ऊंची कक्षा (क्लास) के योग्य नहीं वा उन्हें उस कक्षा में पढ़ने का अधिकार नहीं है ॥

'स्वत्व' अपनापन को कहते हैं । और जहां २ वेदमन्त्रों ऋषिवाक्यों और सत्यार्थप्र० में वेद पढ़ने का शूद्र को अधिकार है यह लिखा है उस का तात्पर्य स्वत्व (इसतहक़ाक़) परक है । अर्थात् जैसे ईश्वररचित अन्य पदार्थों से उपकार ग्रहण करने का योग्यतानुसार सब को स्वत्व(अधिकार वा इसतहक़ाक़) है उसी प्रकार वेद जो ईश्वर का दिया ज्ञान है उस पर भी सब का स्वत्व (हक़) है । तदनुसार शूद्र का भी अधिकार (हक़) है ॥

योग्यता और स्वत्व में भेद है । योग्यता न होने से अयोग्य पुरुष उस पद पर बैठाया भी जावे तो भी अशक्त होवे । और स्वत्व न होना वह कहाता है कि चाहे योग्य भी हो तब भी स्वत्व न होने से उस पद पर नहीं बैठाया जा सके । जैसे देवदत्त के धन का स्वत्व(हक़) उस का पुत्र ही रखता है । अन्य किसी का पुत्र चाहे इस योग्य है ,कि वह उस धन को लेकर वर्त्त सके परन्तु अधिकारी (हक़दार) नहीं है बस इसी प्रकार शूद्र अपनी अयोग्यता के कारण अनधिकारी है परन्तु स्वत्व के कारण अधिकारी (मुस्तहक़) है । क्योंकि एक ही पिता परमात्मा की वेदविद्या होने से उस के पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि सब ही अधिकारी (मुस्तहक़) हैं । जैसे किसी पिता के चार पुत्र में से योग्यता के तारतम्य (कमी बेशी) से कोई अधिकारी हो और कोई न हो परन्तु स्वत्व सब को है अर्थात् जब ही

उन में से कोई अयोग्य अपनी अयोग्यता दूर करले तब ही अधिकारी हो जायगा। परन्तु दूसरे पुरुष का पुत्र पूर्वोक्त अन्य पिता के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार परमात्मा के चारों पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं, उन में से जो अयोग्य है वह कोष का फल नहीं पाता परन्तु अयोग्यता दूर करके योग्य होने पर सब को उस पर अधिकार (इस्तहक़ाक़) अवश्य प्राप्त है। जैसे अन्य किसी का पुत्र अन्य किसी के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सकता। वैसे परमात्मा की वेदसंपत्ति का अधिकारी योग्य होने पर भी कोई (शूद्रादिकुलोत्पन्न होने मात्र से) न हो यह नहीं होना चाहिये, न हो सकता है॥

द० ति० भा० पृ० २५ पं० ३

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च। शारीरक सूत्र ३६

अ० १ पा० ३

विद्या पढ़ने के लिये उपनयनादि संस्कार सुनने से शूद्र वेदविद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—हम पूर्व लिख चुके हैं कि अनधिकार का जहां २ वर्णन है वह योग्यता के अभाव से है॥

द० ति० भा० पृ० ३५ पं० ७ से मनु के अ० २ श्लोक १७१। १७२ से लिखा है कि उपनयन संस्कार से पूर्व वेद पाठाधिकार नहीं॥

प्रत्युत्तर—अयोग्य दशा में शूद्र को अपनी अयोग्यता के कारण अधिकार नहीं। अयोग्यता से योग्यता को पहुंचने की सन्धि में यद्यपि शूद्र शब्द का प्रयोग पूर्वावस्था के अभ्यास से रहो परन्तु योग्यता प्राप्त होते ही वह अधिकारी हो जाता है जैसा कि आप के ही लिखे मनु के वक्ष्यमाण श्लोकों से सिद्ध है:—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥ १०।१२६॥
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥ १२७॥
यथा यथाहि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥ १२८॥

अर्थ-न शूद्र में कुछ पातक है, न वह संस्कार योग्य है, न उस का धर्म में अधिकार है, न धर्म करने का उसे निषेध है॥ १२६ ॥ धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्र से रहित करके भी सत् पुरुषों के आचरण करते हुवे दोषों को नहीं प्राप्त होते किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥ १२७ ॥ निन्दा को न करने वाला शूद्र, जैसा २ अच्छे पुरुषों के आचरणों को करता है वैसा २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है ॥१२८॥ यह श्लोक तथा अर्थ हम ने द० ति० भा० का ही उद्धृत किया है हम कुछ देर के लिये इसी को ठीक मान लेते हैं और पाठकों से निवेदन करते हैं कि ये श्लोक और इन का अर्थ स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाशस्थ सिद्धान्त को पुष्ट करता है वा पं० ज्वालाप्र० जी के सिद्धान्त को ? । १२६ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि शूद्र को न धर्म का अधिकार न धर्म का निषेध है। अर्थात् साधारणतया अयोग्यता के कारण जिन २ धर्मकार्यों को वह नहीं कर सकता उन्हीं का अधिकार नहीं परन्तु जिन २ धर्मकार्यों की योग्यता उस में होती जावे उन २ को करता जावे क्योंकि धर्मकार्य का निषेध भी नहीं है। १२७ और १२८ वें श्लोकों में इसी को और भी स्पष्ट किया है कि धर्मज्ञ शूद्र, जैसे २ सदाचार (धर्म) को करता है वैसे २ इस लोक और परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। हम पं० ज्वालाप्र० जी से पूछते हैं कि परलोक की उत्कृष्टता तो आप कहेंगे कि स्वर्ग प्राप्त होता है देवयोनि प्राप्त होती है परन्तु इस लोक की उत्कृष्टता इस के अतिरिक्त क्या है कि शूद्र, शूद्र न रहे। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शूद्र अयोग्यता के कारण धर्माधिकारी नहीं होता परन्तु जैसे २ योग्यता बढ़ाता जावे वैसे २ अधिकारी होता जावे और अपने से उत्कृष्ट (वर्ण) पद को प्राप्त होता जावे इस में कोई धर्मशास्त्र का निषेध (रोक टोक) नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५ पं० २६ अब वेद मन्त्र का अर्थ सुनिये (यथेमां) इस से पूर्व यह मन्त्र है:-

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायुश्चान्त-
रिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते
मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सन्नमतामदः
सप्तसꣳसदो अष्टमीभूतसाधनी सकामां २ ॥ अध्वनस्कुरु
संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥

यजु॰२६ । १ ॥ अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौः, आपः-वरुण

ये ८ दो दो परस्पर सम्बद्ध हैं । वे मेरे काम को वश करो तथा हे परमात्मन् पञ्चज्ञानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी आप का आयतन हैं तात्पर्य यह है कि इसी आठवीं वाणी की अनुवृत्ति (यथेमां०) मन्त्र में आती है इस लिये इस मन्त्र में उस वाणी का वर्णन है जो यज्ञ के अन्त में यजमान (दीयताम्=दीजिये । भुज्यताम्=खाइये) बोलता है । वेदवाणी का प्रकरण नहीं । यह द० ति० भा० का आशय है ॥

प्रत्युत्तर-आप इस मन्त्र में वाणी का प्रयोक्ता यजमान को बताते हैं परन्तु आप के माननीय महीधर अपने भाष्य में इस ऋचा को ब्राह्मी गायत्री लिखते हैं जिस का तात्पर्य यह है कि इस ऋचा का ब्रह्म वा ब्रह्मा देवता और गायत्री छन्द है । तब बताइये कि आप का लेख महीधर के विरुद्ध कैसे माना जावे । नहीं २ आप का लेख तो अपना कुछ है ही नहीं किन्तु आप ने तो महीधर से ही लिया है महीधर को भी यह न सूझा कि प्रथम मन्त्र के आरम्भ में तो इस द्वितीय मन्त्र को गायत्री ब्राह्मी लिखा फिर टीका करते समय एक अर्थ में स्मरण रक्खा द्वितीय में भूल गये । इस से पूर्व मन्त्र का अर्थ महीधर ने प्रथम इस प्रकार लिखा है:-

परमात्मानं प्रत्युच्यते । हे स्वामिन् ! यस्य तव सप्तसंसदनानि अधिष्ठानानि अग्निवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुवरुणाख्यानि तत्राष्टमी भूतसाधनी पृथ्वी भूतानि साधयति उत्पादयति भूतसाधनी भूमिं विना भूतोत्पत्तेरभावात्० इत्यादि ॥

अर्थ-परमात्मा के प्रति कहा जाता है कि हे स्वामिन् ! जिस आप के ७ अधिष्ठान १ अग्नि, २वायु, ३अन्तरिक्ष, ४आदित्य, ५द्युलोक, ६जल, ७वरुण हैं । उन में ८ वीं पृथ्वी है जो कि भूतसाधनी है क्योंकि भूमि के विना भूतोत्पत्ति असम्भव है इस कारण पृथ्वी को भूतसाधनी कहा ॥

आगे चलकर महीधर ने दूसरा अर्थ किया कि:-

विज्ञानात्मा वोच्यते । यस्य तव सप्त संसदः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तायतनानि अष्टमी भूतसाधनी भूतानिसाधयति वशीकरोति भूतसाधनी वाक्० इत्यादि ॥

अर्थ-अथवा विज्ञानात्मा के प्रति कहा जाता है कि जिस आप के ७

आयतन हैं ५ ज्ञानेन्द्रियां ६ मन ७ बुद्धि । इन में ८वीं वाणी है जो भूतमा-यनी अर्थात् भूतों को वश में करने वाली है ॥

अब विचार करना चाहिये कि मूल मन्त्र "अग्निश्च पृथिवी च" इत्यादि में अग्नि आदि ७ अधिष्ठानों के नाम और ८ वीं पृथ्वी का नाम स्पष्ट आया है फिर खैंचतान करके भी ५ ज्ञानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी यह अर्थ कैसे हो सकता है और महीधर ने ज्ञानेन्द्रियादि अर्थ किया तो उसे योग्य था कि अग्नि आदि ८ पदों से जो मन्त्र में आये हैं अपने अभीष्ट अर्थों को व्याकरण निरुक्त आदि किसी प्रमाण से सिद्ध करता और महीधर ने नहीं किया तो उस को मानने और उस के सहारे से अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले पं० ज्वाला प्र० जी को वह अर्थ किसी प्रकार सिद्ध करना था ऐसा न करके केवल अप्रामाणिक लेखमात्र से ७ ज्ञानेन्द्रियादि और ८ वीं वाणी अर्थ लेना सर्वथा असंगत है । हम कोई दूसरा अर्थ भी नहीं करते किन्तु महीधर ने जो प्रथम एक अर्थ मूलमन्त्र के अक्षरानुकूल किया है उसी के ऊपर पं० ज्वालाप्र० जी तथा पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि वहां वाणी का वर्णन नहीं, फिर उसी वाणी की अनुवृत्ति से जो (यथेमां वाचम्०) इस अगले मन्त्र में वेदवाणी का ग्रहण नहीं करते सो ठीक नहीं हैं । और पूर्वमन्त्र में यदि मनघडन्त अर्थ में से वाणी की अनुवृत्ति लाई भी जावे तो सामान्य करके विज्ञानात्मा की सामान्य वाणी का ग्रहण होगा परन्तु यजमान की दीयताम् भुज्यताम् आदि वाणी का अर्थ करना तो महीधरकल्पित द्वितीय अर्थ से भी असंगत है ॥

हमारे पक्ष में दोनों मन्त्रों की सङ्गति इस प्रकार हो जाती है कि पूर्व मन्त्र में अग्नि वायु पृथिवी आदि शारीरिक उपकार करने वाले ८ पदार्थों का वर्णन करके अगले मन्त्र में कृपालु परमात्मा ने आत्मिक उपकारार्थ वेदका वर्णन करके आत्मा के उपकार का मार्ग बताया और कहा कि मैंने तुम को यह कल्याणी वाणी दी है, तुम ब्राह्मण क्षत्रियादि सब लोगों को इस का उपदेश करो यह ज्ञान की दक्षिणा है इस दक्षिणा का दाता देवों का प्रिय होता है इत्यादि ॥

यहां तक हमने इन के और महीधर के द्वितीय अर्थ की असङ्गति तथा स्वामी जी कृत अर्थ की सङ्गति दिखायी अब जो तर्क इन्हों ने स्वामी जी के अर्थ पर किये हैं उन का प्रत्युत्तर देते हैं ॥

१–यदि वेद "वाणी" है तो उस के वक्ता का शरीर भी होगा और अग्नि

वायु आदित्य अङ्गिरा के हृदय में वेद का प्रादुर्भाव मानना भी न बनेगा और शूद्र को वेद के पठन पाठन का अधिकार मानना अशुचि में शुचि बुद्धि रूप अविद्या है ॥

प्रत्युत्तर-वेद को वाणी शब्द से व्यवहार करना, भाविनी संज्ञा को लेकर है अर्थात् परमात्मा जानते हैं कि हमारे उपदेश किये मन्त्रों को ऋषि लोग वाणी द्वारा संसार में फैलायेंगे तब यह उपदेश वेदवाणी कहलाय गा। भाविनी संज्ञा इस को कहते हैं जैसे कोई पुरुष भींत चिनते समय आरम्भ की ईंट रखता हो और उस से कोई पूंछे कि क्या करते हो तौ वह भाविनी= आगे होने वाली संज्ञा का प्रयोग करके कहता है कि भींत चिनता हूं तौ यद्यपि उस को "इष्टका चीयते" कहना था परन्तु "भित्तिश्चीयते" कहता है। इसी प्रकार तार पूरने वाला कहता है कि कपड़ा बुनता हूं क्योंकि तार पूरने से कपड़ा बन जायगा और ईंट चिनने से भींत बन जायगी। इसी प्रकार परमात्मा भी यह जानते हुवे कहते हैं कि ऋषियों के हृदय में उपदेश करने से उन की वाणी द्वारा प्रचार होगा, इस लिये शरीर को शङ्का करना व्यर्थ है। सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्० यजुः ४०। ८ इत्यादि अनेकशः प्रमाण इस विषय के हैं कि परमात्मा अकाय=शरीर रहित है। शूद्र को अध्ययन करना अशुचि को शुचि मानना नहीं किन्तु अज्ञानी अशुचि जीव को पवित्र वेदोपदेश के द्वारा शुचि करना है ॥

२-स्वामी जी ब्राह्मणादि वर्णों को गुणकर्मस्वभावानुसार मानते हैं तौ इस मन्त्र में आये हुए ब्राह्मणादि पद जातिपरक हैं वा गुणकर्मस्वभाव परक? यदि जातिपरक हैं तौ तुम्हारी सिद्धान्तहानि है और गुणकर्मस्वभाव परक हैं तौ उपदेश करना व्यर्थ है?

प्रत्युत्तर-इस मन्त्र में आये ब्राह्मणादि पद गुणकर्मस्वभावानुकूल वर्णों के सन्तानपरक हैं और पिछली तथा होने वाली संज्ञापरक हैं। और हम भी तौ आप से पूंछेंगे कि ब्राह्मणादि पद केवल जन्मपरक हैं वा गुणकर्मस्वभावानुगत जन्मपरक हैं। यदि केवल जन्मपरक हैं तौ ईसाई मुसल्मानादि मतों में गये हुए जन्म के ब्राह्मणों को भी ब्राह्मणत्व प्राप्त है। यदि गुणकर्म स्वभाव और जन्म सब मिला कर ब्राह्मणादि पद का वाच्य कोई पुरुष होता है तौ आप के मत में भी वही शङ्का रहेगी कि उपनयनादि संस्कारों के समय वेदोपदेश के पूर्व विना गुणकर्मस्वभाव के आप भी ब्राह्मणादि पदों

का व्यवहार कैसे करेंगे ? केवल भाविनी संज्ञा वा माता पिता की संज्ञा से। इसलिये जो उत्तर आप का होगा वही यहां हमारा भी जानिये ॥

३-यह यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का मन्त्र है इस से पूर्व भी वेद है और आगे भी। इस प्रकार का उपदेश आदि वा अन्त में चाहिये था मध्य में नहीं। क्यों "इमाम्" =इस वाणी को-ऐसा निर्देश समीपस्थ में होता है दूरस्थ में नहीं ॥

प्रत्युत्तर-"इमाम्" का अर्थ यह है कि "इमामुक्तांवक्ष्यमाणां च" अर्थात् यह वाणी जो पूर्व कही और आगे कहेंगे। इस मन्त्र से पूर्व और पश्चात् जो वेद और उन के मन्त्र हैं वे समीपस्थ तौ हैं ही आप दूरस्थ कैसे समझते हैं। जब कि इस दूसरे मन्त्र से प्रथम का मन्त्र पूर्व समीप है और तीसरा मन्त्र आगामी समीप है तौ दूर कहां हुवा ? यदि कहो कि अन्य मन्त्र तौ दूर रहे तौ ४ वेदों के आदि वा अन्त में कहने पर भी समस्त वेद समीप न रहता किन्तु सन्निहित मन्त्र और उस के पद और प्रथमाक्षर वा अन्तिमाक्षर के बीच में आते ही अन्य सब वेद दूर हो जाता। धन्य आप की दूर समीप का अर्थ समझने वाली बुद्धि को! जब आप मार्ग में चलते हुवे कहते हैं कि अमुक नगर यहां से समीप है तौ उस नगर के द्वारस्थ गृह को छोड़ अन्य घर दूर रहेंगे और उस एक गृह का नाम नगर नहीं हो सक्ता तौ भला बुद्धि से शोचें तो सही कि नगर के समीपत्व की विवक्षा थी वा नगर के एक देश गृह वा उस की सब से उरली भींत वा सब से समीप भींत के पलास्टर की ?। इस प्रकार २६ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र से पूर्व और पश्चात् आये और आने वाले समस्त वेद की विवक्षा है वा समीप कहने से केवल वेद के आदिस्थ वा अन्तस्थ अक्षरमात्र की ? धन्य !

४-अरण शब्द से स्वामी जी ने अतिशूद्र लिया है उस को तौ वेदोपदेश सर्वथा निष्फल है। जैसे ऊषर में बीज बोना ॥

प्रत्युत्तर-ऊषर में बीज बोया हुवा उपजना असम्भव है परन्तु अतिशूद्र का उपदेश करने से कुछ न कुछ समझना सम्भव है इसलिये ऊषरभूमि का दृष्टान्त असङ्गत है ॥

द० ति० भा० ३१ नं० १८:—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। गोपाय मा शेवधिष्टे०

इत्यादि निरुक्त लिख कर शङ्का की है कि इस से नीच कुटिल शूद्रों को कदापि विद्या नहीं देनी। स्वामी जी इस निरुक्तस्थ ऋग्वेदमन्त्र को गड़ाप कर गये इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो इस निरुक्त में विद्या का लेख है वेद का लेख नहीं और यदि विद्या शब्द से वेद का ही ग्रहण करो तो शूद्र का नाम तक यहां नहीं आया फिर शूद्र को वेदानधिकार कैसे सिद्ध होगया, कुछ भी नहीं। निरुक्त अ० २ खं० ४ का पाठ और अर्थ यह है:—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

(विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम) विद्या विद्वान् के पास आई [और बोली कि] (गोपाय मा) मेरी रक्षा कर (अहंते शेवधिरस्मि) तेरा निधि मैं (खज़ाना) हूं (असूयकाय) चुगलखोर (अनृजवे) कुटिल और (अयताय) जो यती नहीं उस को (न मा ब्रूयाः) मेरा उपदेश मत कर (वीर्यवती तथास्याम्) इस में मैं वीर्यवती होऊं॥ एक तो पं० ज्वालाप्र० जी ने इस को पा० २ पते से लिखा है। निरुक्त में अध्याय और खण्ड हैं, पाद नहीं हैं। यदि पाद शब्द खण्ड की जगह भूल से लिखा गया तो दूसरे खण्ड में भी यह पाठ नहीं किन्तु चतुर्थ खण्ड में है। दूसरी बात यह है कि आपने "शेवधि" का अर्थ "सुखनिधान" किया है परन्तु निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि "निधिः शेवधिरिति" शेवधि का अर्थ निधि=खज़ाना है॥ तीसरी बात यह है कि यहां कुटिल, अजितेन्द्रिय, चुगलख़ोर को विद्यादान का निषेध है परन्तु शूद्र का कुटिलत्वादि दोषयुक्त होना आवश्यक नहीं न यहां शूद्र पद आया है। यदि किसी ब्राह्मण के सन्तान में भी कुटिलत्वादि दुर्गुण हों तो उस दुष्ट को शिक्षा न करे यह तात्पर्य है॥ तात्पर्य ही नहीं किन्तु अगले निरुक्त में स्पष्ट विप्र शब्द आया है। यथाः—

आध्यापिता ये गुरुंनाद्रियन्ते विप्रावाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैवतेनगुरोर्भोजनीयास्तथैवतान्नभुनक्तिश्रुतंतत्॥ नि०२।४

जो पढ़ाये हुवे विप्र, मन वचन कर्म से गुरु का आदर नहीं करते जैसे वे गुरु के भोजनीय नहीं वैसे उन का पढ़ा हुवा सफल नहीं। इस से स्पष्ट है कि कुटिल शिष्यों की निन्दा का प्रकरण है वर्ण वा जाति निन्दा का प्रकरण ही नहीं। पूर्व पृ० ४६ में मनु के श्लोक में सदाचारी कौटिल्यरहित शूद्र को

उच्चपदप्राप्ति लिख चुके हैं, कुटिल को नहीं। यहां तक शूद्रानधिकारखण्डन हुआ अब स्त्री के अनधिकार का खण्डन सुनिये-

द० ति० भा० पृष्ठ ३७ पं० ३१ में "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" का अन्वय उलटकर लगाया है कि "ब्रह्मचर्येण युवानं पतिं कन्या विन्दते" ब्रह्मचर्य से जवान हुये पति को कन्या प्राप्त होवे। तात्पर्य यह है कि पति का ब्रह्मचर्य हो, कन्या का नहीं॥

प्रत्युत्तर-आप ही के किये अन्वय से भी दो बातें तो सिद्ध हो गई १-विवाह में पति की युवावस्था होना। सम्प्रति प्रचलित ८। १० वर्ष के बालकों का विवाह आप के लेख से भी विरुद्ध है। २- यहां सामान्य उपदेश है कि कन्यामात्र युवा ब्रह्मचर्ययुक्त पति से विवाह करें तो यहां ब्राह्मणी आदि द्विज कन्या का वर्णन नहीं किन्तु सभी कन्याओं का है तो शूद्र कन्या भी ब्रह्मचर्य से युवा होते हुये पति से विवाह करे और शूद्रा कन्या का शूद्र पति से विवाह होगा तो इस विधि से ब्रह्मचर्य्ययुक्त सामान्य करके सब ही कन्याओं के पति होने चाहियें। और जब तक वेदादि शास्त्र से कोई प्रमाण स्त्री के अनधिकार का न दिखलावो तब तक अन्वय में ऐसी खेंच तान भी ठीक नहीं। आपने स्त्री के अनधिकार में नाम मात्र को उलटे सीधे अर्थ करके भी कोई वेदमन्त्र नहीं लिखा। लिखते कहां से है ही नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३७ पं० ३२ से पृ० ३८ पं० ६ तक "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" की सङ्गति की है कि इस मन्त्र के विवाह में बोलने का विधान है पढ़ने का नहीं॥

प्रत्युत्तर-आप को यह भी ख़बर है कि पत्नी शब्द का अर्थ क्या है? "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"। अष्टाध्यायी ४। १। ३३ से पत्नी शब्द यज्ञसंयोग में सिद्ध है अर्थात् यज्ञ में यजमान की स्त्री पत्नी कहाती है। कन्या के विवाह में उस विवाह रूप यज्ञ का यजमान कौन होता है? कन्या का पिता आदि। फिर उस की स्त्री कौन हुई? कन्या की माता आदि। तो भला अन्धाधुन्ध कैसे चलेगी कि "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" का तात्पर्य विवाहपरक है। और आप की विवाहपद्धति में कहीं लिखा है? कि "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" कहीं नहीं। विवाहपद्धतियों में कन्या वा वधू शब्द का व्यवहार है पत्नी शब्द का नहीं क्योंकि विवाह संस्कार में जिस कन्या का विवाह है वह यजमान की पत्नी नहीं किन्तु यजमान की कन्या है। यह अन्धेर कैसे चल सक्ता है॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवागुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया । मनुः ॥

इस का अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है किन्तु (स्त्रीणां वैवाहिको विधिः, पति सेवा, गुरौवासः गृहार्थः, अग्निपरिक्रिया वैदिकः संस्कारः स्मृतः) स्त्रियों को इतनी बातें वैदिक हैं । वैवाहिक विधि, पतिसेवा, गुरुकुलवास, गृहस्थाश्रम और अग्निहोत्र करना ॥ तौ भला अब अग्निहोत्रादि यज्ञ, यज्ञ में यजमानपत्नी होकर मन्त्रपाठ, गुरुकुलवास, ये सब बातें स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार सूचित करती हैं वा अनधिकार ?

उ० अधिकार ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० ८ में

योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः । मनुः ॥

जो ब्राह्मण वेद न पढ़े और अन्यत्र परिश्रम करे वह वंशसहित जीते हुए ही शूद्रत्व को प्राप्त होता है । जो ब्राह्मण वेद न पढ़े वह शूद्र तुल्य हो जावे परन्तु शूद्र भी वेद पढ़े तौ न पढ़ने वाले ब्राह्मण को शूद्र तुल्य कहना व्यर्थ होजावे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस से शूद्र को अनधिकार तौ सूचित नहीं होता किन्तु वेद न पढ़ने वाले ब्राह्मण को जीते ही अर्थात् इसी जन्म में शूद्रत्व लिखा जिस से यह सिद्ध होगया कि जो ब्राह्मण वेद हीन हो जाता है तौ इसी जन्म में शूद्र होजाता है अर्थात् वर्ण बदल जाता है । शूद्र को अधिकार रहने से जब शूद्र वेद पढ़ कर तदनुकूल द्विजों के गुणकर्मस्वभावयुक्त होजाता है तब शूद्र नहीं रहता, द्विज होजाता है । जैसे वेद न पढ़ा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० १७–२० ईश्वर में शूद्र को अनधिकारी करने से पक्षपात नहीं आता जैसे सब को कर्मानुसार धन सन्तानादि देने न देने से पक्षपात नहीं किन्तु न्याय है वैसे ही शूद्र में समझो ॥

प्रत्युत्तर—धन सन्तानादि में भी चाहे कर्मानुसार प्राप्त न हो परन्तु किसी को धनोपार्जन वा सन्तानोत्पादन का अनधिकारी नहीं किया किन्तु धनोपार्जन और सन्तानोत्पादनार्थ प्रयत्न करने का सब को अधिकार है । प्रयत्न का सफल निष्फल होना कर्माधीन है । वैसे ही आप के दृष्टान्त से भी मानो

शूद्र को वेदाध्ययन में प्रयत्नवान् होने का तौ धनोपार्जनादि प्रयत्न के सदृश अधिकार ही है किन्तु अध्ययन करने पर भी विद्वान् होना न होना शूद्र वा ब्राह्मण कोई हो सब को श्रम और प्रारब्धकर्मादि के आधीन है ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० २२

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ मनुः ॥

इस श्लोक में द्विजः पद से ब्रह्मचारी पुरुष का ग्रहण है ब्रह्मचारिणी कन्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर–द्विजः पुल्लिङ्गनिर्देश से यदि पुरुष ही का ग्रहण है तौ मनुष्य शब्द के पुल्लिङ्ग होने से मनुष्य पद में भी स्त्रीजाति का ग्रहण न होना चाहिये । धर्मशास्त्रों में जितने काम करने न करने को सामान्य निर्देश से विधिवाक्य वा निषेधवाक्य लिखे हैं उन के करने न करने, मानने न मानने वाली स्त्री को कोई दोष ही नहीं ? अपराधियों के दण्ड विधानसंग्रह में पुरुष निर्देश है तौ उस प्रकार के अपराध करने वाली स्त्रियां सब छूट जानी चाहियें ? धन्य! पक्षपात!! जब स्त्रियों के अनधिकार का कोई वाक्य न मिला तौ यह खेंच तान ! ! !

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० ३० कन्या को वेद न पढ़ना यह पूर्व ही लिख चुके हैं इति ॥

प्रत्युत्तर–पूर्व क्या! आप चाहे बात २ में इस वचन को "तकियाकलाम" बनालें आप को अधिकार है परन्तु स्त्रियों के वेदाध्ययनानधिकार में आप को एक भी श्रुति स्मृति का वाक्य न मिला न लिखा । सत्यार्थप्र० से ही बनावटी श्रुति–

स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्

ले ली होती । कोई यह तौ जानता कि श्रुति के प्रमाण से सिद्ध किया है । अन्य प्रसङ्गों में तौ ख़ैर आपने उलटे सीधे अर्थ करके एक आध वाक्य लिख ही मारा है परन्तु स्त्रियों के अनधिकार विषय में तौ वह भी न बन पड़ा, अस्तु ख़ूब मुंह की खाई ॥

अथ सृष्टिक्रमप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३९ के आरम्भ से पृ० ४० पं० २८ तक का आशय यह

है कि स्वामीजी ने जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातों को असम्भव मानकर त्याज्य बताया है सो ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा की विभूति का अन्त कोई नहीं जान सक्ता जब नहीं जान सक्ता तो उस की सृष्टि का क्रम किसी को कैसे विदित होसक्ता है उस की सृष्टि में सब कुछ है और होसक्ता है। स्वामीजी जिस बात को अपनी बुद्धि से नहीं समझ सके उसी को सृष्टिक्रम के विरुद्ध कह देते हैं। यदि माता पिता संयोग बिना पुत्रोत्पत्ति असम्भव और सृष्टिक्रम विरुद्ध है तो "तस्मादश्वाअजायन्त०" वेद में लिखा है कि उस परमात्मा ने घोड़े भेड़ बकरी आदि उत्पन्न किये। फिर यह भेड़ बकरी आदि बिना माता पिता हुवे? वा ईश्वर की लुगाई मानोंगे? रामायण महाभारतादि में मृतक जिवाना, पर्वत उठाना आदि लिखा है आप रामायण भारतादि को मानते हैं। इस लिये जो असमर्थ को असम्भव है वह समर्थ को सम्भव है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—निस्सन्देह परमात्मा अनन्त और उस की समस्त सृष्टि का क्रम मनुष्य को अविज्ञेय है परन्तु इस से आप सम्भव असम्भव की व्यवस्था का लोप न कीजिये। स्वामीजी ने उतनी ही बातों को असम्भव लिखा है जो रात्रि दिन एक क्रम से हमारे आप के देखने में आती हैं। परमात्मा की वह सृष्टि जहां तक हमारा ज्ञान नहीं पहुंचा चाहे कैसी ही हो परन्तु तथापि जानी हुई बातों में कोई क्रम अवश्य है। यदि क्रम न हो तो गेहूं बोने वाले कृषक को यह विश्वास न होना चाहिये कि इस के फल गेहूं ही होंगे कदाचित् चणे आदि हो जावें। और परमात्मा की अमैथुनी सृष्टि को आप मानुषी मैथुनी आदि सृष्टियों से मिलाकर दोष देते हैं यह बेसमझी है। सृष्टिक्रम सृष्टि के लिये है वैसे परमात्मा का क्रम परमात्मा के लिये है। जैसे सृष्टि के मनुष्यादि प्राणी अपने २ गुण कर्म स्वभाव सामर्थ्य नियम के विरुद्ध नहीं करते वैसे ही परमामात्मा भी अपने पवित्र गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। यदि करता है तो क्या परमात्मा कभी पाप करता है? झूंठ बोलता है? मरता है? नहीं, नहीं। इस लिये परमात्मा का भी क्रम है। और सृष्टि का भी क्रम है रामायण महाभारत को स्वामीजी ने माना यह लिखना झूंठ है। देखो सत्यार्थप्र० पृ० ६८ पं० २५ में "मनुस्मृति वाल्मीकि रामायण महाभारत के उद्योग पर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे २ प्रकरण पढ़ावें" इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के अच्छे २ प्रकरण पढ़ाये जावें बुरे २ नहीं महाभारत के आदि पर्व में लिखा है:—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

व्यासजी ने २४००० श्लोकों में भारत संहिता बनाई। वर्तमान समय में १००००० एक लक्ष से अधिक श्लोक महाभारत में हैं वे सब व्यासरचित नहीं हैं यही दशा रामायणादि की है। दूसरी बात यह है कि रामायण भारत भागवतादि में लिखी सृष्टिक्रम विरुद्ध असम्भव बातें तो साध्य पक्ष में हैं। जिन को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना आप का काम था। आप ने "साध्य" ही को प्रमाण में धर दिया। न्याय शास्त्र में "साध्यसम" हेतु भी हेत्वाभास=मिथ्या हेतु माना है तो आप तो साक्षात् साध्य ही को हेतुरूप से प्रमाणकोटि में धरते हैं। असमर्थ मनुष्य को इतना समर्थ मानना कि अङ्गुलि पर पर्वत उठाया यही तो असम्भव है। और उन मनुष्यों को ईश्वर मानना साध्य है, सिद्ध नहीं। इस लिये सृष्टिक्रम का न मानना न्यायशास्त्र के ८ प्रमाणों में ७ वें सम्भव प्रमाण को अपने हठ से न मानना है और सृष्टिक्रम ईश्वरक्रम सब ठीक है और उस के विरुद्ध बातों का मानना मूर्खता है॥

अथ पठनपाठनप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ४१ पं० १६ से " स्वामीजी ऋषियों को पूर्ण विद्वान् लिख कर भी उन के ग्रन्थों में वेदानुकूल मानना अन्य न मानना लिखते हैं इस लिये वे नास्तिक हैं क्योंकि वे ऋषिप्रणीत आप्तोक्त ग्रन्थों का अपमान करते हैं। मनु में लिखा है कि:-

योवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः॥

जो वेद और शास्त्रों का अपमान करे वह वेदनिन्दक नास्तिक जाति पङ्क्ति और देश से बाहर किया जावे॥

प्रत्युत्तर-पूर्ण विद्वान् ऋषि थे इस का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वे, वेदप्रणेता परमात्मा से अधिक थे किन्तु मनुष्यों में वे पूर्ण विद्वान् थे। उन के वेदविरुद्ध वचन को (यदि उन के ग्रन्थों में उन का वा उन के नाम से अन्य किसी का कोई वचन वेद विरुद्ध जान पड़े) न मानना उन का अपमान नहीं किन्तु मान्य है क्योंकि मनु आदि ऋषि लिख गये हैं कि वेदबाह्य स्मृति माननीय नहीं। यथाः-

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। इत्यादि

और जो वेद शास्त्र का अपमान करे वह बाहर किया जावे। यह वचन स्वामी जी पर नहीं किन्तु आप पर घटता है क्योंकि स्वामीजी तो यह कहते हैं कि "वेदविरुद्धस्मृतिवाक्य नहीं मानना" इस से वे वेद का मान्य करते हैं और आप उन के विरुद्ध मानो यह कहते हैं कि वेदविरुद्ध भी स्मृतिवाक्य मानना। वेद का अपमान साक्षात् ही आप करते हैं और ऋषियों का भी अपमान इस लिये करते हैं कि ऋषि लोग वेदबाह्य स्मृतियों को नहीं मानते और आप मानते हैं। इस प्रकार आप, परमात्मा और ऋषि दोनों का अपमान करते हैं। कहिये अब आप को कहां भेजा जावे॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० ४ से–यदि वेदानुकूल ही मानना अन्य न मानना तो पशुयज्ञादि की विधि कौन २ मन्त्र के अनुकूल है?। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर–प्रथम तो हम यह नहीं कहते कि हम मन्त्रों में साक्षात् ही सब विधि दिखला सकते हैं किन्तु हमारा सिद्धान्त तो जैमिनीय मीमांसा के:-

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।
मी० अ० १ पा० ३ सू० ३

के अनुसार यह है कि शब्दप्रमाण के साक्षात् विरुद्ध बातें न मानी जावें परन्तु विरोध भी न हो और साक्षात् विधिवाक्य भी न मिले तो अनुमान करना चाहिये कि यह विधि किसी प्रकार किन्हीं ऋषियों ने वेद में साक्षात् वा ध्वनि आदि से देखा ही होगा। तथापि उद्गाता आदि का विधान नीचे लिखे मन्त्र में मूलरूप पाया जाता है:–

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥ ऋ० मं० १० अष्टक ८ अध्याय २ मं० अन्तिम॥

अन्वितव्याख्यानम्—[त्वशब्दः सर्वनामसु पठित एकशब्दपर्यायः] एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते) स्वकर्माधिकृतस्सन् यत्र तत्र पठिता ऋचो यथाविनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति) एक उद्गाता शक्वर्युपलक्षितासुच्छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रं गायत्रादिनामकं साम गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा, अपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपां विद्यां वदति (त्वो यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्ता विमिमीते विशिष्टतया परिच्छिनत्ति॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं को विनियोगानुसार सङ्घटित करता है, एक

उद्गाता ऋक्यादिच्छन्दोयुक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ अपराध वा भूल चूक होने पर उसका प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु यज्ञ के परिणाम वा इयत्ता को निर्धारित करता है ॥

द०ति०भा० पृ० ४२ पं० ११ से जब आप ब्राह्मण, निघण्टु, निरुक्तादि की सहायता से वेदार्थ करते हैं तो ब्राह्मणादि स्वतःप्रमाण क्यों नहीं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–यह बात नहीं है कि निरुक्तादि की सहायता बिना वेदार्थ हो ही न सके । जब तक निरुक्तादि ग्रन्थ नहीं बने थे तब भी वेद और उन का अर्थ था ही किन्तु निरुक्तादि के प्रमाण इस लिये दिये जाते हैं कि जो वेद का अर्थ हम करते हैं उस प्रकार अन्य भी अमुक २ ऋषि लिखते हैं जिस से हमारे उसके अर्थ की पुष्टि होती जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० १८ इन ग्रन्थों में अंश भी वेदविरुद्ध नहीं है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–सत्यार्थप्र० में भी यह तो नहीं लिखा कि निरुक्तादि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में वेदविरुद्ध है ही है किन्तु यह लिखा है कि यदि इन में वेदविरुद्ध हो तो त्याज्य है नहीं तो नहीं । अर्थात् ऋषि यद्यपि पूर्ण विद्वान् थे, उन के ग्रन्थों में पुराणप्रणेताओं के से गप्प नहीं हैं, यावच्छक्य ऋषियों ने वेदानुकूल ही लिखा है परन्तु तो भी निदान ऋषि लोग सर्वज्ञ परब्रह्म न थे अतः एव यदि कहीं किसी आर्षग्रन्थ में वेदसंहिता के विरुद्ध कुछ वचन पाये जावें तो वहां वेद माना जावे अन्यग्रन्थ नहीं । और यह बात कुछ स्वामीजी ने ही नहीं लिखी किन्तु जैमिनि जी भी मीमांसा शास्त्र में लिखगये हैं कि–

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ।१।३।३॥

विरोध हो तो त्याज्य है और विरोध न हो तो अनुमान करे कि अनुकूल है । यदि वेद से विरुद्ध कोई बात भी इतर ग्रन्थों में न होती तो जैमिनि जी ऐसा क्यों लिखते । आप स्वामी दयानन्द स०जी के लेख को न मानियेगा तो जैमिनीय मीमांसा को तो मानियेगा ? फिर आप का यह लेख कैसे सत्य हो सक्ता है कि इन ग्रन्थों में अंश भी वेदविरुद्ध नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० १९ में (मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्) मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद कहा जाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–यह आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा है। पारिभाषिक शब्दों का जो अर्थ ग्रन्थकार नियत करते हैं वह सार्वत्रिक नहीं किन्तु उसी अधिकरण में

माना जाता है। जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में "अदेङ्गुणः" १। १। १७ लिखते हैं कि अ, ए, ओ, ये तीन गुण हैं तो व्याकरण ही में गुण शब्द से अ, ए, ओ का अर्थ लिया जायगा अन्यत्र नहीं। यदि साङ्ख्य शास्त्र में गुण शब्द आता है तो सत्त्व, रजः, तमः का अर्थ लिया जाता है। और वैशेषिक में रूप रस गन्धादि २४ गुण माने गये हैं। सो वे २ अपने २ ग्रन्थ में पारिभाषिक (इस्तलाही) शब्द हैं। यदि कोई व्याकरण में गुण से सत्त्व रजः तमः समझे तो अज्ञान है, वा सांख्य में गुण शब्द से अ, ए, ओ समझे तो मूर्खता है। इसी प्रकार यज्ञ के प्रकार वर्णन करते हुवे आपस्तम्ब के सूत्रों में जहां वेद शब्द आता है वहां ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है न कि सर्वत्र ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० २२ में लिखा है कि सत्यार्थप्र० पृ० ३० के लेखानुसार यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में भी वेदविरुद्ध अंश हैं तो वे भी विषसंपृक्तान्नवत्याज्याः) विषयुक्त अन्न के तुल्य त्याज्य हैं फिर ऋषिप्रणीत को पढ़ने योग्य क्यों मानते हो ॥

प्रत्युत्तर—पूर्वापर प्रसङ्ग देखिये सत्यार्थप्र० पृ० ३० में पुराणों के लिये विषयुक्त अन्न का दृष्टान्त है वह ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में नहीं घटता। पुराणों के कर्त्ताओं ने ईर्ष्या द्वेष आदि से असत्य बातों का ढेर कियाहै वह अवश्य विषतुल्य है जिस के सङ्ग से पुराणों का सत्य विषय भी विषयुक्तअन्न तुल्य हो गया है परन्तु ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें जो कुछ कहीं भूल भी हो वह ईर्ष्या द्वेषादि से नहीं किन्तु अल्पज्ञता से है इस लिये उसे विष नहीं कह सक्ते किन्तु वह ऐसा है जैसे किसी औषध में कुछ मिट्टी कङ्कर आदि मिल गया हो तो उसे छांट कर औषधमात्र ग्रहण करना योग्य होताहै इसी प्रकार ऋषिप्रणीत औषध रूप ग्रन्थ में अल्पज्ञता से आये मिट्टी कङ्कर आदि निकाल कर औषधोपम आर्षग्रन्थ पढ़ने चाहियें ॥

पुराणों का बिष—

सर्वन्तु समवेक्ष्येदन्निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष को उचित है कि सब बातों को ज्ञान की आंख से देखकर श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाण से पहले धर्म को स्वीकार करे ॥

तिलकों में विरोध–

पद्मपुराण में कहा है:–

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्य श्मशानसदृशं मुखम् ।
अवलोक्य मुखं तेषामादित्यमवलोकयेत् ॥
(तथा) ब्राह्मणः कुलजोविद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥

अर्थ—जो लंबा तिलक (वैष्णवी मार्ग का) धारण नहीं करता उस का मुंह श्मशान के तुल्य है अतएव देखने योग्य नहीं कदाचित् देख पड़े तो इस का प्रायश्चित्त करे अर्थात् तुरन्त सूर्य्य का दर्शन कर लेवे ॥ १ ॥ ब्राह्मण-कुलोत्पन्न जो विद्वान् होकर भस्म धारण करे उस को शराब के जूठे बासन की नाईं त्याग देवे ॥

अब देखिये इस के विरुद्ध शिवपुराण में क्या लिखा है:—

विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्षधारणम् ।
नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥

अर्थ–विभूति (भस्म) जिस के माथे पर नहीं और अङ्ग में रुद्राक्ष नहीं पहिने । मुंह से शिव २ ऐसा न कहे वह चाण्डाल की नाईं त्याज्य है ॥

इसी प्रकार पृथिवीचन्द्रोदय में भी वैष्णवों को लताड़ दी है:–

यस्तु सन्तप्तशङ्खादिलिङ्गचिन्हधरोनरः ।
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालोजन्मकोटिषु ॥

अर्थ–जो मनुष्य तपे हुए शङ्खादिकों के चिह्नों को धारण करता है वह सब नरकयातनाओं को भोगता है और कोटिजन्मपर्य्यन्त चाण्डाल होता है ॥

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट विदित होता है कि तिलक धारण करने के विषय में पुराणों में सर्वथा परस्पर विरोध है अर्थात् शैवसम्प्रदायी चक्राङ्कित सम्प्रदायियों के तिलक को बुरा कहते और वैष्णवसम्प्रदायी शैवादिसम्प्रदायियों के तिलक को भ्रष्ट बताते हैं इस से यह निश्चित हुवा कि यदि पुराणों को सत्य माना जाय तो सर्व प्रकार के तिलकधारी भ्रष्ट पतित और नरक के अधिकारी ठहरते हैं अतएव पुराण भ्रमजाल में फंसाने वाले हुए जैसा कि पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है:–

व्यामोहाय चराचरस्य जगतश्चैते पुराणागमास्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्ति कल्पावधि । सिद्धान्ते पुनरेकएव भगवान् विष्णुस्समस्तागमा व्यापारेषु विवेचनं व्यतिकरं निस्येषु निश्चीयते ।

अर्थात् जितने पुराण हैं सब मनुष्य को भ्रम में डालने वाले हैं उन में अनेक देव ठहराये गये हैं एक ईश्वर का निश्चय नहीं होता । केवल एक भगवान् विष्णु पूज्य हैं ॥

हे पौराणिक भक्तो ! जब सभी पुराण भ्रम में डालने वाले हैं जैसा कि ऊपर के वचन से स्पष्ट है तो तुम्हें भ्रम से बचाने वाला आर्यसमाज के अतिरिक्त और कौन है ॥

पुराणों में देवताओं की निन्दा

भागवत में लिखा हैः–

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः । पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥ मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ । नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

अर्थ–जो शिव के भक्त हैं और उन की सेवा करते हैं सो पाखण्डी और सच्चे शास्त्र के वैरी हैं इसलिये जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं सो भयानक वेष भूतों के स्वामी अर्थात् महादेव को छोड़ें और नारायण की शान्त कलाओं की पूजा करें ॥

अब पद्मपुराण में शिव की स्तुति में यह श्लोक कहे हैंः–

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते ।
शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ।
तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन ॥

अर्थ यह है कि–जब लोग विष्णु का दर्शन करते हैं तब महादेव क्रुद्ध होता है और उस के क्रोध से मनुष्य महानरक में जाते हैं इस कारण विष्णु का नाम कभी न लेना चाहिये ॥

उसी पुराण में ये श्लोक हैंः–

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समं सर्वैर्निरीक्षेत स पाषण्डी भवेत्सदा ॥
किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः ।
न स्पृष्टव्या न द्रष्टव्याः न वक्तव्याः कदाचन ।

अर्थ यह है–जो कहते हैं कि और देवता अर्थात् ब्रह्मा महादेव इत्यादि नारायण के समान हैं वो पाखण्डी हैं इन के विषय में हम और बात न कहावेंगे क्योंकि जो ब्राह्मण विष्णु को नहीं मानते उन को कभी न छूना न देखना और न उन से बोलना चाहिये ॥

फिर पद्मपुराण में विष्णु की स्तुतियों में यह श्लोक हैः–

येऽन्यं देवं परत्वेन वदन्त्यज्ञानमोहिताः ।
नारायणाज्जगन्नाथात् ते वै पाषण्डिनो नराः ॥

अर्थ यह है कि–जो लोग किसी दूसरे देवता को नारायण से जो जगत् का स्वामी है बड़ा करके मानते हैं सो अज्ञानी हैं और लोग उन को पाखण्डी कहते हैं ॥

फिर इसी पुराण में परस्पर विरोध देखो जैसेः–

एष देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः ।
न तस्मात्परमङ्किञ्चित् पदं समधिगम्यते

अर्थ यह है कि–महादेव को महान् ईश्वर जानना चाहिये और यह मत समझो कि उस से कोई बड़ा है । फिर इस से विरुद्ध देखोः–

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥

अर्थ यह है कि–विष्णु को छोड़ कर जो दूसरे देव को मानते हैं सो उस मूर्ख के समान हैं कि जो गङ्गा के तीर प्यासा बैठा कुआ खोदता है ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु श्री कृष्ण पराशर शिव चन्द्रमा बृहस्पति इन्द्र आदि महानुभाव जो कि प्राचीन काल में अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् राजा महाराजा हुए हैं और सत्यशास्त्रों में उन का बड़ा सत्कार किया गया है और जिन्हें ऋषि मुनि देवताओं की पदवियां दी गई हैं, पुराण उन की निन्दा करते और कोई ऐसा दूषण नहीं जो इन देवताओं पर नहीं लगाते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ४३ पं० १५ से कौमुदी की निन्दा करते थे परन्तु उन के मरणानन्तर बस्ते में निकली, भला व्याकरण में क्या मिथ्यापना है जो कौमुदी आदि को त्याज्य लिखा। काव्य न पढ़ें तो व्युत्पत्ति कैसे हो इन में क्या बुराई है। आप के " संस्कृतवाक्यप्रबोध " में सैंकड़ों अशुद्धि हैं जिस से बुद्धि भ्रष्ट होजावे। तर्कसंग्रह क्यों त्याज्य है, उस में वैशेषिक के विरुद्ध क्या बात है। मनु में भी प्रक्षिप्त है तो यह भी विषाक्त अन्नवत् क्यों न त्याग दिया जब भाषा के सब ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाशादि भाषा के ग्रन्थ कपोलकल्पित नहीं? यदि मुहूर्त्त मिथ्या हैं तो संस्कारविधि के पुण्य नक्षत्र उत्तरायणादि मिथ्या क्यों नहीं? और सुश्रुत सूत्रस्थान २ अ० में-

उपनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तेषु० इत्यादि॥

ब्राह्मण का उपनयन अच्छे तिथि करण मुहूर्त्त और नक्षत्र में करे इत्यादि, और शकुन भी सुश्रुत में लिखा है। सूत्रस्थान अ० १०-

ततो दूतनिमित्तशकुनं मङ्गलानुलोम्येन। इत्यादि।

अर्थात् वैद्य चिकित्सा को जावे तो शकुनादि अच्छे पड़ें तब रोगी को देखे छुवे और पूंछे। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-व्याकरणादि सभी विषयों के ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का पढ़ना इस लिये अच्छा है कि उन में अपने मुख्य विषय के वर्णन के साथ २ उदाहरणादि के मिष से उस समय के धर्म आचार व्यवहार आदि की भी चर्चा कुछ न कुछ आती ही है जिस से विद्यार्थी पर कुछ न कुछ प्रभाव ऋषियों के चाल-चलन का पड़ता ही है। इसी प्रकार कौमुदी आदि के पढ़ने से उस समय के सिद्धान्त विचार व्यवहारादि का भी विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव न पड़े इस लिये स्वामी जी ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रचारार्थ लिखा है। आधुनिक व्याकरण काव्यादि में श्रीकृष्णादि पर मिथ्यारोपित दूषणों का वर्णन है इस लिये उन से विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव पड़ेगा अतः त्याज्य लिखा है। संस्कृतवाक्यप्रबोध में छापे आदि की अशुद्धि हों वे पढ़ाने वाले शुद्ध करके पढ़ालेंगे परन्तु कोई ऋषिसिद्धान्तविरुद्ध बात तो नहीं जिस से विद्यार्थी का आचरण बिगड़े। तर्कसंग्रह में वैशेषिक से क्या विरुद्ध है यह तो आप को वैशेषिक पढ़ा होता तो ज्ञात होता-वैशेषिक में-

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानामित्यादि।

छः पदार्थ हैं। तर्कसंग्रह में इस के विरुद्ध-

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाःसप्तपदार्थाः०

इत्यादि में सात पदार्थ हैं। मनु में प्रक्षिप्त है परन्तु मनुस्मृति ऋषिप्रणीत तो है और बहुत न्यून जो कुछ मिलावट हुई है उसे वेद का सिद्धान्त जानने वाले सहज में जान सकते हैं। वह पुराणों के समान जानबूझ कर ग्रन्थ का ग्रन्थ ही तो अनार्ष नहीं। भाषाग्रन्थ मात्र को स्वामी जी ने त्याज्य नहीं लिखा, सत्यार्थप्र० खोलकर देखिये पृ० ७१ पं० २७ में यह लिखा है कि "रुक्मिणी-मङ्गलादि और सब भाषाग्रन्थ" इस लिखने से स्पष्ट विदित होता है कि रुक्मिणीमङ्गल के सदृश श्रीकृष्ण महाशय के शुद्ध चरित्रों को अश्लील अयुक्त रीति पर वर्णन करने वाले ही भाषाग्रन्थ त्याज्य हैं, न कि सत्यार्थप्रकाशादि उत्तम ग्रन्थ। मुहूर्त्तादि ग्रन्थों के मिथ्या लिखने का तात्पर्य यह है कि उन२ मुहूर्त्तों में लिखे फल मिथ्या हैं। यथार्थ में मुहूर्त्त समय विशेष को कहते हैं। शुभमुहूर्त्त में उपनयनादि लिखने वाले सुश्रुतादि ग्रन्थकारों का आशय यह है कि जिस मुहूर्त्त में अनुकूलता सब प्रकार से हो वह शुभमुहूर्त्त है न कि अनुकूलता तो १० बजे दिन को हो और ज्योतिषी जी कहते हैं कि ३॥ बजे रात्रि को मुहूर्त्त अच्छा है। उत्तरायण इस लिये अच्छा है कि वह दैवदिन है। क्योंकि एक वर्ष को दैवदिन मानने पर दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण दिन है। इसी प्रकार आर्षग्रन्थों की बातें निष्प्रयोजन नहीं हैं। शकुन का केवल इतना फल युक्त है कि जब किसी कार्य को मनुष्य चलता है तब यदि अच्छे पदार्थ सम्मुख हों तो चित्त को आल्हाद होने से उस कार्य में अधिक उत्साह होता और उस से कार्य अच्छा बनना सम्भव है। अन्य शकुनावलि आदि में लिखे ऊटपटांग शकुनों को मानना और समझना कि "शकुन के विरुद्ध कार्य हो ही नहीं सकता" मूर्खता है। क्योंकि केवल अशुभ शकुन से चित्त पर कुछ बुरा प्रभाव भी पड़े और दूसरी बातें सब अनुकूल हों तो शकुन कुछ नहीं कर सक्ता। तात्पर्य यह है कि ऋषियों की सम्मति के अनुसार शुभ अशुभ कार्यों को देखकर चित्त पर उस का कुछ न कुछ प्रभाव होता है यह ठीक है परन्तु जिस प्रकार प्रचरित ग्रन्थों में लिखे शकुनों के विरुद्ध लोग काम ही नहीं करते चाहे कैसी ही अन्य अनुकूलता हों, और चाहे जितनी प्रतिकूलता होने पर भी केवल शकुन के भरोसे जो लोग काम बिगाड़ते हैं यह मूर्खता है॥

अथ इतिहासपुराण प्रकरणम् ॥

द० ति० भा० पृ० ४५ पं० १ से लिखा है कि-शतपथादि का नाम पुराण नहीं-

मध्वाहुतयो वा ताएता देवानं यदनुशासनानि० । इत्यादि

शतपथ का पाठ लिखकर कहते हैं कि "आशय यह है कि विद्या वाक्य वाक्य इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी इन का पाठ अवश्य है जो इन को अध्ययन करते हैं देवता प्रसन्न होके उनके सब कार्य पूर्ण करते हैं,,

प्रत्युत्तर-कोई पूंछे कि प्रमाण तो आप को यह देना था कि भागवतादि का नाम पुराण है, शतपथादि का नहीं। आप यह लिखते हैं कि इन का पढ़ना अवश्य है। भला इन का पढ़ना अनावश्यक कौन बताता था। स्वामी जी ने तो यही लिखा है कि भागवतादि पुराण नहीं किन्तु नवीन हैं, शतपथादि पुराण हैं उन्हीं का पढ़ना आवश्यक है उन्हीं के पढ़ने से देवता प्रसन्न होते हैं। अच्छा उत्तर दिया ? कोई गावे शीतला, मैं जाऊं मसान।

फिर द० ति० भा० पृ० ४५ पं० १५ से-

सयथार्द्रैन्धाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवम्०

शत० का पाठ लिखकर पं० २० में लिखते हैं कि ऋग् यजुः साम अथर्व इतिहास पुराणादि उसी परमेश्वर के श्वास हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप यह तो ध्यान दें कि आपको सिद्ध क्या करना है और सिद्ध क्या करते हैं। मैं फिर स्मरण दिलाता हूं कि "भागवतादि पुराण हैं" यह आपका साध्य है। "शतपथादि पुराण हैं" यह स्वामी जी का साध्य है। अब न तो ईश्वर के श्वास होने से यह सिद्ध होता है कि भागवतादि का नाम पुराण है, न यह सिद्ध होता है कि शतपथादि को पुराण नहीं कहते, किन्तु आप के लेखानुसार इतना अवश्य निकलता है कि पुराण विद्या उपनिषद्, श्लोक सूत्र व्याख्यान अनुव्याख्यानादि सब ईश्वर का श्वास है। मैं यह पूंछता हूं कि यदि श्लोक ईश्वर के श्वास हैं तो क्या "त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड-धूर्त्तनिशाचराः" इत्यादि नास्तिकनिर्मित श्लोक भी ईश्वर के श्वास हैं ? इस पक्ष का अच्छे प्रकार खण्डन और इस शतपथ की कण्डिका का अर्थ सब मेरे बनाये "ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे द्वितीयोंऽशः" में लिखा है जिनको विशेष जिज्ञासा हो वहां देखलें ॥

द० ति० भा० पृ० ४६ पं० ११ में जो-"अरे अस्य महतोभूत०" और इस

का अर्थ लिखा है इसका उत्तर भी मेरे बनाये "ऋगादि-द्वितीयोंऽशः" में लिखा है ॥

द० ति० भा० पृ० ४६ पं० २४ में आश्वलायनसूत्र लिखा है-

अथ स्वाध्यायमाधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृताहुतिभिर्यदृचोधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा उपक्षरन्ति। यद्यजूंषिघृतस्यकुल्या, यत्सामानिमधवः कुल्या, यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्यकुल्या, ब्राह्मणानिकल्पान्गाथानाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृतस्यकुल्या, यथावन्मन्येततावदधीत्यैतयापरिदधाति। नमोब्रह्मणे, नमोस्त्वग्नये, नमःपृथिव्यै, नमओषधीभ्यो, नमोवाचे, नमोवाचस्पतये, नमोविष्णवेमहतेकरोमीति ॥

आशय यह है कि जो ऋगादि चारों वेदों को और ब्राह्मणादि ग्रन्थों को कल्पगाथादि सहित पढ़ते हैं उन के पितरों का स्वधा से अभिषेक होता है, ऋग्वेदाध्यायी के पितरों को दूध की, यजुर्वेदपाठिकों के को घृत की, सामाध्यायियों के को मधु, अथर्वाध्यायियों के को सोम और ब्राह्मण कल्प नाराशंसी इतिहास पुराण पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की कुल्या प्राप्त होती है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-साध्य की सिद्धि का यहां भी पता नहीं। क्यों कि इस से भी ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं है यह भी सिद्ध नहीं होता और न यह होता है कि भागवतादि का नाम पुराण है। किन्तु तात्पर्य्य यह है कि इस सूत्र में स्वाध्याय [पढ़नेरूपी] यज्ञ को पितृयज्ञ की उपमा दी गई है कि जैसे पितरों की सेवा दुग्ध घृतादि से की जाती है वैसे ब्रह्मचारी जो गुरुकुल में रहता है वह अपने माता पिता को घर छोड़ आता है उसका वेदादि पढ़ना ही मानो पितृसेवा है। वह जो ऋग्वेद पढ़ता है सो ही मानो पितरों के लिये दूध की कुल्या [नहर] बहाता है, यजुः पढ़ता है सो घृत की, जो साम पढ़ता है सो मधु की, जो अथर्व पढ़ता है सो सोम की, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों को पढ़ता है जो कि कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण कहाते हैं सो मानो अमृत की नहरें बहाता है। इस से यह तो सिद्ध न हुवा कि

ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, न वह कि भागवतादि पुराण हैं, किन्तु चारों वेदों को कह कर फिर ब्राह्मणों को वेदों के पश्चात् और पृथक् गिनाने से ब्राह्मणों का वेदों से पृथक् होना, वेद न होना, वेदों से दूसरी श्रेणी का होना और उनके पुराण इतिहास गाथादि नाम होना ही पाया जाता है॥

द० ति० भा० पृ० ४१ पं० १२ में-

सप्तद्वीपावसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाःसरहस्याः बहुधाभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मासामवेद एक-विंशतिधा वाह्वृच्यं नवधाथर्वणोवेदोवाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्यप्रयोगविषयः ।

महाभाष्य । १ । आन्हिक ॥

यदि नाराशंसी का नाम ही पुराण होता तो साङ्ग लिखकर फिर पुराण लिखने की क्या आवश्यकता थी, पूर्वोक्त वाक्यों से सिद्ध है कि ब्राह्मण, उप-निषद् सूत्रादि से भिन्न ही कोई पुराण और इतिहास संज्ञा वाले ग्रन्थ हैं। इतिहास का पुराण विशेषण मानो तो इतिहास पुंल्लिङ्ग है उस का विशेषण पुराण नपुंसकलिङ्ग नहीं हो सक्ता, अतःपुराणसे इतिहासभी कोई भिन्न ग्रन्थ हैं॥

प्रत्युत्तर-यदि उक्तमहाभाष्य में कहीं ब्राह्मण पद भी आता और इति-हास पुराण शब्द भी भिन्नविषयक आते तो सिद्ध हो जाता कि ब्राह्मण से इतिहास भिन्न हैं परन्तु जब ब्राह्मण पद नहीं और इतिहास पुराण शब्द हैं तो हम कह सक्ते हैं कि ये ही पद ब्राह्मण के ऐसे भाग के नाम हैं जिस में कोई कथा प्रसङ्ग है वह ब्राह्मणभाग इतिहास है जैसेः-

जनमेजयो ह वै पारिक्षितो मृगयाञ्चरिष्यन्हंसाभ्यामशिक्ष-न्नुपावतस्थइति तावूचतुर्जनमेजयं पारिक्षितमभ्याजगाम । सहोवाच नमो वां भगवन्तौ कौ नु भगवन्ताविति । गोपथ । प्रपाठक २ ब्रा० ५ ॥

यहां परीक्षित के पुत्र जनमेजय की मृगयायात्रा और दो परमहंसों (संन्यासियों) का मिलना उन को नमस्कार करके पूंछना कि आप कौन हैं ? इत्यादि इतिहास है। और सृष्टि के आरम्भ समय के ऋषियों का वर्णन जिस में हो वह ब्राह्मणग्रन्थों का भाग " पुराण " कहाता है जैसेः-

अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः। शतपथ। ११।५।

अग्नि वायु आदि ऋषियों से ऋगादि वेद हुवे। अग्नि वायु आदि तत्त्व न थे किन्तु जीवात्मा थे यह सायणाचार्य्य अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में लिखते हैं-

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ॥

अर्थात् जीवविशेष अग्नि वायु आदित्यों ने वेदों को प्रकट किया है। इस से। इस रीति से इतिहास और पुराण ये दोनों नाम ब्राह्मणों के ही हुवे। इतिहास पुराण का जो अर्थ हमने किया और ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण दिये यही अर्थ आप भी द० नि० भा० पृ० ४६ पं० १७ में लिखते हैं कि "जिस में कोई कथा प्रसङ्ग होता है सो इतिहास। जिस में जगत् की पूर्वावस्था सर्गादि का निरुपण होता है सो पुराण" सो ये दोनों बातें ब्राह्मण ग्रन्थों में (जैसा कि हमने ऊपर गोपथ और शतपथ का प्रमाण दिया) भी पाई जाती हैं इस से ये इतिहास पुराण हुवे। यदि कोई यह शङ्का करे कि एक ही स्थान पर ब्राह्मण पुराण इतिहास गाथा नाराशंसी ये सब नाम क्यों आये हैं जब कि ये सब एकार्थ हैं। तो उत्तर यह है कि "ब्राह्मण" यह सामान्य नाम है और इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि उस के विशेषों के नाम हैं जैसे "गृह" सामान्य शब्द है और हर्म्य (महल) भवन शाला आदि उस के विशेष हैं। इसी प्रकार यहां भी जानो। और आपने जो यह कहा कि साङ्ग कहने से अङ्गों में नाराशंसी भी आ जाती फिर साङ्ग लिखकर पुराण क्यों पृथक् लिखते। सो महाशय! क्या आप वेदों के छः अङ्गों को भी नहीं जानते कि शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये छः अङ्ग कहाते हैं। इन में कल्प कहने से श्रौतसूत्रादि का ग्रहण है। और पुराण इतिहास ये दो नाम ब्राह्मणों के उस विशेष भाग के हैं जिसमें ऊपर लिखे अनुसार कथादि का प्रसङ्ग है। और यह भी जानना चाहिये कि यदि उपनिषदादि मिलाकर सब वेद हैं तो "चत्वारो वेदाः" कहकर फिर "सरहस्याः" इत्यादि की क्या आवश्यकता रहती। भिन्न ग्रहण से जाना जाता है कि ये ग्रन्थ वेद से भिन्न ही हैं॥

द० ति० भा० पृ० ४७ पं० २९ से पृ० ४८ तक न्यायदर्शन के अ० ४ सूत्र ६२ और उस का वात्स्यायन भाष्य और उस का भावार्थ लिखा है उस सब को लिखने से ग्रन्थ बढ़ेगा परन्तु मुख्य अंश उस का यह है कि-

"इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदइति" और "यज्ञोमन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"

अर्थात् इतिहास पुराण ५ वां वेद है तथा मन्त्र ब्राह्मण का विषय यज्ञ है इतिहास पुराण का विषय लोक का वृत्तान्त है और लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय है। यहां ब्राह्मण से भिन्न इतिहास पुराण का विषय पड़ा है और भिन्न २ नाम भी इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-एक ही ग्रन्थ का सामान्य विषय एक होता है और उसी ग्रन्थ के विशेष भागों के विशेष विषय भिन्न २ होते हैं इसी प्रकार ब्राह्मणसामान्य का विषय यज्ञ है यह लिखकर ब्राह्मण के वे विशेष भाग जिन का नाम पुराण और इतिहास है जिन के दो उदाहरण भी हमने ऊपर लिखे हैं उन भागों का भिन्न "लोकवृत्त" विषय है। इस कथन से विषयभेद ही सिद्ध होता है ग्रन्थभेद नहीं। क्या एक ग्रन्थ में अनेक विषय नहीं होते? आप के ही इस द० ति० भास्कर में अनेक विषय हैं फिर क्या यह एक ग्रन्थ नहीं? और यह कि इतिहास पुराण की प्रामाणिकता में ब्राह्मण ने प्रमाण दिया है कि यह पञ्चम वेद है। इस का उत्तर यह है कि वेद तो ४ ही हैं इतिहास पुराण को पञ्चम वेद कहना उस की प्रशंसा है जैसे किसी पुरुष की प्रशंसा में कहते हैं कि यह तो दूसरा युधिष्ठिर है वा दूसरा बृहस्पति है। यथार्थ में युधिष्ठिर वा बृहस्पति दूसरे नहीं हैं परन्तु धर्मात्मा और विद्वान् अधिक होने से दोनों की उपमा दी जाती है इसी प्रकार इतिहास पुराणसंज्ञक ब्राह्मणभाग की यह प्रशंसा है कि ये पांचवां वेद है। क्या आप यथार्थ में जैसे चारों वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष के बनाये नहीं इसी प्रकार यह समझते हैं कि इतिहास पुराण भी वास्तव में ५ वां वेद हैं और ये भी अपौरुषेय हैं? यदि ऐसा है तो आप अन्य पौराणिकों के सदृश यह भी न मानते होंगे कि पुराणों के कर्त्ता व्यास हैं! अन्त में आप को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह वाक्य प्रशंसापरक है। यदि यह कहो कि ब्राह्मण का कोई भाग पुराण है तो उस में अपनी प्रशंसा आप ही क्यों की गई तो उत्तर यह है कि मनु ने भी अपनी प्रशंसा में यह कहा कि-

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोन्यानि कानिचित्।

अर्थात् अल्पविद्या वाले लोगों के बनाये ग्रन्थ आज बनते हैं, कल नष्ट होते हैं, जो कि इस मनु के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ हैं। इस से मनु ने अपना प्रमाण और प्रशंसा दूसरों (अल्पविद्यारचितों) का अप्रमाण और निन्दा की है सो ठीक है। यदि अपने विषय में उचित प्रशंसा वा कथन कोई न करे तो दूसरे द्वारा प्रशंसा न होने तक उस में श्रद्धा वा प्रामाण्य कैसे हो। यदि अपने विषय में स्वयं प्रामाणिकता का कहना अच्छा नहीं तो आपने ही अपने इस द० ति० भास्कर की प्रशंसा और प्रामाणिकता को जताने के लिये आरम्भ में सुर्खी से ग्रन्थों के नाम और टाइटिल पेज पर "वेद ब्राह्मण शास्त्र स्मृति पुराण वैद्यकादि प्रमाणों से अलङ्कृत" यह प्रशंसा और प्रामाण्य क्यों लिखा है। और जब आपने ही टाइटिल पेज पर वेद शब्द लिखकर फिर ब्राह्मण और पुराण शब्द भिन्न लिखे हैं तो औरों को क्यों कहते हो कि पुराण ५ वां वेद हैं। यदि पुराण ५ वां वेद हैं तो जैसे वेद कहने से ऋग् यजुः साम अथर्व इन ४ का अर्थ आ जाता है वैसे ही ५ वें का भी अर्थ आ जाता॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० १२ में अथर्ववेद के मन्त्र में इतिहास पुराण गाथा और

नाराशंसी पद को देखकर कहते हैं कि वेद में भी इतिहासादि की स्पष्टता है॥

प्रत्युत्तर–वेद में सामान्य शब्द इतिहास पुराणादि हैं किन्तु शिवपुराण अग्निपुराणादि आप के अभिमत पुराण का नाम नहीं। वेद में यदि "मनुष्य" शब्द आजावे तौ क्या आप कहेंगे कि देखो वेद में मनुष्य शब्द है और हम (पं० ज्वालाप्रसाद) भी मनुष्य हैं इस लिये हमारा वर्णन वेद में आया है। इस का सविस्तर उत्तर मेरे बनाये "ऋग्वादिभाष्यभूमिकेन्दुपराभे द्वितीयोऽशः" में छपा है वहां देख लीजिये। जैसे आप ने महामोहविद्रावण, सत्यार्थभास्कर, सत्यार्थविवेक, महतावदिवाकर, मूर्तिरहस्य, मूर्तिपूजा, आदि पुस्तकों के आशयों को इकट्ठा करके पिष्टपेषण किया है वैसा हम अच्छा नहीं समझते॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० १६ में–एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः। इत्यादि। गोपथ के वाक्य को उद्धृत कर के शङ्का की है कि यदि ब्राह्मण और इतिहास एक ही पुस्तक के नाम होते तो "सब्राह्मणाः" कहकर "सेतिहासाः" न कहते॥

प्रत्युत्तर–आप तौ अभी पुराणों को ५ वां वेद लिख चुके हैं फिर "सर्वे वेदाः" कहने में इतिहास भी (जो आप के लेखानुसार ५ वां वेद है) अन्तर्गत था फिर "सेतिहासाः" क्यों कहा? इस लिये आप का तर्क आप ही के पक्ष में दोषारोपण करता है। ब्राह्मण शब्द सामान्य कहकर भी ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद् और इतिहास का फिर से गिनाना यह सूचित करता है कि ब्राह्मण वा वेद के जिस भाग में विशेष कर ब्रह्मविद्या है उस भाग का नाम भिन्न उपनिषद् पड़ा और जिस ब्राह्मण भाग में लोकवृत्तान्त है उस का नाम भिन्न इतिहास पड़ा इसी से वे पुनः भी गिनाये गये। जैसे "भगवद्गीता" महाभारत के अन्तर्गत है परन्तु विशेष प्रकरण का विशेष नाम "भगवद्गीता" यह भिन्न भी है इसी प्रकार यहां जानिये॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० २६–और सूत्रकार ने भी तौ "अश्वमेध" प्रकरण में ८ वें दिन इतिहास और ९ वें दिन पुराण का पाठ करना लिखा है। इस से निश्चय हो गया कि पुराण इतिहास, ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं॥

प्रत्युत्तर–धन्य है! आप का ऐसे निश्चय होजाता है तभी तौ इतना पुस्तक बनाय बैठे। भला "८ वें ९ वें दिन पुराण इतिहास सुनना चाहिये" इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि ब्राह्मणों से पुराणादि पृथक् हैं? प्रत्युत यह सिद्ध होगया कि सूत्रकार के समय में आप के माने व्यासकृत १८ पुराण तौ थे ही नहीं इस से सूत्रकार ने ब्राह्मण ग्रन्थों ही को लक्ष्य करके इतिहास पुराण का पाठ लिखा है। व्यास जी से पूर्व भी कई राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये उन यज्ञों में ८ वें ९ वें दिन ब्राह्मणग्रन्थों ही का पाठ किया होगा॥

द० ति० भा० पृ० ५० और ५१ में मनु, महाभारत, वाल्मीकीयरामायण, अमरकोष के श्लोक जिन में पुराणशब्द और पुराण का लक्षण है, लिखे हैं परन्तु उस में से किसी में भी "ब्रह्मवैवर्त्तादि का नाम पुराण है" यह नहीं लिखा तौ फिर

सामान्य पुराण शब्दमात्र आनेसे से कुछ भी सिद्ध नहीं होसक्ता। हां, इस पुराणसिद्धप्रकरण भर में केवल एक श्लोक द० ति० भा० पृ० ५० में लिखा है कि-

एवं वेदे तथा सूत्रे इतिहासेन भारत।
पुराणेन पुराणानि प्रोच्यन्ते नात्र संशयः॥

सो इस श्लोक का कुछ पता नहीं लिखा कि यह किस ग्रन्थ का श्लोक है। हमारी समझ में तो यह पं० ज्वालाप्रसाद का ही कृत्य है। जैसा इस श्लोक में लिखा है कि "इस प्रकार वेद व सूत्र में इतिहास से भारत और पुराण से पुराणों का ग्रहण है इस में संशय नहीं" ऐसा ऊपर के लिखे वेद ब्राह्मण महाभाष्यादि में कहीं भी नहीं। मनु, रामायण को तो आप भी व्यास जी से पूर्व रचित मानते हैं फिर मनु वा बाल्मीकि के प्रमाणों से व्यासकृत पुराणों का ग्रहण करना अज्ञान नहीं तो क्या है? इति॥

तिलकप्रकरणम्–

सत्यार्थप्र० पृ० ७३ पं० १९ में जो तिलकादिधारण से "पापनाशक" विश्वास को मिथ्या कहा है उस की समीक्षा द० ति० भा० पृ० ५१ व ५२ में इस प्रकार की है कि जैसे "नमस्ते" दयानन्दियों का "परमात्माजयति" इन्द्रमणिपन्थ का, शेर का चिह्न गवर्नमेंट की वस्तु का चिह्न है वैसे ही तिलकादि के भेद सम्प्रदायों के चिह्न हैं। और चन्दन के गुण राजनिघण्टु में लिखे हैं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर–"नमस्ते" चिह्न नहीं किन्तु शिष्टाचार है! और चिह्न होना और बात है तथा पापनिवृत्ति का उपाय समझना और बात है। स्वामी जी पापनाशक विश्वास का खण्डन करते हैं। और भिन्न२ वेदविरोधी सम्प्रदायों के चिह्न धारण करना भी अच्छा नहीं। आप जो चन्दन के गुण बताते हैं सो तो केवल लेपन और क्राथादि में पान करने को हैं जिस से कोई नकार नहीं करता। स्वामी जी चन्दन केशर आदि लगाते थे और आर्य लोग भी लगाते हैं उन की बुद्धि शुद्ध है। आप के ऊर्ध्वपुण्ड्रादि में चिताभस्म के तिलक का विधान होने से मुर्दे के राख का बुरा प्रभाव आपके शैव अनुयायियों पर पड़ा है इसी से वैदिक धर्म के विरोधी बने हैं॥

द० ति० पृ० ५२ आप का मत वेद है तो मन्वादि के प्रमाण क्यों लिखे इत्यादि

प्रत्युत्तर–वेद अन्य सब ग्रन्थों का मूल है इस लिये स्वामी जी ने वेद और वेद के अविरुद्ध अन्य शास्त्रों के प्रमाण दिये हैं। संन्यासी (स्वामी जी) ने रुपये नहीं जोड़े न नफ़े से पुस्तक बेचे किन्तु लोकोपकारार्थ आर्यों ने सम्मति करके स्वामी जी के द्वारा वैदिक धर्मसम्बन्धी पुस्तकों के प्रचारार्थ वैदिक यन्त्रालय स्थापित किया था और है स्वामी जी ने उस में का स्वयं कुछ नहीं भोगा। आप ज़रा काशी के स्वामी विशुद्धानन्द जी आदि पर तो दृष्टि डालिये कि कैसा ठाठ व विभूति है॥

इति तुलसीराम स्वामिविरचिते भास्करप्रकाशे तृतीयसमुल्लास-मण्डनम्

ओ३म्

अथ द० ति० भास्करस्य चतुर्थसमुल्लासखण्डनम्

सत्यार्थ प्र० पृ० ९८ में लिखा है कि (असपिण्डा च०) इस मनु के अनुसार सामीप्य में विवाह नहीं करना । और उस मनु धर्मशास्त्र की आज्ञा की पुष्टि में ८ युक्तियां भी स्वामी जी ने दे दी हैं तो पं० ज्वालाप्रसाद जी वा किसी भी मनु के मानने वाले को धर्मशास्त्र की सहायक युक्तियों का विरोध उचित नहीं । परन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी को तो पोछा ही करना है । इस लिये इन सहायक युक्तियों का भी प्रतिवाद ही किया है । सो यद्यपि ऐसे छोटे विषयों पर ग्रन्थ बढ़ाना तो व्यर्थ है तथापि उन में से मुख्य २ बातों का उत्तर हम को अवश्य देना है सो लिखते हैं ॥

हम उन युक्तियों की उपेक्षा करते हैं जो पण्डित ज्वालाप्रसाद जी ने समीप विवाह के गुणों में दी हैं । वे और उन के अनुयायी सदा पड़ौस में ही विवाह कर लिया करें । स्वामी जी ने तो अपनी शास्त्रानुसारिणी एवं लोकोपकारिणीबुद्धि से दूर देश में विवाह की रीति पर बल देकर चाहा था कि आर्य धर्म का गौरव देश देशान्तर तक रहे। और यदि दौर्भाग्य से पूर्वकाल के समान आर्यों का सम्बन्ध देशान्तर वा द्वीपान्तर से नष्ट न होता तो ईसाई मूसाई आदि वेदविरुद्ध मत फैल कर मनुष्यजाति की दुर्दशा ही क्यों होती । और क्यों संकीर्णहृदय मनुष्यों की संख्या बढ़ती, क्यों अनैक्य और फूट बढ़कर एक मनुष्य जाति के स्थान में अनेक हिन्दू मुसलमान आदि जातियां बनतीं, क्यों एक वैदिकधर्म के अनेक मत बनते ? परन्तु सामान्य लोग उन की दूरदर्शिता और गाम्भीर्य को नहीं समझ सकते । दौर्भाग्य !!

हां, एक बात द० ति० पृ० ५७ में यह लिखी है कि सत्यार्थप्रकाश पृ० ७८ में जो—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । शतपथ

प्रमाण दिया है सो यह " कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" के समान है क्योंकि शतपथ में यह देवताप्रकरण है, विवाहप्रकरण नहीं । और ऐसा पाठ है कि—

तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते । तं वा एतं मृत्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते । तं वा एतमङ्गं रसं सन्त-

मङ्गिरा इत्याचक्षते। शतपथे। अग्निर्हवैतमग्निरित्याचक्षते। तत् इन्द्रो मखवान् भवन्मखवान्हवैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् परोक्षकामाहि देवाः। श० १४। १। १। १३॥

गोपथ ब्राह्मण के प्र० प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। इस कारण वरण शब्द को वरुण मुच्यु को मृत्यु और अङ्गरस को अङ्गिरा कहते हैं। शतपथ में लिखा है देवता परोक्षकामा हैं इस कारण परोक्ष में अग्नि को अग्नि, अश्रु को अश्र, और मखवान् को मघवान् कहते हैं इत्यादि। दयानन्द जी ने विवाह में प्रसंग लगादिया॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने भी इस को विवाहप्रकरण का नहीं बताया किन्तु दृष्टान्त दिया है कि जैसे देवता परोक्षप्रिय हैं वैसे मनुष्यों के इन्द्रियों में भी देवता रहते हैं इस कारण मनुष्य को भी दूर से मिली वस्तु में अधिक प्रीति होती है, इस लिये दूरस्थों का विवाह अधिक प्रीतिप्रद होगा, यह तात्पर्य है। यह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में दूरदेश के विवाह की विधि है किन्तु मनु के वाक्य को ब्राह्मण ग्रन्थ से पुष्ट किया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है तदनुसार केवल इतना अंश ब्राह्मणग्रन्थ का प्रमाण में है कि "परोक्ष को देवता प्यार करते हैं" तो परोक्षों के विवाह में भी प्यार अधिक होगा। और आपने जो परोक्ष विवाह का खण्डन किया सो दैवत प्रकृति से विरुद्ध हुआ तब आसुरी प्रकृति का है वा अन्य कुछ ? सो आप ही विचारलें। परोपकारक स्वामी जी को " कहीं की ईंट " का उलाहना न दें। गोपथ ब्राह्मण में यह पाठ कई ठिकाने उपस्थित है॥

१-प्रपाठक १ कण्डिका १ तथा २ तथा कण्डिका ७ में ३ बार कण्डिका ३९ यथा-

परोक्षप्रियाइव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।

और आपने जो-

परोक्षकामा हि देवाः। श० १४। १। १। १३

लिखा है उस का भी अर्थ यही है कि देवता परोक्ष वस्तु की कामना करते हैं। तब स्वामी जी का कहना बुरा लगने का कोई कारण द्वेष के अतिरिक्त नहीं है॥

रही यह बात कि शतपथ में यह पाठ नहीं जो कि स्वामी जीने लिखा

है। सो प्रथम तो शतपथ समस्त का पाठ किये विना ऐसा कहना कठिन है कि शतपथ में नहीं। क्योंकि आप ने जो १३ वीं कण्डिका का पाठ लिखा है वह भी शतपथ में पूरा २ उस प्रकार नहीं जैसा आप ने लिखा, किन्तु पूर्ण कण्डिका इस प्रकार है-

स उ एव मख: स विष्णु:। तत इन्द्रो मखवानभवन्मखवान्ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा:। श० १४।१।१।१३॥

किन्तु १३ वीं कण्डिका पूर्ण ऊपर लिखे अनुसार बर्लिन के छपे शतपथ में उपस्थित है; देख लें। इस में आप का लिखा-

अग्निर्हवैतमग्नि०

इत्यादि पाठ देखने तक को नहीं। तब तो आप ही ने "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" किया है। और इस से यह भी प्रतीत होता है कि समस्त शतपथ का पाठ तो दूर रहा किन्तु इस १४।१।१।१३ का पाठ भी आप ने देखा भाला नहीं और अटकलपच्चू लिख दिया। तब कैसे आप दृढ विश्वास करते हैं कि यह पाठ शतपथ में नहीं है॥

दूसरा-यह भी हो सक्ता है कि शतपथ के "परोक्षकामा हि देवा:" का और गोपथ के "परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विष:" का एक ही आशय होने से दोनों पुस्तक जिन स्वामी जी ने पढ़े थे उन की वाणी से "गोपथ" शब्द के स्थान में 'शतपथ' शब्द मौखिक लेखक को लिखाते समय निकल गया हो, वा स्वामी जी ने गोपथ शब्द उच्चारा हो परन्तु लेखक से 'गो' के स्थान में 'शत' लिखा गया हो। समस्त सत्यार्थप्र० के सहस्रावधि प्रमाण स्वामी जी ने मौखिक ही लेखकों को लिखाये हैं यह बात इस से भी पाई जाती है कि सन् १८८४ के प्रयाग में छपे दुबारा सत्यार्थप्रकाश तक में जितने प्रमाण छपे हैं उन में सब ग्रन्थों के नाममात्र ही छपे हैं विशेष पता नहीं, यदि ग्रन्थ देख २ कर लिखते तो अध्यायादि के पते भी छापते लिखते जैसा कि लोगों के हल्ला मचाने से संवत् १९४८ के अजमेर के छपे सत्यार्थप्रकाश में मनु आदि ग्रन्थों के बहुत से पते पण्डितों से ढूंढवा २ कर छपाये हैं। स्वामी जी महाराज अपने विचार को सत्य, पक्षपातरहित, दृढ जानते थे इस लिये पते ढूंढ कर लिखने लिखाने की देरी करना

अपने परोपकारक जीवन में पूर्णता चाहे हुये कामों का विघ्नकारक समझते थे। तीसरे-स्वामी जी ने शतपथ शब्द गोपथ शब्द के स्थान में जानबूझ कर बदल कर कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं किया। दोनों का तात्पर्य एक होने से उन के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये दोनों ही ग्रन्थों के पाठ सहायक हैं। केवल गोपथ के पाठ में "भवन्ति" यह क्रियापद अधिक है। जो, यदि न होता तो अध्याहार भी यही होसक्ता था। इस लिये आप का इतना बखेड़ा मचाना उचित नहीं है। और आप ने जो पृ० ५१ पं० ६ में "तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते" इत्यादि पाठ लिखा है सो ग्रन्थ का नाम भी नहीं कि कहां का है? और पं० ११ में जो "गोपथब्राह्मण के प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं इस कारण वरण को वरुण, इत्यादि" यदि यह अर्थ ऊपर के संस्कृत का होने से और गोपथ प्रपा० १ कं० ७ में ढूंढने से हमने मान भी लिया कि यह संस्कृत पाठ गोपथ का है। तो आप ने गोपथ और शतपथ को मिला कर अर्थ क्यों किया? उन का आपस में क्या सम्बन्ध, जब ग्रन्थ ही भिन्न २ हैं॥

द० ति० भा० पृ० ५९ पं० २२-ऊपर लिखी सत्यार्थप्रकाश की वार्त्ताओं का सिद्धान्त यह है कि २५ वर्ष में कन्या, ४८ वर्ष में पुरुष विवाह करे॥

प्रत्युत्तर-यह सिद्धान्त नहीं है किन्तु सिद्धान्त यह है कि १६ वर्ष से २४ तक कन्या तथा २५ से ४८ वर्ष तक पुरुष के विवाह का काल है इस से पूर्व और पश्चात् नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ५९ पं० २६-जिस के भरण पोषण का भार सदैव को शिर पर लिया जाय उस का जो भाव उस को भार्यात्व कहते हैं॥ फिर-

पृ० ६२ पं० २६-इस समय की प्रथा के अनुसार पांच वा तीन वर्ष में द्विरागमन होता है फिर एक या दो वर्ष में आया जाई खुलती है जिस को (रौना) कहते हैं इस समय तक स्त्री की अवस्था पन्द्रह वा सोलह वर्ष की हो जाती है। और वर भी २५ वा २६ वर्ष का हो जाता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-यदि आप सदैव के लिये भरण पोषण का भार लेने से भार्या मानते हैं तो इन द्विरागमन और रौना तक के ५। ७ वर्ष तक भरण पोषण का भार पिता पर रहने से आप के मतानुसार वह लड़की किस की भार्या कही जाय? उतने काल तक आप के प्रचलित मत में भर्त्ता तो नाम ही का भर्त्ता है। यथार्थ में भरण पोषण तो पिता करता है उसी के घर में रहती है।

द० लि० भा० पृ० ५९ पं० २९–(तस्य स्वीकाररूपं ज्ञानं विशेषस्य समवाय विषयः तयोर्भेदात् वरकन्ययोः विवाहकर्तृत्वकर्मत्वेति) अर्थात् भार्या का स्वीकार रूप जो विशेष ज्ञान है तिस में समवाय और विषय दो प्रकार के भेद होने से इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–उक्त संस्कृत का भाषानुवाद न जाने कौन से व्याकरण से किया है। पं० ज्वालाप्र०–जी का न्याय भी निराला है जिस में वर कन्या का समवाय सम्बन्ध ज्ञान विशेष हैं। " ज्ञानम् " और " विशेषस्य " का अर्थ " विशेष ज्ञान है " भी अनोखा ही है ॥

द० लि० भा० पृ० ६० पं० ६ (अष्टवर्षा भवेद्गौरी) यही श्लोक लिखा है जो पराशर जी ने लिखा है । यह केवल संज्ञामात्र वाची है। यह नहीं कि ८ वर्ष की गौरी ही होजावे। तुम्हारा नाम दयानन्द था तो आनन्द ही रहना था दुःख क्यों हुवा इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–संज्ञा सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की होती हैं । अस्तु आप ने गौरी आदि संज्ञाओं को निरर्थक मान लिया अब हम कुछ नहीं कहते। स्वामी दयानन्द सर० जी को यथार्थ में अविद्याग्रस्त लोक पर दया करके ही आनन्द था अन्यथा लोकोपकार में दुःख क्यों सहते ॥

द० लि० भा० पृ० ६० पं० २० से–इसी से ८ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त कन्या का विवाहकाल है जैसा मनु जी लिखते हैं–

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः । ९ । ९४ ॥

३० वर्ष का पुरुष १२ वर्ष की कन्या से विवाह करे। जो मनोहर हो। २४ वर्ष का ८ वर्ष की से। इस से शीघ्र करने में धर्म में पीड़ा होती है ॥

प्रत्युत्तर–आप ने " धर्मे सीदति सत्वरः " का अर्थ उलटा किया। यथार्थ यह है कि–धर्मेसीदति=धर्म नष्ट होता हो तो। सत्वरः=शीघ्रकारी। अर्थात् यदि कोई विपत्तिकाल हो जैसा कि यवनराज्य में हुवा (जिस को मनु ने भविष्यत् में विपत्काल की सम्भावना से लिखा हो वा अन्य किसी देश काल के ज्ञाता ने लिखा हो) तो शीघ्र विवाह करे अर्थात् ८ वर्ष की से २४ वर्ष का भी विवाह करले । क्योंकि इसी नवमाध्याय के ५६ वें श्लोक में कह आये हैं कि–

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ।

अर्थात् इस से आगे आपत्काल का स्त्रीधर्म कहूंगा । तदनुसार ५६ वें श्लोक से इस ९४ वें श्लोक तक नियोग तथा मूल्य देकर कन्याग्रहण का वर्णन करते २ यहां विवाह की अवस्था भी आपत्काल की ही कही है और यही 'धर्मेसीदति सत्वरः'' इस चतुर्थपाद का तात्पर्य था जिस को आपने लौट दिया ॥

द० ति० भा० पृ० ६० पं० २१ से-शास्त्रों में ऋतुमती स्त्री के पास न जाने का महादोष कथन किया है उस का कारण यह है कि वह समय सन्तानोत्पत्ति का होता है और ऋतुदान विना विवाह कहां यदि विवाह होजाय तौ ऋतु समय में संयोग हो जिस से कदाचित् सन्तान की उत्पत्ति हो जाती है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप तौ ऊपर लिख आये हैं कि संयोग तौ १५ वा १६ वर्ष की अवस्था में ही होता है क्योंकि ५।७ वर्ष गौना रौना आदि में लगते हैं सो यहां आकर क्यों चौकड़ी भूलगये कि रजस्वला के पास न जाने से महादोष है, लिखते हो । हमारे मत में तौ ठीक है क्योंकि हम विवाह और संयोग के बीच ५।७ वर्ष का व्यवधान नहीं मानते और शास्त्रानुसार चतुर्थी कर्म में ऋतुदान मानते हैं परन्तु आप तौ बीच में कई वर्ष पिता के घर में रहना मानते हैं तब आप को इन प्रश्नों का उत्तर देने को रहाः—

द्विरागमन और रौना तथा आया जाई खुलते समय तक भरण पोषण पिता करता है तौ आप के मत में भार्या किस की हुई ? भर्त्ता कौन हुवा ? पिता के घर रजस्वला होती रही तब ऋतुगामी किसे होना चाहिये ? और ऋतुगामी न होने से महादोषभागी वर होगा उस का प्रायश्चित्त क्या है ? अथवा द्विरागमन से पूर्व वर आया करे और चुपके से ऋतुदान दे जाया करे वा क्या करे ?

द० ति० भा० पृ० ६१ पं० ३-सुश्रुत अध्याय १०

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् ॥

विद्यासम्पन्न पुरुष को जिस की अवस्था २५ वर्ष की हो उस को १२ वर्ष वाली से व्याह करना योग्य है इस से यह सिद्ध होता है कि पुरुष की अवस्था २५ वर्ष से कम न हो तब विवाह करे और कन्या की १० अथवा १२ वर्ष से कम न हो ॥

प्रत्युत्तर-जब कि सुश्रुतकार शारीरस्थान १०। ४७ में यह कहते हैं कि २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की स्त्री गर्भाधान योग्य होते हैं और १२ वर्ष की से २५ वर्ष के का विवाह हो तो जब कि स्त्री १६ वें में पहुंचे तब तक पुरुष २९ वें में पहुंचे। तो सुश्रुत के पूर्वापर लेख क्या विरुद्ध हैं? और सुश्रुत ने १२ वर्ष के लिये लिखा उस से आप १० वा १२ ये दो अर्थ कैसे ले आये? हम तो यह मानते हैं कि सुश्रुतकार जो वैद्य थे उन्होंने बङ्गाल आदि देशों को लक्ष्य में रखकर वहां के निर्वाहार्थ यह दूसरा वचन लिखा है। जिस से यह सिद्ध होता है कि जहां जब युवावस्था होती हो वहां तब ही विवाह करे यही वेद का सिद्धान्त है। देशभेद से वर्षसंख्या भले ही भिन्न २ रहे। परन्तु ८ वर्ष की लड़की किसी देश में भी युवति नहीं होती इस लिये आप का लेख जो "अष्टवर्षा भवे०" के मण्डन में है किसी युक्ति अथवा सुश्रुतादि के मत से पुष्ट नहीं होता॥

द० ति० भा० पृ० ६१ पं० ९-सहवास लज्जा भय अनुराग और स्नेह यह सब बाल्यावस्था भ्यस्त होने चाहियें, पङ्क्ति १४-इस प्रकार बाल्यावस्थाभ्यस्त सहवास स्त्रियों के अच्छेद्य संयोग का मुख्य कारण है॥

प्रत्युत्तर-आप का तात्पर्य यह है कि पति पत्नी में अनुराग सहवासादि बाल्यावस्था से अभ्यास किये हुवे तभी हो सकते हैं जब बाल्यावस्था में विवाह हो। तो क्या यह अभ्यास की युक्ति स्त्रियों को ही अपेक्षित है, पुरुष को क्यों नहीं, क्योंकि पुरुष को तो आप भी २५ वर्ष से पूर्वावस्था में विवाह के लिये कोई प्रमाण नहीं लिखते। धन्य है, जब बाल्यावस्था से ही पति पत्नी का एक दूसरे में अनुराग सहवास का अभ्यास करना बाल्यावस्था से ही हो, यह शिक्षा दी जा रही है तभी तो शास्त्र की उस मर्यादा का भंग होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विषय की कामना भी नहीं करनी चाहिये। इसी शिक्षा से देश की दुर्दशा हुई॥

द० ति० भा० पृ० ६१ पं० २१-यदि १६ वर्ष वा २५ वर्ष की अवस्था में विवाह करे तो दुश्चरित्र होने की बड़ी शङ्का है॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्

प्रत्युत्तर-पत्या च विरहः का अर्थ यह है कि पति से अलग रहना स्त्रियों को बिगाड़ता है। सो महाराज! यदि युवावस्था में विवाह हो तो

पतिविरह होने की सम्भावना न्यून है । परन्तु आप तो स्वयं कहते हैं कि ५।७ वर्ष द्विरागमन पर्यन्त विवाहिता कन्या पिता के घर रहती है । तब पिता के घर रहने और पति से अलग रहने से यह दोष भी आप के मत में ही आता है ॥

द० ति० भा० पृ० ६१ के अन्त और ६२ के आरम्भ में जो बड़ी अवस्था में विवाह के दोष बताये हैं उन का उत्तर इस प्रकार है:-

प्रत्युत्तर-विवाहिता कन्या के मन में विषयवासना अधिक आसकती है क्योंकि वह जानती है कि यदि मेरी कोई कुचेष्टा माता पिता आदि देखेंगे तो शीघ्र द्विरागमन करदेंगे । मुझे दोष नहीं लगेगा । अविवाहिता गुरुकुल में पुरुष का दर्शन श्रवण पर्यन्त वर्जित रहने से विषयासक्त नहीं होवेगी ॥

द० ति० भा० पृ० ६२ पं० २३ में २० वर्ष का पति होना योग्य है वा १५ वर्ष का इस से कमती किसी प्रकार नहीं ॥

प्रत्युत्तर-१५ वर्ष के पुरुष के विवाह में तो आप के लिखे प्रमाणों से भी विरोध है । भला कन्या की बात तो दूसरी है । विवाह तथा संयोग के समय में वर्षों का अन्तर व्यभिचार का हेतु है । इस लिये सुश्रुत के मतानुसार गर्भाधान के योग्यतावाली अवस्था में ही विवाह करना चाहिये । जिस प्रकार विना भूख भोजन अजीर्ण रोग करता है इसी प्रकार विना सन्तानोत्पत्ति योग्य अवस्थाके विवाह करना भी व्यभिचार वैधव्य आदि रोगों का मूल है ॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० ५-से स्त्री रूप की प्यासी होती है जाने कौन सी जाति के पुरुष को पसन्द करे ... ... इस से वर्णसङ्कर की उत्पत्ति होती है ॥

प्रत्युत्तर-तो क्या कन्या की माता भी स्त्री होने से रूप की प्यासी होगी और वह किसी अन्य वर्ण से विवाह करदेगी तो वही दोष नहीं आवेगा ? स्वयंवर में जो स्वतन्त्रता है वह शास्त्रानुसारिणी वर्णव्यवस्था को तोड़ कर नहीं किन्तु अपने वर्ण में है । तथा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष को पसन्द भी नहीं कर सकती ॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० १२ से-जब कि कन्यादान शब्द विवाह में कहा जाता है तो कन्या विना पिता की अनुमति कैसे पतिवरण कर सकती है ॥

प्रत्युत्तर-आप अपनी ही विवाहपद्धतियों को देखते तो ज्ञात होता कि उन में प्रथम यह लिखा है कि-

अथ वरं वृणीते

अर्थात् कन्या वर का वरण करती है। यह नहीं लिखा कि माता पिता कन्या से वर का वरण कराते हैं कि इसे वरण कर। किन्तु-

स्वतन्त्रः कर्त्ता ।१।४।५४॥

इस सूत्र के अनुसार "वृणीते" क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्ता कन्या है। कन्या दान पीछे होता है, जब कि पहिले कन्या स्वयं वरण कर लेवे, जिसे वह वरण कर लेवे, उसी वर के लिये पिता की ओर से कन्या और साथ में वस्त्राभूषणादि देना शिष्टाचार है। उस का तात्पर्य यह नहीं है कि पतिवरण करने में माता पिता अपनी कन्या को परतन्त्र करें कि इसे ही वरो, किन्तु ब्रह्मचर्य पूर्ण करके शास्त्र पढ़ी लिखी द्विजकन्या शास्त्रानुसार अपने वर्ण में से स्वतन्त्रतापूर्वक अनुकूल पति का वरण करे। शास्त्रविरुद्ध स्वतन्त्रता का नाम स्वतन्त्रता नहीं किन्तु स्वेच्छाचार अधर्म है॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० १७ से-

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(मनु अ० ५ श्लोक १४८, १५१)

बाल्यावस्था में पिता के वश में, यौवन में पति के वश में, भर्त्ता के मरने पर पुत्रों के वश में स्त्री रहे, परन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे॥१४८॥ जिसे इस को पिता देदे वा पिता की अनुमति से भ्राता देदे, उस की यावज्जीवन सेवा करती रहे और मरने पर श्राद्धादि करे, कुल के वशीभूत रहे, मर्यादा को न लङ्घन करे॥१५१॥ इत्यादि प्रमाणों से स्त्री स्वयं पति वरण नहीं कर सकती। स्वयंवर राजों में होता है॥

प्रत्युत्तर-प्रथम श्लोक का तात्पर्य तो यह है कि बाल्यावस्था में पिता का, यौवन में भर्त्ता का, वृद्धावस्था में पुत्रों का कहना माने, उन के विरुद्ध न चले। यह कहां से निकल आया कि शास्त्रानुकूल अपने वर्ण के पति का भी स्वयं वरण न करे। पिता भ्राता आदि उस के स्वयं पतिवरण के विरोधी

भी क्यों होने लगे हैं जब कि वह पतिवरण के शास्त्र पढ़ कर तदनुकूल पतिवरण करेगी। द्वितीय श्लोक की यह ध्वनि निकालना पक्षपात है कि जिसे देदे उसी की सेवा करती रहे, किन्तु स्वयंवरपूर्वक पिता वा भ्राता की दान की हुई अपने पति की शुश्रूषा में श्रद्धापूर्वक तत्पर रहे तथा मरने पर जो मर्यादा जीते पति ने बांधी हों उन का उलङ्घन न करे। श्राद्ध का मूल श्लोक में पता भी नहीं, परन्तु आप को श्राद्धान्न ऐसा मुंह लगा है कि सर्वत्र वही दृष्टि पड़ता है और राजों में स्वयंवर होता है, अन्यों में नहीं। इसका कहीं धर्मशास्त्र में विधान भी है? वा आप का कहना ही प्रमाण है और यदि स्वयंवर से स्त्री को स्वतन्त्रता होती है और आप के विचार में स्त्रियों को स्वतन्त्रता अधर्म है तौ यह तौ बतलाइये कि स्वतन्त्रता के रोकने वाले धर्मशास्त्र के वे वचन जिन के आधार से आप स्त्रियों की स्वतन्त्रता बुरी समझते हैं, उन श्लोकों में कहीं क्षत्रिया कन्याओं को वर्ज दिया है? क्या वे श्लोक चातुवर्ण्य के लिये नहीं हैं? क्या आप उन श्लोकों को क्षत्रियों पर नहीं लगने में कोई प्रमाण रखते हैं? यदि वे श्लोक स्वतन्त्रता को रोकते हैं तौ राजों की कन्याओं के स्वातन्त्र्य को भी रोकेंगे। इस लिये मन माना सिद्धान्त नहीं बन सकता कि राजकन्या स्वयंवर करें और अन्य कन्या न करें। शास्त्र में राजकन्या और अन्य कन्याओं के पतिवरण में भेद नहीं प्रतिपादित किया, न आप ने कोई ऐसा प्रमाण दिया॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० २२ से-

रामचन्द्र महाराज का १५ वर्ष की अवस्था में विवाह हुवा था यह वाल्मीकि से सिद्ध है और अभिमन्यु का भी थोड़ी ही अर्थात् १४ वर्ष की अवस्था में हुवा था इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तौ आप ने वे श्लोक भी नहीं लिखे जिन से रामचन्द्र और अभिमन्यु का १५। १४ वर्षों में विवाह पाया जाय। द्वितीय आप १५। १४ वर्ष की अवस्था में पुरुष के विवाह का कोई मनु धर्मशास्त्र का प्रमाण बताइये। यदि आप के लिखे अनुसार भी ब्रह्मचर्य का समय मानें तौ भी १७ वर्ष से पूर्व नहीं हो सकता। आप पृष्ठ ६० में ३० वर्ष के पुरुष को १२ वर्ष की, २४ वर्ष के को आठ वर्ष की कन्या बता चुके हैं, तथा पृष्ठ ६१ में सुश्रुत के मत से २५ वर्ष के को १२ वर्ष की बता चुके हैं तौ क्या रामचन्द्र और अभिमन्यु ने धार्मिक होकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिमत ब्रह्मचर्य काल को न माना सो न सही, परन्तु आप के अभिमत को भी नहीं

माना ? और रामचन्द्र जी ऐसा धर्मशास्त्र के विरुद्धाचरण करने पर भी मर्यादापुरुषोत्तम कहलाते रहे ? और क्या १५ वर्ष के रामचन्द्र को ५ वर्ष की ही सीता विवाही गई थी ? यदि नहीं तो फिर अवस्था का २४। ८ वा ३२। १२ वा २५। १२ में जो अन्तर आप के मत में भी पुरुष और स्त्री में रहना चाहिये, वह भी रामचन्द्र जी ने न माना ? और वाल्मीकीयरामायण में जो सीता और रामचन्द्र के युवति और युवा होने के चिह्न नीचे के श्लोकों में वर्णित हैं, वे क्या किसी आर्यसमाजी ने मिला दिये हैं ॥

वाल्मीकीयरामायण बालकाण्ड सर्ग ७२ श्लोक ७ कल्पतरुयन्त्रालय छापा मुम्बई सन् १८८९ में, वसिष्ठ व विश्वामित्र ने रामचन्द्र के वंशवर्णन (शाखोच्चार) के पश्चात् विवाह के पूर्व कहा है कि:—

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।

अर्थात् ये दशरथ के पुत्र रूप और यौवन से युक्त हैं॥ यदि १५ वर्ष की अवस्था रामचन्द्र जी की थी तो लक्ष्मण उन से भी छोटे थे, अतः उन से भी न्यून अवस्था थी । और चारों भाइयों का विवाह जनकपुरी में साथ ही हुआ था और इस श्लोक में दशरथ के चारों पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को यौवनशाली लिखा है तो विचारना चाहिये कि यौवन किस अवस्था का नाम है। सुश्रुत के मतानुसार—

आपञ्चविंशतेर्यौवनम् ॥ आषोडशाद्वृद्धिः । सूत्रस्थान अ० ३५

१६ वें वर्ष तक वृद्धि अवस्था तथा २५ वें तक यौवन होता है। फिर क्या वसिष्ठ विश्वामित्र अज्ञानी थे ? जो १५ वें वर्ष में रामचन्द्र को यौवनशाली कहते। और लक्ष्मण तो रामचन्द्र जी से भी छोटे थे फिर इन को यौवनशाली कैसे कहा जा सकता था ॥

अब जिन सीता आदि ४ कन्याओं का राम आदि ४ वरों से विवाह हुआ, उन की अवस्था का वर्णन सुनिये और देखिये कि आप की लिखी व्यवस्थानुसार विवाह से १। ३। ५ वा ७ वर्ष पश्चात् द्विरागमन पर्यन्त वे पिता के घर नहीं रहीं किन्तु उसी रामायण बालकाण्ड सर्ग ७७ श्लोक १४ में लिखा है कि:—

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ॥

अर्थात् भर्त्ताओं के साथ एकान्त देश में मुदित हुईं वे सब रमण करती

भईं। फिर क्या रामचन्द्र १५ वर्ष के ही एकान्त रमण करने लगे और लक्ष्मण यती इस से भी पूर्व ? और इस आप के हिसाब से लक्ष्मण की स्त्री ८।१० वर्ष की वय में ही ?। धन्य महाराज ! चाहिये तो यह था कि श्री रामचन्द्र आदि शिष्टों के मार्ग पर आप चलते, औरों को चलाते, उलटे आप रामचन्द्र जी को ही इस कलियुगी बालविवाह पर चलाने लगे। अथवा आजकल के लोगों की भांति रामलक्ष्मणादि की स्त्रियां भी–

बहू बड़ी, घर छोटे लाला

के समान थीं ? वा किन्हीं आर्यसमाजियों ने ये ऊपर लिखे श्लोक रामायण में मिला दिये वा क्या हुआ ? अब आप के लिखे १५ वर्ष कहां गये ?

और इसी प्रकार क्या अभिमन्यु ने भी धर्मशास्त्रों पर हरताल लगा कर १४ वर्ष की अवस्था में विवाह कर लिया था ?

द० ति० भा० पृ० ६५ पं० ९ से–इस समय सब लोग जो चारों वर्ण के हैं बहुधा बालकों को फ़ारसी पढ़ाते हैं और इस फ़ारसी ने ऐसी दुर्दशा करदी है कि थोड़ी अवस्था में ही बालक फ़ारसी के शेर ग़ज़ल दीवान आदि पढ़ कर कामचेष्टा में अधिक मन लगाते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–यह तो लोगों का अपराध है कि बालकों को ऐसे शेर ग़ज़ल दीवान पढ़ा कर बिगाड़ते हैं। शास्त्र का अपराध नहीं। आप से यह तो न बन पड़ा कि उपदेश और पुस्तक द्वारा इस कुशिक्षा को रोकते किन्तु इस से यह फल निकालने लगे। एक तो कुशिक्षा ही बालकों की दुर्दशा कर रही है, तिस पर बालविवाह का तुर्रा ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ६४ पं० ११ से—

जब ४८ वर्ष में (जो क्षीण अवस्था होती है) जैसा कि लिखा है कि– "चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किंचित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिः आपंचविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किंचित्परिहाणिश्चेति" अर्थ-इस शरीर की चार व्यवस्था हैं वृद्धि यौवन सम्पूर्णता और किञ्चित्परिहाणि। जन्म से लेकर १६ वर्ष तक वृद्धु अवस्था कहाती है अर्थात बढ़ती है और २५ से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त सम्पूर्णता अवस्था कहाती है पुनः ४० वर्ष से उपरान्त कुछ कुछ घटने लगती है व्याह किया तो दो तीन वर्ष उपरान्त ही पूर्ण जराग्रस्त पुरुष और पूर्ण युवावस्था युक्त स्त्री होती है तो बस "वृद्धस तरुणी विषम्" बुड्ढे को तरुणी विष है, वन की

तो बहुत प्रसंग आता ही नहीं, तब वे किसी और नवयुवा की खोज करके धर्मच्युत होती हैं, और जो यह कहो कि ब्रह्मचर्य से आयु बढ़ती है सो यह भी नहीं देखा जाता क्योंकि स्वामी जी ने तो पूर्णता से ब्रह्मचर्य धारण किया था, परन्तु अट्ठावन वर्ष की अवस्था में ही शरीर छूट गया यदि स्वामी जी का ४८ वर्ष में किसी बीस वर्ष की अवस्था युक्त स्त्री से विवाह होता तो वह विचारी अब शिर पटकती या नहीं। हां प्राणायाम सदाचार तपादि करने से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है केवल वेद वेद वाणी से कहने तथा श्रुतियें पढ़ने ही से धर्मात्मा नहीं होता॥

प्रत्युत्तर—यह लेख इस लिये व्यर्थ है कि जो कोई ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष रक्खेगा वह शीघ्र वृद्ध नहीं हो सकता। ४० वर्ष के ऊपर क्षीणता का वर्णन सामान्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने वालों के लिये है। प्रत्यक्ष है कि स्वामी जी महाराज ५९ वर्ष की आयु तक साधारण पहलवानों से अधिक बलिष्ठ जितेन्द्रिय रहे। आपने इसी पुस्तक के ११ वें समुल्लास पृष्ठ २९५ में स्वामी जी को विष दिया जाना लिखा है। तब क्या आप कह सकते हैं कि वे ५९ वें वर्ष में वृद्धावस्था के कारण समाप्त हुवे? कदापि नहीं, वे १०० वर्ष पर्यन्त जीते और जगत् का उपकार करते परन्तु शेष ४१ वर्ष के होने वाले जगदुपकारविरोधी किसी दुष्ट ने प्राण ले जगत् की हानि का अपराध शिर पर ले अपना काला मुंह किया, इस में ब्रह्मचर्य का क्या दोष है? और उन की वृद्धता किसी प्रकार सिद्ध नहीं। और आपने १६ से २५ तक यौवन अवस्था को अर्थ में छिपा दिया॥

द० ति० भा० पृ० ६४ पं० २६ से—

अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे।
क्षमा सत्यं दयाशौचतपतेषां न विद्यते॥ वाल्मी०

राक्षसों के घर में भी अग्निहोत्र और वेद थे परन्तु उन में क्षमा सत्य दया और पवित्रता और ज्ञान युक्त तप नहीं था इस से वे राक्षसत्व से मुक्त नहीं थे और यदि ब्रह्मचर्य ही आयु का वृद्धि करनेवाला होता तो स्वामी जी की आयु ४०० वर्ष की होती क्योंकि वे आपने को योगी भी तो मानते थे अथवा पूरे सौ ही वर्ष की होती जो ब्रह्मचर्य से ही आयु बढ़ती है तो आप का ब्रह्मचर्य ठीक नहीं और जो ब्रह्मचर्य ठीक तो आयु क्यों नहीं बढ़ी ब्रह्मचर्य से तो वीर्य की अधिकता होती है जिस से शरीर में पूर्ण बल

होता है जैसा योगशास्त्र में लेख है (ब्रह्मचर्याद्वीर्यलाभः) अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है हां योगाभ्यास प्राणायाम समाधी से आयु की वृद्धि होती है अन्यथा आयु पूर्वकर्मानुसार निर्णीत होती है जैसे नीति में लिखा है कि:—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पंचैतानीह सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

आयु कर्म धन विद्या मरण यह पांच वस्तु देही के गर्भ में ही नियत हो जाती हैं सब ही बात कर्मानुसार होती है इसीप्रकार जिस के कर्म में वैधव्य है क्या उसे कोई मेटने को समर्थ है यदि कर्म मिथ्या होजाय तौ जगत् की व्यवस्था ही मिटजाय यह मरण जीवन सब ही कर्मानुसार है। यदि बड़े हुवे विवाह हो तौ क्या बड़ी उम्र में कोई विधवा नहीं होती क्या बड़ी उम्र में विवाह करके कोई कर्मको मेटसकता है इस समय के विवाह और संयोग की रीति वाग्भट्ट के अनुसार होनी चाहिये क्योंकि कलियुग के वास्ते यही अधिकांश में प्रमाण है॥

अत्रिः कृतयुगे चैव त्रेतायां चरको मतः ।
द्वापरे सुश्रुतः प्रोक्तः कलौ वाग्भटसंहिता

सतयुग में अत्रिसंहिता त्रेता में चरकसंहिता द्वापर में सुश्रुत और कलियुग के लिये वाग्भट्ट संहिता है अब देखना चाहिये कि वाग्भट किस समय में स्त्री पुरुष का संयोग कथन करती है॥

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता ।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥१॥
वीर्यवंतं सुतं सूते ततोन्यूनाब्दतः पुनः ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥२॥

पूर्ण सोलह वर्ष की स्त्री बीस वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के साथ संग करने से शुद्ध गर्भाशय और गर्भाशय का मार्ग तथा रुधिर वीर्य और पवन हृदय में होने से स्त्री सामर्थ्यवान् पुत्र को प्रगट करै इससे न्यून अवस्था वाले पुरुष और स्त्रीके संयोग होनेसे रोगी और अल्पायु और दुष्ट बालक होताहै॥

प्रत्युत्तर—अग्निहोत्र और वेद राक्षसों के घर में दम्भपूर्वक दिखाने

को हो सकते हैं, श्रद्धापूर्वक नहीं। क्योंकि उन में श्रद्धा होवे तो उन के लेखानुसार क्षमा सत्य दया शौच और तप का भी धारण करें। तथा आपके पुराणों में तो रावण का भी उग्र तप करना और हिरण्यकशिपु राक्षस का तप करना तप करके मृत्यु न होने के लिये दिन रात्रि, देव मनुष्य पशु आदि से मृत्यु न होना, वर मांग कर अमर रहने का उद्योग करना, लिखा है। फिर आप किस प्रकार कहते हैं? और रामायण के श्लोक को कैसे मान सकते हैं? यदि स्वामी जी के पितृ पितामह भी ब्रह्मचर्य योगाभ्यासादि युक्त होते तो निस्सन्देह उन की अवस्था ४०० वर्ष वा ३०० की होती और विष न दिया जाता तो अब भी वे १०० वर्ष में वृद्ध होते। परन्तु ब्रह्मचारिवध से अपना काला मुख करने वाले को परलोक में नरकयातना जो भोगनी थी। (ब्रह्मचर्याद्वीर्यलाभः।) इस प्रकार योग में कोई सूत्र नहीं है किन्तु—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगशा० साधनपाद २ सूत्र३८

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा में वीर्य का लाभ होता है। वीर्य बल पराक्रम शौर्यादि को बढ़ाता है। जिस से आयु बढ़ती है। यदि ब्रह्मचर्य से नहीं बढ़ती किन्तु पूर्वजन्म के ही कर्मानुसार होती है तो आप ने पृष्ठ ६४ पं० २४ में क्यों लिखा है कि—

"प्राणायाम सदाचार तप आदि के करने से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है"

फिर आप "आयुः कर्म च०" इत्यादि श्लोक का यह तात्पर्य कैसे निकालते हैं कि आयु पूर्वजन्म के ही अनुसार हो सकती है। और ब्रह्मचर्य से बढ़ नहीं सकती। यदि नहीं बढ़ सकती तो आप के लिखे प्राणायामादि से भी नहीं बढ़ सकती। इस लिये इस श्लोक का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु नियत तो होती हैं, परन्तु उस के वर्त्तमान अति उग्र पुण्य वा पाप हो जावें तो वे नियत आयु आदि घट बढ़कर परमात्मा की ओर से फिर २ नियत होती रहती हैं॥

अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते।

जिस प्रकार एक पुरुष को एक वर्ष के कारागार का दण्ड नियत किया जावे और वह कारागार में रहता हुवा कोई अन्य अपराध कर बैठे तो दण्ड की अवधि बढ़ा दी जाती है और अच्छेप्रकार रहने से घटा भी दी जाती है।

किन्तु सदा उस समय तक किये कर्मानुसार नियत अवश्य रहती है। यदि आप आयु का बढ़ना असम्भव मानेंगे तो आप के मत में उन सब कथाओं से विरोध आवेगा जिन में अनेकों ने तप करके अपनी आयुर्वृद्धि मांगी हैं, तथा अमर होना तक आप के मतस्थ पुस्तक प्रतिपादन करते हैं, तथा वैद्यक के समस्त 'आयुष्य' नाम के योग (नुसख़े) और धर्मशास्त्र के समस्त 'आयुष्य' धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जावेंगे। और जितनी हिंसा होती हैं उन सब में कोई दोष ही न रहेगा। क्योंकि आयु प्राणिमात्र की नियत है, उस से पूर्व कोई किसी को नहीं मार सकेगा और जो मारेगा, वह मानों आप के मत में परमेश्वर का भेजा (जल्लाद) है। जो परमेश्वर की नियत की हुई अवधि पर उसे मारता है। और—

"नहीदृशमनायुष्यम्"

इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायंगे जिन में आयु घटने के दुष्कर्मों को 'अनायुष्य' कहा है॥ कर्म को कोई नहीं मेट सकता तो—

"अकालमृत्युहरणम्"

कहकर जो मन्दिरों में चरणामृत दिया जाता है सो भी असत्य है? यदि सत्य है और अकालमृत्यु से बचा सकता है तो आप का कहना ठीक नहीं कि आयु घट बढ़ नहीं सकती। और क्या ब्रह्मचर्य रूप दुष्कर तपश्चर्या चुल्लू भर जल और तुलसीपत्र की बराबर भी नहीं जो आयु को बढ़ासके? बहुत से पुजारी दूसरों को अकालमृत्यु हरण कहते २ स्वयं शीघ्र मर जाते हैं। और बड़ी उमर में विवाह होने से विधवा अवश्य न्यून होती हैं। मृत्यु के रजिस्टर से प्रमाण मिल सकता है कि बालक और वृद्ध अधिक मरते हैं, और युवा न्यून॥

आप का लिखा "अत्रिः कृतयुगे" इत्यादि श्लोक कौन से आर्षग्रन्थ का है जिसके अनुसार कलियुग में वाग्भट ही का वैद्यक माना जावे, और सुश्रुतादि का नहीं। तथा "कलियुगे" का अर्थ "कलियुग के लिये" कैसे हुवा। किन्तु "कलियुग में" होना चाहिये। हमारी समझ में तो उक्त श्लोक यदि माना जाय तो उस का अक्षरार्थ भी यह है कि सत्ययुग में अत्रिऋषि और त्रेता में चरक तथा द्वापर में सुश्रुत हुवे और कलियुग में वाग्भटसंहिता बनी। इस लिये यह कलियुगी संहिता उन ऋषियों के ग्रन्थों का विरोध करके नहीं माननी चाहिये जो प्राचीन युगों में हुवे हैं। और यदि थोड़ी

प्रत्युत्तर–जीवात्मा के स्वरूप को स्वामी जी ने सजन्मा नहीं कहा। अजन्मा स्वरूप से है और सजन्मा देहबन्धन से है। इस लिये परस्परविरोध नहीं। निद्रा मन की वृत्ति तो है परन्तु आत्मसहित शरीर में मन की वृत्ति है। न कि मृत अनात्मशरीर में, इस लिये जीवात्मा का निद्रा से संबन्ध कहा॥ वेदान्तसूत्र (तद्गुण०) का अक्षरार्थ आप ने कुछ नहीं लिखा, केवल वे समझे बूझे कहीं से नक़ल कर दी। यदि आप ने समझा है तो अक्षरों से वह अर्थ निकालिये॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्। वेदान्तदर्शने २।३।२९

इस का अर्थ सुनिये। इस से पूर्व सूत्र यह है–

पृथगुपदेशात् २।३।२८

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के पृथक् २ शास्त्रों में उपदेश होने से भेद है। अब यह शङ्का रही कि यदि दोनों भिन्न हैं तो दोनों को आत्मा क्यों कहते हैं। इस का उत्तर अगले सूत्र में दिया है कि–(तद्गुणसारत्वात्) परमात्मा के चेतनत्वादि धर्मों का साधर्म्य होने से (तु) तो (तद्व्यपदेशः) जीवात्मा को भी आत्मा शब्द से व्यपदिष्ट [वर्णित] किया जाता है। (प्राज्ञवत्) जैसा विद्वान् में॥

अर्थात् जैसे लोक में थोड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं और बड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं क्योंकि विद्या=जानना रूप साधर्म्य दोनों में है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म दोनों आत्मा कहाते हैं क्योंकि दोनों में चेतनत्वादि कई बातों की बराबरी (साधर्म्य) है। परन्तु जैसे विद्वानों में अल्पज्ञ बहुज्ञ का भेद होने से दोनों सर्वांश में बराबर नहीं हो सकते, इसी प्रकार जीवात्मा एकदेशस्थ होने से अल्पज्ञ और परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ है। इस लिये दोनों बराबर वा एक से नहीं हो सकते॥

द० ति० भा० पृ० २०३ पं० २ " ब्रह्माऽभिन्नत्वात् विभुर्जीवः ब्रह्मवत् "

प्रत्युत्तर–ऐसे न्याय हम भी घड़ सकते हैं कि–

" ब्रह्मभिन्नत्वात्परिच्छिन्नो जीवः परमाणुवत् "

अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न होने के कारण इसी प्रकार परिच्छिन्न=एकदेशीय है, जिस प्रकार एक परमाणु। और आप की यह शङ्का भी निष्फल है कि जीव परिच्छिन्न है तो वही जीव हाथी और वही चींटी में

कैसे आवेगा। क्योंकि देह के समान परिमाण वाला हम जीव को नहीं मानते, किन्तु परमाणु के प्रकार से इतना छोटा मानते हैं कि त्रसरेणु में भी आसके। और जीव का सुकड़ना फैलना भी हम नहीं मानते इस लिये विनाशी होने की शङ्का भी व्यर्थ है॥

इति जीवात्मनएकदेशीयत्वप्रकरणम्

——*:*:*——

अथोपादानप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० ५ में-प्रकृतिश्च=ब्रह्म ही उपादान वो निमित्त कारण मानो॥ इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-" प्रकृति " शब्द का अर्थ भी आप " ब्रह्म " करने लगे तब जितना अनर्थ हो सो थोड़ा है। सूत्र का अर्थ तो यही बनता है कि-

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। वेदान्तद० १। ४। २३

प्रकृति उपादान कारण है। इस का, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त (मृत्तिका,घट, कुम्भकार) में विरोध नहीं आता॥

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० ७ में-उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमऽविज्ञातं विज्ञातमिति। दृष्टान्त-एक के जानने से अन्य सब जाना जाता है वह उपादान कारण के जानने से सब का जानना संभव है॥

प्रत्युत्तर-आप का तात्पर्य यह है कि एक ब्रह्म के जान लेने से समस्त न सुनी बातें सुनली जाती हैं; सब न मानी हुई, मान ली जाती हैं और सब न जानी हुई, जान लीं जाती हैं। जैसे मिट्टी के जानने से घटादि समस्त कार्य जान लिये जाते हैं। इस लिये ब्रह्म उपादान है॥ उत्तर-ब्रह्म के जानने से सब का ज्ञान इस लिये नहीं होजाता कि वह सब का उपादान है, किन्तु इस लिये होजाता है कि ब्रह्म सब से सूक्ष्म है, जब उसे किसी ने जान लिया तो अन्य स्थूल पदार्थों का जानना किस गिनती में है? अर्थात् सब कुछ जान लिया॥ और उपादान कारण के ज्ञानमात्र से समस्त कार्यों का ज्ञान भी नहीं होता। देखो लोक में सुवर्ण को सब जानते हैं, परन्तु उस के कार्य अनेक प्रकार के आभूषणों को सुनार ही बना सकता है, सब नहीं। आटे को पीसना जो जानते हैं, वे रोटी उत्तम बनाना भी जानें, सो आवश्यक नहीं। पञ्चतत्त्व को जानने वाला पुरुष समस्त सृष्टि के कार्यों को नहीं जानता। कफ पित्त वात मात्र के जानने से सारी पृथिवी के मनुष्यादि की

सब अवस्थाओं का ज्ञान युगपत् (एक बारगी) एक पुरुष को नहीं होता। इस लिये चेतन परमात्मा के जानने से उस की कृपा द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है, परन्तु वह इतने से उपादान नहीं हो गया ॥

इसी प्रकार इस २०४ पृष्ठ के लिखे (मृत्तिका, पृथिवी) आदि दृष्टान्तों का उत्तर जानिये ॥

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० २४ (यतो वा इमानि प्रजानि प्रजायन्त) ००० "जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति" इस से यह सिद्ध किया है कि ऊपर के वाक्य में "यतः" पद में उपादान पञ्चमी है जो "जनिकर्त्तुः प्रकृतिः" इस सूत्र से विहित है। इस लिये जगत्कर्त्ता ब्रह्म ही उपादान है ॥

प्रत्युत्तर—पाठकों को यह (इमानि प्रजानि) अनोखा पाठ देख कर हंसी आवेगी। आज तक किसी ने प्रजा शब्द को नपुंसकलिङ्ग भी कहीं सुना है? अस्तु, शुद्ध पाठ तो उपनिषदों के पढ़ने वाले जानते हैं, परन्तु वास्तविक शङ्का का उत्तर यह है कि (यतः) पद में जो पञ्चमी है वह अवश्य उपादान में है, किन्तु "यतः" पद यहां प्रकृति जीवात्माओं सहित ब्रह्म का द्योतक है। केवल ब्रह्म का द्योतक नहीं, केवल ब्रह्म जगत् को रचता भी नहीं, इस लिये केवल ब्रह्म को जगदुपादान मानना अज्ञान है और नवीन वेदान्ती भी प्रकृति सहित अर्थात् मायासहित ब्रह्म को ही जगत्कर्त्ता मानते हैं, केवल को नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २०४ के अन्त और २०५ के आदि में (अभिध्योपदेशाच्च) सूत्र और उसी का खेंचातानी वाला तारा चन्द्रकृत भाषाटीका लिख दिया है ॥

प्रत्युत्तर—इस सूत्र का सर्वोपनिषत्सम्मत अर्थ यह है :—

अभिध्योपदेशाच्च । १ । ४ । २४

अभिध्यान अर्थात् ज्ञानपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति का उपदेश पाया जाता है। इस से जाना जाता है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान होता तो कार्य-जगत् भी चेतन होता, चेतन से जड़ोत्पत्ति असंभव है, इस लिये पूर्व सूत्रोक्त प्रकृति ही उपादान कारण है। इस से अगला सूत्र भी सुनिये—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् १ । ४ । २५

जन्म और नाश उभय=दोनों एक साक्षात् प्रकृति से सुने जाते हैं। यदि ब्रह्म से जन्म और नाश हो और वह उपादान माना जाये तो ब्रह्म में जन्म और नाश रूप विकार दोष आवे ॥

द० ति० भा० पृ० २०५ में ३ सूत्र और तारानाथीय अर्थ मांड दिया है। यथा-

स्वाप्ययात् १।१।९

ब्रह्म ही में सब का लय कहा है, तिस से भी प्रधान विश्वनिदान नहीं है॥

प्रत्युत्तर-ब्रह्म में आधाररूप से सब का लय है, न कि उपादान भाव से। इस लिये ब्रह्म निमित्त कारण है, उपादान नहीं और इस से ६ सूत्र पूर्व (तत्तु समन्वयात् १।१।४) कह चुके हैं, इस लिये प्रकृतिसहित वा प्रकृतिसमन्वित ब्रह्म का वर्णन है। इस से प्रकृतिरहित केवल ब्रह्म में उपादानत्व नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २०५ पं० २१ से:-

गतिसामान्यात् १०

जैसे नेत्रादि इन्द्रियां रूपादि में समान गति से वर्ते हैं, तैसे सब वेद ब्रह्म को ही जगत्कारण कहते हैं न कि तार्किकों के समान भिन्न कारण हैं। "यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति" "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इति" "आत्मनएवेदं सर्वमिति" "आत्मन एषः प्राणो जायत इति" जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारी निकलती है, इसी प्रकार आत्मा से प्राण प्राणों से देवता देवताओं से लोकादि प्रतिष्ठित है, उसी परमात्मा से यह आकाशादि उत्पन्न हुवा है। यह सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुवे हैं॥

श्रुतत्वाच्च ११

वेद से उपादान कारणकर्त्ता सब चेतन ही सुना है॥

प्रत्युत्तर-वेद में किस स्थान पर कहा है कि केवल ब्रह्म जगत् का उपादान है? कहीं नहीं। और प्रकृतिसहित ब्रह्म को उपादान और निमित्त क्रमशः मानने में आप के लिखे काष्ठसहित अग्नि की चिनगारी आदि के दृष्टान्त से कुछ दोष नहीं आता। अब यह सुनिये कि उपनिषद् में स्पष्ट निषेध किया है कि ब्रह्म का कोई कार्य नहीं। यथा-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(६।८)

भा०-(तस्य) उस का (कार्यम्) कार्य (च) और (करणम्) साधन

(न विद्यते) नहीं है । (तत्समः) उस के समान (च) और (अभ्यधिकः) उस से अधिक (न दृश्यते) नहीं दीखता । किन्तु, (अस्य) इस की (परा, शक्तिः) बड़ी, शक्ति (च) और (स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया) स्वाभाविक ज्ञान बल और क्रिया (विविधा, एव) विचित्र ही (श्रूयते) वेदों में वर्णित है ॥

इस में जो यह कहा है कि "उस का कार्य नहीं" इस से अद्वैतवादियों का ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान मानना विरुद्ध हुवा और "उस का साधन नहीं" इस से साकारवादियों का उस के हाथ पैर मानना विरुद्ध है॥६।८॥

—ശ:*:ശ—

अथ महावाक्याऽभासप्रकरणम् ॥

स्वामी जी ने लिखा है कि "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों की महावाक्य संज्ञा प्राचीन शास्त्रों में नहीं लिखी, इस पर द० ति० भा० पृ० २०१ पं० १८ से- " जैसे पाणिनी ऋषि के मत से वृद्धि शब्द परिभाषा से आ ऐ औ का बोध होता है वैसे व्यास, शङ्करस्वामी अद्वैत सिद्धान्ताचार्यों के मत में " महावाक्य " शब्द भी भेदभ्रमनिवारक वाक्यों में पारिभाषिक है । "

प्रत्युत्तर-यदि इन वाक्यों की वेदान्तसिद्धान्त में " महावाक्य " संज्ञा है तो क्या जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने-

वृद्धिरादैच् १ । १ । १५ ॥

इस सूत्र से आ ऐ औ की वृद्धिसंज्ञा की है, क्या इसी प्रकार इन वाक्यों की महावाक्य संज्ञाविधायक कोई वेदान्तसूत्रादि आप बता सक्ते हैं ? अथवा व्यास जी ने अपने वेदान्तदर्शन में अन्वर्थ संज्ञा मानकर भी कहीं "महावाक्य" शब्द का प्रयोग किया है ? यदि नहीं किया है तो स्वामी जी का कहना ठीक है कि ये वाक्य प्राचीन ऋषि मुनियों ने " महावाक्य " नाम से नहीं पुकारे हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २०१ में-एक यह दोष स्वामी जी के अर्थ में दिया है कि उन्हों ने कहीं तो "जीवात्मा में परमात्मा व्यापक" कहकर जीवात्मा को आधार और परमात्मा को आधेय कहा, और कहीं "मैं ब्रह्मस्थ हूं" कहकर ब्रह्म को आधार और जीव को आधेय कहा है । यह परस्पर विरोध है ॥

प्रत्युत्तर-यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तु आपस में व्याप्य व्यापक नहीं उन में आपस में दोनों की आधारता वा आधेयता असंगत होती है । परन्तु जिन में व्याप्य व्यापकता है, उन में विवक्षाधीन

दोनों को आधाराधेयता कही जा सक्ती है । हम दो दृष्टान्त देते हैं जिन से स्पष्ट समझ में आजायगा ॥

जैसे "नौका में पुरुष" व्याप्य व्यापक नहीं है । इस लिये नौका आधार और पुरुष आधेय ही रह सक्ता है, और पुरुष को आधार वा नौका को आधेय नहीं कह सक्ते । परन्तु दूसरे दृष्टान्त में जैसेः-" आकाश वा वायु में प्राणिवर्ग" यहां आकाश वा वायु व्यापक और प्राणिवर्ग व्याप्य है । तौ दोनों को परस्पर आधाराधेयता कही जा सक्ती है । अर्थात् प्राणिवर्ग में आकाश वा वायु है और आकाश वा वायु में प्राणिवर्ग है । इस लिये स्वामी जी का लिखना संगत और आप का असंगत हुआ ॥

द० ति० भा० पृ० २०८ पं० १३-१४ में-उद्दालक याज्ञवल्क्य के संवाद की श्रुति को, मैत्रेयी याज्ञवल्क्य के संवाद की वर्णन करी है ॥

प्रत्युत्तर-इस में सिद्धान्तहानि तौ कोई नहीं, केवल मनुष्यों के नाम की यदि भूल हो भी तौ चिन्ता नहीं । और आप तौ अभी पृ० २०० पं० ९ में गौतमसूत्र को " मनु जी ने " करके लिख चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २०८ में इतने तर्क और हैं १-यदि जीव निकटस्थ और दूसरे पदार्थ दूरस्थ और मुक्ति में साक्षात्सम्बन्ध और बन्ध में परम्परा सम्बन्ध और जीव के साथ रहने वाला है तौ ब्रह्म एकदेशी परिच्छिन्न क्रियावत् होगा ॥

२-और जो जीव को ब्रह्म का अविरोधी रूप अथवा ब्रह्म को जीव का अविरोधी रूप कहा, तौ क्या जीवभिन्न पदार्थ ब्रह्म के विरोधी हैं ?

३-वह एक अवकाश कौन है जिस में समाधिकाल में ब्रह्म और जीव स्थित हैं ?

प्रत्युत्तर-१-समीपता और दूरता यहां देशकृत नहीं, किन्तु विचारकृत है अर्थात् समझने वाला ब्रह्म के समीप और न समझने वाला दूर । साक्षात् सम्बन्ध भी जानने की अपेक्षा से ही है । और देश की अपेक्षा से तौ ब्रह्म सब में समन्वित है, किसी से पृथक् नहीं ॥

२-ब्रह्म का विरोधी कोई ऐसा नहीं जो उससे बलवान् हो और उस के दिये दण्ड को न भोगे । परन्तु स्वतन्त्रता से जो लोग पाप करते हैं वे परमात्मा के विरोधी वा अपराधी हैं और जो नहीं करते, वे अविरोधी कहे जा सक्ते हैं ॥

३-जीवात्मा और अन्य सब पदार्थ यद्यपि प्रतिक्षण ब्रह्म में ही रहते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य जानते और साक्षात् करते नहीं कि हम ब्रह्म

में हैं। और समाधिस्थ पुरुष साक्षात् करता है, इस लिये उस का विशेष रूप से यह कहना बन सक्ता है कि "मैं ब्रह्मस्थ हूं"॥

द० ति० भा० पृ० २०९ में (य आत्मनि तिष्ठन्०) इस उपनिषद्वाक्य के स्पष्टप्रतिपादित भेदवाक्य को औपाधिक भेद बताकर उस के उत्तरभाग में अभेद बताया है॥

प्रत्युत्तर-पूर्वभाग के भेद को औपाधिक भेद मानने में गमक कुछ नहीं दिया। पूर्व और उत्तर भाग को अर्थ सहित नीचे देखिये-

यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, यआत्मनोन्तरो यमयति, एषतआत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतःश्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातोविज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैषतआत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम् ॥ बृह० २३। अ० ५। ब्रा० ७ ॥

अर्थ-(य आत्मनि तिष्ठन्) जो परमेश्वर जीवात्मा में व्यापकता से स्थित हुवा (आत्मनोन्तरः) जीवात्मा के भीतर है (यमात्मा न वेद) जिस को अल्पज्ञ जीव नहीं जानता (यस्य आत्मा शरीरम्) आत्मा, जिस का शरीरवत् रहने की जगह है, (य आत्मनः अन्तरः) जो जीवात्मा के भीतर (यमयति) इसे नियम में चलाता है (एषः अमृतः आत्मा) यह अमर परमात्मा (ते अन्तर्यामी) तेरा अन्तर्यामी है। [यहां तक पूर्वार्ध का स्पष्ट भेदवाद है कि जिस के औपाधिक मानने का कोई हेतु नहीं क्योंकि उपाधि परिछिन्न पदार्थ में हो सकती है, अपरिछिन्न विभु परमात्मा उपाधि से अतीत है। अब उत्तरार्ध का अर्थ सुनिये जिस से आप अभेद प्रतिपादन करते हैं] (अदृष्टो द्रष्टा) जो परमात्मा देखने में नहीं आता पर सब को वह देखता है (अश्रुतः श्रोता) जो शब्द के समान कान का विषय नहीं पर वह सब को सुनता है (अमतः मन्ता) वह मन का विषय नहीं पर वह सब को मानता है (अविज्ञातः विज्ञाता) वह बुद्धि का विषय नहीं पर सबको जानता है (अतः अन्यः) इस के अतिरिक्त कोई (द्रष्टा न अस्ति) सर्वदर्शी नहीं है (अतोन्यःश्रोता नास्ति) न इस के अतिरिक्त कोई सब को सुनने वाला है (अतोन्योमन्ता नास्ति) न इस से पृथक् कोई सब का मानने वाला (अतोन्योविज्ञाता नास्ति) और न इस से भिन्न कोई सर्वज्ञ है।

(एषअमृतः आत्मा) यह अमर परमात्मा (ते अन्तर्यामी) तेरा [जीवात्मा का] अन्तर्यामी है। (अतोऽन्यदार्त्तम्) इस से भिन्न सब चल पदार्थ हैं, यही एक निश्चय है॥ अब विचारिये कि इस में अभेद की कौन सी बात है?

द० ति० भा० पृ० २१०–१११ में "तत्त्वमसि" वाक्य को अभेदप्रतिपादक जताने के लिये छान्दोग्यउपनिषद् का समस्त प्रकरणवाक्य लिखा है।

प्रत्युत्तर–आप उस के भी अर्थ को सामने रक्खें तौ अभेद सिद्ध नहीं होता। यथा–

अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषोणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं सआत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥ छा० उ० अ० ६

(सौम्य) हे सौम्य! (अस्य प्रयतः पुरुषस्य) इस मरते हुवे मनुष्य की (वाक् मनसि संपद्यते) वाणी मन में लीन हो जाती अर्थात् बोलना बन्द हो जाता है, परन्तु मन से बोलने की इच्छा रहती है। फिर (मनः प्राणे) मन प्राण में लीन हो जाता है। (प्राणस्तेजसि) प्राण तेज में लीन हो जाता है। फिर (तेजः परस्यां देवतायाम्) तेज परले देवता में अर्थात् दो [जीवात्मा व परमात्मा] में से परले परमात्मा देवता में लीन हो जाता है। (यः एषः) जो यह परमात्मा है (सः अणिमा) वह अति सूक्ष्म है (इदं सर्वम्) यह सब जगत (ऐतदात्म्यम्) इस से व्याप्य है अर्थात् यह परमात्मा सब का आत्मा=व्यापक है (तत् सत्यम्) वह सब काल में एकरस है, (सः आत्मा) वह विभु है, (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु! (तत्) तत्स्थ (त्वमसि) तू है॥

यह तौ वह अर्थ हुवा जिस से स्वामी जी महाराज का लिखा तात्स्थ्योपाधि वाला अर्थ ठीक घट जाता है। और यही यथार्थ है भी॥ परन्तु यदि आप को तात्स्थ्योपाधि लगाना नहीं रुचता और गौरव जान पड़ता है तौ हम एक और अर्थ दिखलाते हैं, उस से भी अभेदवाद नहीं रहता, न तात्स्थ्योपाधि लगानी पड़ती है। सुनिये–

"इस मरते हुए मनुष्य की वाणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परमात्मा में। परन्तु (सः यः एषः अणिमा) वह जो कि अत्यन्त सूक्ष्म जीवात्मा है (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्) वह सब का

जाति होने से आत्मा है अर्थात् आत्माओं के विना कोई शरीर कभी स्थिर नहीं रह सकता। (तत्सत्यम्) वह अविनाशी है अर्थात् लीन नहीं होता (सः आत्मा) वह आत्मा कहाता है। (श्वेतकेतो ! तत्त्वमसि) हे श्वेतकेतु ! तू वह है। अर्थात् तू देह नहीं, तू आत्मा अजर अमर है, शरीरस्थ जरामरण का तुझे भय नहीं ॥ इस में न तात्स्थ्योपाधि है, न अभेदवाद है। इस लिये यदि आप को स्वामी जी लिखित अर्थ में तात्स्थ्योपाधि के समझने में कठिनता हो तो आप इस अर्थ से सन्तोष करें। परन्तु अभेद के भ्रम में न पड़ें ॥ आप लीन का अर्थ यह समझते हैं, जैसे पानी में पानी मिल जावे और हम यह समझते हैं कि जैसे पानी में मीठा घुल जावे। पानी मीठेका उपादान नहीं, पर आधार है ॥

द० लि० भा० पृ० २११ में इस ऊपर वाले उपनिषद् वाक्यस्थ "ऐतदात्म्यम्" पद का शङ्करभाष्य और उस का भावार्थ लिखा है परन्तु शङ्कराचार्य स्वयं इस प्रकरण के साध्य पक्ष में हैं इस लिये उन का लेख ही प्रमाण में नहीं देना चाहिये था ॥

द० ति० भा० पृ० २१३ पं० १० में– कार्योपाधि तत्संस्कार विशिष्ट सदंश है सो तो जीव और कारणोपाधिविशिष्ट सदंश परमेश्वर है ॥

प्रत्युत्तर–इस लेख से अद्वैत को द्वैतापत्ति आती है। अर्थात् जितना सदंश=ब्रह्मांश कार्य मन आदि उपाधि से उपहित=घिरा है उतना अंश जीव कहाता और जितना ब्रह्मांश कारणोपाधि अर्थात् प्रकृति से घिरा हुआ है उतना परमेश्वर कहाता है। तो यहां ब्रह्म से प्रकृतिपदार्थ वा कारणपदार्थ भिन्न सिद्ध है।"महावाक्य" नाम धरने की कोई परिभाषा वेदान्तियों के किसी ग्रन्थ से आपने न दिखाई और लिख दिया कि यह पारिभाषिक शब्द है ॥

प्रज्ञानं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म

इन दोनों वाक्यों का अर्थ तो किसी प्रकार की भ्रान्ति से भी अभेदप्रतिपादक नहीं। सीधा अर्थ यह है कि " ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञान वाला है " तथा "यह आत्मा=[सर्वत्रातति व्याप्नोति सः] ब्रह्म है " ॥

द० ति० भा० पृ० २१४ में जो लेख है उस का संक्षिप्त आशय यह है कि–

अनेनात्मना जीवेनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छां० ६।३।२ तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तै० ब्रह्मानन्दवल्ली। अनु० ६

इन वाक्यों में " अनु " की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और कर्मप्रवचनीय के योग में अष्टाध्यायी महाभाष्यानुसार द्वितीया विभक्ति होती है। सो "अनु" का अर्थ "लक्षण" है। "पश्चात्" अर्थ नहीं है ॥

प्रत्युत्तर-अनुर्लक्षणे १। ४। ८४ सूत्र से लक्षणार्थ " अनु " कर्मप्रवचनीय होता है। और [कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया] २। ३। ८ से द्वितीया विभक्ति होती है। परन्तु मूल वाक्य (अनेनात्मनाजीवेनानुप्रविश्य) में तृतीया विभक्ति है। जो सह=साथ के अर्थ में है। इस से जाना जाता है कि "अनु" का यहां लक्षण अर्थ नहीं किन्तु स्वामी जी के कथनानुसार " पश्चात् " अर्थ है। यदि आप के लेखानुसार लक्षण अर्थ और कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती तो द्वितीया विभक्ति होती, जो कि प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं है ॥

दूसरे तैत्तिरीय के वाक्य में जो द्वितीया "तत्" है, वह कर्मप्रवचनीययुक्त में द्वितीया नहीं है किन्तु "अनुप्राविशत्" का कर्म होने से-

कर्मणि द्वितीया २। ३। २

इस सूत्र से द्वितीयाविभक्ति है, इस लिये आप का लक्षणार्थ मानना अयुक्त है।

द० ति० भा० पृ० २१५ में-आत्मैवेदमग्रे० इत्यादि बृहदारण्यक वाक्य से अभेद प्रतिपादित किया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ सुनिये-

आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः सोनु वीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोहंनामाऽभवत् ॥

बृह० अ० ३० ब्रा० ४

अर्थात् (पुरुषविधः आत्माएव) व्यापक स्वरूप आत्मा ही (अग्रे आसीत) सृष्टि के आरम्भ में था (सः) उसने (इदम् अनुवीक्ष्य) इस उत्पद्यमान जगत् को देखकर (आत्मनः अन्यत्) अपने से अन्य अपने समान को (न अपश्यत्) न देखा और (अग्रे सोहमस्मि इति व्याहरत्) प्रथम वह परमात्मा मैं हूं, यह कहा (ततः) तब (अहंनामा) अहङ्कारतत्त्व (अभवत्) उत्पन्न हुआ ॥

इस में स्पष्ट इदम् पदवाच्य जगत् को देखना लिखा है इस लिये "अपने अतिरिक्त और कोई नहीं देखा" का यही तात्पर्य समझना चाहिये कि अपने अतिरिक्त जगत् को देखा परन्तु दूसरे परमात्मा को न देखा ॥ अब इस वाक्य से अभेद समझना बेसमझी की बात है ॥

द० ति० भा० पृ० २१६ में स्वामी जी लिखित (जीवेशौ च विशुद्धा चित्० और-कार्योपाधिरयं जीवः०) इन दोनों श्लोकों को लिखा है कि स्वामी जी इन को संक्षेप शारीरक और शारीरकभाष्य में कारिका लिखते हैं । परन्तु ये दोनों श्लोक उक्त ग्रन्थों में नहीं किन्तु पहला तौ वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य का है, दूसरा आथर्वणोपनिषद् का है ॥

प्रत्युत्तर-और आपने जो पृ० २०० पं० ९ में गोतमसूत्र को मनु कह कर लिखा है वहां आपने क्या मनु का दर्शन नहीं किया था । यदि मूल पुस्तक संक्षेप शारीरक और शारीरकभाष्य में ये श्लोक न भी हों तौ किसी लिखित पुस्तक पर टिप्पणी की रीति पर लिखे होंगे और स्वामी जी ने पूर्व काल में नवीन वेदान्त पढ़ते समय देखे होंगे । जब कि ये दोनों श्लोक ऐसे ग्रन्थों में उपस्थित हैं जिन्हें आप मानते हैं, तौ आप इन के खण्डन का समाधान करते तब आप का पक्ष सधता । परन्तु ग्रन्थ के नामभेद मात्र का उलाहना देने से काम नहीं चलता ॥

स्वामी जी ने (अथोदरमन्तरं कुरुते०) इस के अर्थ में लिखा है कि जो परमात्मा को न माने वा उस की आज्ञा गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध होवे० इत्यादि । इस पर द० ति० भा० पृ० २१७ पं० १९ में लिखा है कि " भला इस में जीव परमेश्वर का निषेध देशकाल परिच्छिन्न गुण कर्म स्वभाव। यह कहां से लिख दिये ॥

प्रत्युत्तर-यह " अन्तर " शब्दार्थ का प्रपञ्च है । अन्तर विचार के भेद को कहते हैं। ब्रह्म से अन्तर अर्थात् विचारभेद रखना कि उस से हम को अन्तर है, वह हमारा उपास्य नहीं वा हमें उस के गुण कर्म स्वभावानुसार अपने गुण कर्म स्वभाव सुधारने की आवश्यकता नहीं इत्यादि अन्तर शब्द से तात्पर्य है । आप के समझने के लिये लौकिक दृष्टान्त उपयुक्त होगा कि जैसे कोई शिष्य अपने गुरु से अन्तर रक्खे अर्थात् उस की आज्ञा न माने वा उस से कुछ छिपाना चाहे । इत्यादि अन्तर कहाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ११७ में फिर एक वाक्य लिखा है और अभेद सिद्ध किया है । वह वाक्य यह है-

अभयं वै जनक प्राप्तोसि तदात्मानमेव वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वमभवं तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतइति॥

प्रत्युत्तर-इस का भी यही अर्थ है कि " हे जनक ! तू अभय को प्राप्त

है और मैं आत्मा को जानता हूं कि "मैं ब्रह्मस्थ हूं" इस से "सर्वस्थ हूं" उस में शोक क्या और मोह क्या, एकत्व को देखते हुवे को"॥

अर्थात् जीवात्मा की परमात्मा के साथ जब एकता=मित्रता अनुकूलता हो जाती है तब क्या शोक मोह कहां रह सकते हैं? इस वाक्य में अन्तिमभाग वेदवाक्य उद्धृत किया हुआ है और वह वेदमन्त्र यजुर्वेद का ४०।७ वां यह है-

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

और इस से भी पूर्व का मन्त्र यह है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥४०।६॥

अब दोनों मन्त्रों का अर्थ क्रमपूर्वक देखिये तो यह होता है कि "जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है तब वह संशय में नहीं पड़ता॥६॥ और जिस ज्ञानी की दृष्टि में सब प्राणी अपने समान हैं उस एकता देखने वाले में शोक और मोह क्या?॥७॥

यदि इस में तत्तुल्य अर्थ न लगावें और सब आत्मा ही आत्मा समझें तो "सब में" यह अधिकरणसप्तमी उपपन्न न हो सके॥

द० ति० भा० पृ० २१७ में-शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्॥ उ० प्र० अ० पा० १ जैसे तत्त्वमसि इस वाक्य को देख कर वामदेव ऋषि ने कहा है कि मैं ही मनु सूर्य और कक्षीवान् हुआ था तैसा ही इन्द्र ने कहा है कि मैं ज्ञान रूप हूं तू इसी की उपासना कर (अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानित्यादि०)

प्रत्युत्तर-जिन "तत्त्वमसि" और "अहं मनुरभवं०" से आप इस सूत्रार्थ को जोड़ते हैं वह वाक्य और वेदमन्त्र इस से संबद्ध नहीं है। तत्त्वमसि वाक्य श्वेतकेतु के प्रति और जनक के विषय में है। वामदेव के विषय में नहीं। और "अहंमनुरभवं०" यह ऋग्वेद ४।२६।१ का मन्त्र है जिस में वामदेव का वर्णन नहीं, क्योंकि सायणादि सब टीकाकार भी इस मन्त्र का इन्द्र देवता मानते हैं, वामदेव देवता नहीं। और निरुक्त में लिखा है कि-

या तेनोच्यते सा देवता

जिस पदार्थ का मन्त्र ने वर्णन किया हो, वह उस मन्त्र का देवता कहाता

है। बस, जब इस मन्त्र का इन्द्र देवता है तो इस में इन्द्र=परमेश्वर का वर्णन है, वामदेव ऋषि का नहीं। हां, वामदेव इस मन्त्र का द्रष्टा अर्थात् मन्त्र का ऋषि है। और निरुक्त के अनुसार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं, न कि वाच्यार्थ। और देवता मन्त्र का वर्णनीय पदार्थ होता है। तदनुसार इस मन्त्र में इन्द्र का वर्णन है। वामदेव का नहीं। अब मन्त्र का अर्थ सुनिये-

अथ सप्तर्चस्य षड्विंशतितमस्य सूक्तस्य वामदेवऋषिः। इन्द्रोदेवता। तत्राद्यायाः पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमःस्वरः॥

अहंमनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।

(इत्यादि) ऋ० ४। २६। १

हे मनुष्यो! (अहम्) मैं इन्द्र=ईश्वर (मनुः) विचारवान् (सूर्यश्च) और प्रकाशक (अभवम्) हूं और (अहम्) मैं (कक्षीवान्) संपूर्ण सृष्टि की कक्षा अर्थात् परम्पराओं से युक्त (ऋषिः) वेदज्ञ (विप्रः) विद्वान् हूं॥ अब अपने सूत्र का अर्थ सुनियेः-

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशोवामदेववत्॥

अर्थात् जैसे वामदेवदृष्ट मन्त्रों के देखने से किसी को यह भ्रम हो कि इन मन्त्रों में वामदेव अपने को परमात्मा वा इन्द्र कहता है, इसी प्रकार अन्य वेदमन्त्रों=शास्त्रों में जानो। अर्थात् यह भ्रम है कि शास्त्र के द्रष्टाओं को शास्त्र का कर्त्ता मान कर यह समझना कि वह २ ऋषि अपना वर्णन करता है। किन्तु उस २ ऋषि ने शास्त्र=वेद को देख कर अन्यों को उपदेश किया है, जैसा कि वामदेव ने॥

द० ति० भा० पृ० २१८ पं० १४ में (एकं रूपं बहुधा यः करोति)

प्रत्युत्तर-इस से क्या अभेद सिद्ध हुवा कि "जो एक रूप को बहुत प्रकार का करता है" अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व एक कारण था, उस को परमात्मा ने बहुत कार्यरूपों में परिणत कर दिया॥

अथ वेदप्राप्तिप्रकरणम्॥

द० ति० भा० पृ० २१८ से २२० तक यह सिद्ध करने को कि वेद ब्रह्मा पर प्रकट हुवे और अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा पर नहीं हुवे, प्रथम कई

प्रमाण इन विषय में दिये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ही उत्पन्न हुवे, अग्न्यादि नहीं। पहला प्रमाण अथर्ववेद १९। २३। ३० का यह है—

ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोह जज्ञे—सब प्राणियों में ब्रह्माजी प्रथम उत्पन्न हुवे।

प्रत्युत्तर—मन्त्र तौ आपने पूरा लिखा पर अर्थ केवल तृतीयपाद का लिखा, यदि चारों पादों का अर्थ लिखते तौ ज्ञात होजाता कि इस में ब्रह्मा ऋषि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है और न वेद में अन्यत्र कहीं किसी ऋषि के जन्म मरणादि का वृत्तान्त हो सकता है। इस का अर्थ सुनिये॥

(ब्रह्म) ब्रह्मा=परमात्मा ने (ज्येष्ठा) ज्येष्ठानि=बड़े (वीर्याणि) पुरुषार्थ सामर्थ्य (संभृत) धारण किये हैं (ब्रह्म) परमात्मा ने (अग्रे) आरम्भ में (ज्येष्ठं दिवम्) बड़े द्युलोक को (आततान) विस्तृत किया है (ब्रह्मा) परमात्मा (भूतानाम्) पञ्चमहाभूतों के मध्य में (प्रथमः ह) पूर्व प्रसिद्ध (जज्ञे) साक्षात् हुवा (तेन ब्रह्मणा) उस ब्रह्म के साथ (कः स्पर्धितुम् अर्हति) कौन स्पर्धा कर सकता है ? कोई नहीं॥

इस में ब्रह्मा ऋषि का नाम तक नहीं आता। ब्रह्म शब्द नपुंसकलिङ्ग तौ ३ बार और पुंल्लिङ्ग १ बार आया है॥

२—प्रमाण मनु का दिया है कि—"तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः"

प्रत्युत्तर—इस का उत्तर देना इस लिये यद्यपि अनावश्यक है कि ब्रह्मा के आरम्भ में उत्पन्न होना सिद्ध होने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वेद भी उसी के हृदय में परमात्मा ने प्रकट किये, परन्तु आप जो मनु का आधा श्लोक प्रमाण देते हैं इस का प्रसङ्ग पीछे से लगाया जाय तौ पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा ऋषि का वर्णन यहां मनु में नहीं पाया जाता। न कमल से उत्पन्न ब्रह्मा का वर्णन है। किन्तु—

सोभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाःप्रजाः। अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥८॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥९॥ अ०१

(स्वात्) अपने [स्व स्वामि संबन्ध से] (शरीरात्) शीर्ण होने वाले

उपादान कारण तत्त्व से (विविधाः प्रजाः सिसृक्षुः सः) विविध प्रजाओं को रचना चाहने वाले उस परमात्मा ने (अपः एव आदौ ससर्ज) अप् को ही प्रथम रचा (तासु) और उन अप् में (बीजम् अवासृजत्) बीज बोया यहां शरीर शब्द से उपादान कारण का ग्रहण है। परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी है। इस लिये उसे " परमेश्वर का " कहा गया है ॥ ८॥ (तत् सहस्रांशुसमप्रभं हैमम् अण्डम् अभवत्) वह सूर्य के समान चमकीला तेजोमय गोला होगया और (तस्मिन्) उस ब्रह्माण्डनामक गोले में (सर्वलोकपितामहः) सब लोक का पितामह (ब्रह्मा) प्रकृतिसहित परमात्मा (जज्ञे) प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अर्थात् प्रकृति भी पहले अव्यक्त थी, अब व्यक्त हुई। और परमात्मा भी अब प्राकृत जगत् द्वारा जानने योग्य हुवा ॥ हम ने यहां " प्रकृति सहित परमात्मा " यह " ब्रह्मा " शब्द का अर्थ किया है सो अपनी ओर से नहीं, किन्तु १० वें श्लोक में नारायण शब्द का अर्थ करके मनु ही ब्रह्मा शब्द का अर्थ बतलाने के लिये ११ वां श्लोक लिखते हैं। यथा—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(यत् तत्) वह जो (नित्यं, सदऽसदात्मकं, कारणम्, अव्यक्तम्) नित्य, सत और असत् की प्रकृति भूत, उपादान कारण, अव्यक्त=अप्रकट सूक्ष्म है (तद्विसृष्टः सः पुरुषः) उस कारण से संयुक्त वह पुरुष (लोके) संसार में (ब्रह्मा इति कीर्त्यते) " ब्रह्मा " इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

अब आप क्या कह सकते हैं? जो कि आप ने आधा श्लोक इस रहस्य के छिपे रहने के लिये नहीं लिखा था ?

३–फिर मुण्डकोपनिषद् का वचन लिखा है। यथा–

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥

प्रत्युत्तर–इस में भी ब्रह्मा ऋषि का वर्णन नहीं किन्तु ब्रह्मा परमात्मा का नाम है। क्योंकि "ब्रह्मा देवतों में प्रथम है जो सब का कर्त्ता और जगत् का रक्षक है " इस में यदि पुराणप्रतिपादित ब्रह्मा का वर्णन होता तो " सब का कर्त्ता " तो कहा जाता परन्तु "सब का रक्षक" न कहते। क्योंकि पुराणानुसार ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षक है ॥

४–यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ श्वे० ३।४॥

प्रत्युत्तर-" जो देवतों के उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है, सर्वेश्वर, दुष्टदमन और अनन्तज्ञान वाला है, सृष्टि के आरम्भ में जिस ने " हिरण्यगर्भ " को उत्पन्न किया वह हम को पवित्र बुद्धि से युक्त करे ॥ "

इस में हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मा का नहीं किन्तु उसी मनुलिखित ब्रह्माण्ड पिण्ड गोले का नाम हिरण्यगर्भ है ॥

५-आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् । कपि० सू०

यहां (ब्रह्मा से लेकर) इस शब्द से ही ब्रह्मा का सृष्टि की आदि में होना सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर-सूत्र में ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि कही गई है । इस का तात्पर्य यदि आप समय पर लगाते हैं कि आरम्भ काल में ब्रह्मा हुए तो प्रलय के समीप काल में " स्तम्ब " होगा । अब कृपया बताइये कि स्तम्ब कौन सा ऋषि वा अवतार होगा और उस का वर्णन पुराणादि में कहां किस प्रकार लिखा है ? कहीं नहीं । यथार्थ में यहां सृष्टि के दो पदार्थों का वर्णन है, एक बहुत बड़ा और दूसरा बहुत छोटा । ब्रह्मा=ब्रह्माण्डपिण्ड जो बहुत बड़ा पदार्थ है उस से लेकर स्तम्ब=अङ्कुर पर्यन्त जो बहुत छोटा पदार्थ है । स्तम्ब कोई जङ्गम पदार्थ नहीं । अमरकोष वैश्यवर्ग श्लोक २१ में

स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः

तृणादि के गुच्छे को स्तम्ब कहा है। और अमरकोष वनौषधिवर्ग श्लोक ९ में-

अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ

यहां बीज में अङ्कुर ही उगा हो और काण्ड शाखादि न हों उस का नाम स्तम्ब है। तो आप के विचारानुसार यह तात्पर्य हुवा कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा और अन्त में स्तम्ब उत्पन्न होगा। जिस का वेद पुराण ज्योतिषादि किसी में कोई साक्ष्य नहीं। इस लिये ब्रह्मा=ब्रह्माण्ड से लेकर तुच्छ अङ्कुर=स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि का सूत्र में वर्णन है। ब्रह्मा ऋषि का नहीं ॥

६-सकलजगताम्० इत्यादि पराशर सूत्र का प्रमाण दिया है। जो वेद-वेदाङ्ग उपाङ्गादि प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है ॥

निदान हम यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा अमैथुनी सृष्टि में नहीं हुवे, परन्तु आप के लिखे प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता । दूसरा भाग वेदप्राप्ति

विषय में यह है कि वेद ब्रह्मा ऋषि के द्वारा प्रकट हुवे, अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा द्वारा नहीं। इस विषय में द०ति०भा०पृ० २२० में वही श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण दिया है कि—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इत्यादि। यद्यपि इस का उत्तर स्वामी जी ने मनु के प्रमाण से स्वयं देदिया है, परन्तु हम भी आप के ज्ञापनार्थ इस वाक्य का पूरा अर्थ लिखे देते हैं। यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेता० ६। १८)

"जो आदि में ब्रह्मा=वेदवेत्ता को बनाता और उस के लिये वेदों का प्रदान करता है, निश्चय उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक देव को मैं मोक्षार्थी शरण आता हूं" इस में ब्रह्मा का अर्थ वेदवेत्ता ऋषिसामान्य करो तभी—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

इस मनु के कथन से विरोध हटेगा, अन्यथा नहीं। और ब्रह्मा पद यहां जात्यभिप्राय में बहुवचन की जगह एकवचन जानना चाहिये। आप ने अपने पक्ष को पुष्ट करते हुवे मनु के श्लोकस्थ "दुदोह" इस क्रिया का कुछ भी ठिकाना नहीं लगाया, क्या आप उसे नहीं मानते?

द० ति० भा० पृ० २२१ में (यस्मिन्नश्वासः) इत्यादि ऋ० १०। ९१। १४ मन्त्र में आये (वेधसे हृदा मतिं जनये) इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद प्रकट करना बतलाया है॥

प्रत्युत्तर—'वेधस्' शब्द वेद में ब्रह्माऋषि का वाचक नहीं किन्तु निघण्टु ३। १५ में मेधावी=विद्वान् का नाम वेधाः है। तदनुसार यह अर्थ हुआ कि परमात्मा उन मेधावी पुरुषों के हृदय में वेदों का प्रकाश करते हैं, जो पूर्वकल्प कृतकर्मानुसार धारणावती मेधा=बुद्धि से सम्पन्न हों॥

द० ति० भा० पृ० २२१ में (अग्निर्देवता०) इत्यादि यजुः १४। २० से बतलाया है कि अग्नि ऋषि नहीं किन्तु देवता है॥

प्रत्युत्तर—यहां अग्नि, वायु, सूर्यादि जड़ पदार्थों का प्रकरण है और भला वेद में किसी ऋषिविशेष अग्न्यादि का वर्णन आता ही क्यों। क्या यह नियम है कि वेद में वा अन्यत्र जो नाम किसी जड़ पदार्थ का हो, वह नाम किसी मनुष्य का न हो। यदि ऐसा होता तो ज्वाला=अग्निलपट जड़ पदार्थ का नाम है, बस ज्वाला देवी का नाम वा मनुष्यादि का नाम न होना चाहिये।

द० ति० भा० पृ० २२२ में शतपथब्राह्मण के पाठ में जो पूर्व छपे सत्यार्थ-प्रकाशों में पाठभेद होगया था, उस का उलाहना देकर स्वयं (तेभ्यस्तप्तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ का पाठ लिख कर अर्थ किया है कि "अग्नि वायु आदित्य इन तीन तपस्वियों से तीनों वेद ऋग्यजु साम प्रकाश हुवे"

प्रत्युत्तर-ठीक है "जादू तो वह जो शिर पै चढ़के बोले" आपने भी अग्नि वायु आदि तपस्वी महात्मा ही वेदों के ऋषि लिखे। अब विवाद ही क्या है॥

आगे जो आप लिखते हैं कि (अर्थात् वेदत्रयविहित कर्मों का प्रचार हुवा) सो आप की टिप्पणी हमारे पक्ष की हानिकारक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २२२ पं० १९ में (दुदोह) क्रिया को धातुओं के अनेकार्थ होनेसे ददौ=दानार्थ लिखाहै कि ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्यको वेद दिये॥

प्रत्युत्तर-महाभाष्य (अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति) ६ । १ । १ के अनुसार जब धातु के प्रसिद्ध अर्थ से समन्वय=ठीक सङ्गति नहीं मिलती तब किसी अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना की जातीहै और यह नहीं कि "अश्वो घासं खादति" का यह अर्थ कर लिया जावे कि घोड़ा घास खोदताहै, किन्तु घोड़ा घास खाता है, यही अर्थ किया जाता है । जब कि "अग्निवायुरविभ्यः" इस को पञ्चमी विभक्ति मानते हुवे "दुदोह" का अर्थ प्रपूरण प्रसिद्धार्थ ठीक घट जाता है कि ब्रह्मा ने अग्नि आदि से वेदों को प्रपूरित किया । तब शतपथानुसार भी वही सङ्गति लगगई। अब अनेकार्थ कल्पना गौरव और व्यर्थ है ॥

द० ति० भा० पृ० २२२ में लिखे (तदण्डमभवत्) का अर्थ हम पूर्व कर चुके हैं ॥ और उसी से द० ति० भा० पृ० २२३ में लिखे मनु के दो श्लोकों का उत्तर आ चुका कि मनु में जो श्लोक ९ में ब्रह्मा का वर्णन है वह व्यक्ति विशेष वा ऋषिविशेष का नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २२३ में (स ब्रह्मवि०) इत्यादि मुण्डकोपनिषद् से यह दिखाया है कि ब्रह्मा ऋषि ने अपने बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या पढ़ाई, उस ने अङ्गिरा को, उस ने भरद्वाज को । इत्यादि ॥ इस में अङ्गिरा को शिष्य कहा है, स्वामी जी गुरु बताते हैं । यह आशय है ॥

प्रत्युत्तर-क्या एक नाम के अनेक ऋषि अनेक वा एक समय में नहीं होते ? जिस अङ्गिरा पर वेदों का परमात्मा ने प्रकाश किया वह ब्रह्मा के बड़े पुत्र अथर्वा का शिष्य नहीं किन्तु अन्य था और आप वही माने तो मनु के श्लोकार्थ में तो आप अग्न्यादि को ब्रह्मा का शिष्य लिख चुके हैं ।

यहां ब्रह्मा के बड़े पुत्र का प्रशिष्य क्यों लिखते हैं। क्या यह विरोध नहीं?

द० ति० भा० पृ० २२४ में-

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्। श्वेता०

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है कि जो ब्रह्म योनि अर्थात् जगन्निमित्तकारण ब्रह्म वेदों और उपनिषदों में गूढभाव से प्रतिपादित है, उसे ब्रह्मा=वेदज्ञ पुरुष जानता है॥

द० ति० भा पृ० २२४

अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्याम्

प्रत्युत्तर-यह अग्नि जो देवों वायुआदि) के अन्नका खाने वाला है सो होम का जड अग्नि है। न कि आपका माना हुवा पूर्वोक्त वेदप्रकाशक तपस्वी ऋषि॥

पराशर सूत्र के प्रमाण से द० ति० भा० पृ० २२४ में लिखा है कि ब्रह्मा के दहिने अंगूठे से दक्ष, दक्ष से अदिति, अदिति से सूर्य उत्पन्न हुवा, इस से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष का धेवता सूर्य हुआ॥

प्रत्युत्तर-हम गावें ईश्वर के गीत, आप गावें मसान के। आप सूर्यलोक की उत्पत्ति कहते हैं। हम और स्वामी जी आप के माने शतपथानुसार आदित्य नाम ऋषि से सामवेद का प्रकाश बताते हैं। न कि सूर्यलोक से॥

इति वेदप्राप्तिप्रकरणम्

अथ मन्त्रब्राह्मणप्रकरणम्॥

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १२ से-प्रथम तो आप ही ने उपनिषदों को भी वेद माना है। स० पृ० ११ पं० २ "देखिये वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम हैं" ओमित्येतद०००० यहां उपनिषदों के प्रमाण दिये और सब वेद के नाम से उच्चारण किये॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके सत्यार्थप्रकाश में देखिये, "वेदों के ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" इस वाक्य के शिर पर-

ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु० ४० । १७)

यह वेदवाक्य लिखा है। उसे न छिपाइये। स्वामी जी इसी को लक्ष्य करके कहते हैं कि "वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" न कि अगले "ओमित्येतदक्षरम्० इत्यादि को वेद नाम से कहा हो"

हां, उपनिषद् का भी प्रमाण इस विषय में दिया है कि ओ३म् परमेश्वर का नाम है और यूं तो आगे स्वामी जी ने मनु के भी २ श्लोक लिखे हैं जो (ओमित्येक०, सर्वे वेदा यत्प०) से आगे-

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि० इत्यादि ॥

क्या फिर स्वामी जी मनु को भी वेद मानते थे ? वा आप मानते हैं ?

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १६ में लिखा है कि "पृ० १८० पं० १० श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य सांख्य सू० इस के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं कि "उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहता है" यहां देखिये श्रुति शब्द उपनिषदों तक का नाम सिद्ध होता है ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी का यह पक्ष नहीं है कि श्रुति शब्द उपनिषदों के वाक्य का नाम नहीं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। तदनुसार श्रुति शब्द वेदवाचक भी है और उपनिषदों के श्लोकादि का नाम भी श्रुति रहो। इतने से उपनिषद् अपौरुषेय वेद नहीं हो सकते। कल्पना करो कि एक राजा के पुत्र का नाम "श्रीपति" है और एक वैश्यपुत्र का नाम भी "श्रीपति" है तौ क्या दोनों का नाम श्रीपति होने से वह वैश्यपुत्र कभी राजपुत्र माना जासकता है ? कभी नहीं। इसी प्रकार "श्रुति" नाम वेदोंका भी है और उपनिषदोंके वाक्यों का भी है तौ क्या इतने से उपनिषद् वेद हो गये ?

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १९ से-यदि वेद शब्द से व्यवहार्य वाक्यकलाप को दूसरे पदोंसे अर्थ करनेको व्याख्यान कहतेहैं तौ स्वामी जी इसे क्या कहेंगे-

प्रजापते न त्वदेतान्यन्योविश्वारूपाणि० (इत्यादि यजुः २३ । ६५) और-प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि० (इत्यादि) ऋ० १० । १२२ । ४ और नवो नवो भवसि जायमानः (इत्यादि अथर्व०) और-नवो नवो भवति जायमानः० (इत्यादि ऋ० १० । ८५ । १९)

इन में पहले मन्त्र में (विश्वारूपाणि) ऐसा पद है और दूसरे में विश्वाजातानि) ऐसा पद है, तीसरे में (भवसि जायमान उषसामेत्यग्रम् विदधात्यायन्) ऐसे विलक्षण पद हैं तौ इन भिन्न २ मन्त्रों में वेदपदों के पदान्तर से अर्थ कथनरूप स्वामी जी का पूर्वोक्त (ऋग्वेदभाष्यभूमिका) वेदव्याख्यानत्व तौ स्पष्टता से प्रतिपन्न होता है, फिर वेद भी व्याख्यान कहलावेगा ॥

प्रत्युत्तर-एक ही वेद में कोई मन्त्र कई वार आवे वा एक वेद के समान पाठ वाला मन्त्र उसी वेद में वा दूसरे वेद में फिर से आवे, वा कुछ

पाठभेद से आवे, तो इस का तात्पर्य यह नहीं होता कि पूर्व कहे मन्त्र के व्याख्यानार्थ पुनर्वार अन्य पदों से व्याख्यान करने को वह २ मन्त्र पुनर्वार आता है। किन्तु हमने सामवेदभाष्य में स्पष्टता से लिखा है कि जिस प्रकार एक अक्षर वार २ आता है जब २ उस की आवश्यकता हो। इसी प्रकार एक पद भी कईवार आता है। तथा एक मन्त्र वा सूक्त वा अध्याय भी पुनर्वार आसक्ता है, जब २ उस की आवश्यकता हो। और आप के कथनानुसार यदि यह मानलें कि वे २ मन्त्र जो पुनर्वार अन्य पदलिखित आये हैं वे पूर्व आये हुओं की व्याख्या हैं, तो कृपया यह बताइये कि जो २ मन्त्र विना पदभेद के ज्यों के त्यों कई वार एक वा अनेक वेदों के स्थलों में आये हैं वे किस लिये? क्योंकि जब किसी पद के स्थान में दूसरा पद भी नहीं आया तब व्याख्या तो हो नहीं सकती। जैसा कि–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे॰

यह मन्त्र ऋग्वेद अष्टक ३ अध्याय ४ वर्ग १० में तथा यजुर्वेद ३। ३५ फिर २२। ९ फिर ३०। २ पुनः ३६। ३ और सामवेद उत्तरार्चिक अध्याय १३ खण्ड ४ ऋचा ३ में भी आया है॥ इस लिये एक मन्त्र का समान पाठ से वा पाठभेद से एक वा अनेक वेदों में कई वार आना व्याख्यान होने का साधक नहीं। परन्तु जैसे शतपथ ब्राह्मण में पदों के अर्थ बताये जाते हैं कि–आत्मा वा अग्निः। श० १। २। ३। २ अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। श० ९। १। २। ४२ ब्रह्म ह्यग्निः। श० १। ४। २। ११ ऊर्ग्रसः। श० ५। १। २। ८ व्रीहिः पशवः। श० १। ६। ३। ३६ प्रजा वै पशवः। श० १। ४। ६। १७

इत्यादि स्थलों में जिस प्रकार शब्दों के अर्थ बताये हैं। इस से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं॥

द० ति० भा० पृ० २२७ पं० ११ से (लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्) ऐसा कात्यायन ऋषि ने प्रातिशाख्य में कहा है इस का अर्थ यह है कि लौकिकानामर्थात् "गामानय शुक्लां दण्डेन" इत्यादि लौकिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक होता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर–आप का आशय यह है कि जैसे लोक में जो वस्तु पूर्व होते हैं उन से उत्तर काल में उन का कथन बन सकता है। ऐसा वेद में नहीं। किन्तु जो २ इतिहास ब्राह्मण नामक वेदभाग में आते हैं वे २ घटना न थीं तभी वेद ने पूर्व से भविष्यत् का वर्णन किया। बस इतिहास से वेद अनित्य नहीं

होते॥ परन्तु जानना चाहिये कि आप के लिखे प्रातिशाख्यवाक्य का तात्पर्य यह है कि लोक में जिस प्रकार वस्तुसत्ता के होने पर उस के नामादि का उच्चारण होता है, उस प्रकार वेद में नहीं। अर्थात् वेद अनादि है। उस में जगत् के पदार्थों का वर्णन उस प्रलय काल में भी ईश्वर के ज्ञान में रहता है जो पदार्थ उस काल में वर्त्तमान नहीं होते किन्तु सृष्टिकाल में उत्पन्न होंगे। इस का कारण यह है कि ईश्वर अनेक उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कर्त्ता है और अनेक बार हुवे और होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों को जानता है और इस से उन के उत्पन्न होने से पूर्व भी प्रयोग कर सकता है। परन्तु यथार्थ में वस्तुसत्ता से पूर्व प्रयोग नहीं करता किन्तु जिस प्रकार वेद और ईश्वर अनादि हैं, इसी प्रकार सूर्यादि पदार्थों में प्रवाह से जो अनादिता है, उस कारण परमात्मा जानता है और जानता हुवा ही प्रयोग करता है। किन्तु जनकादि स्वतन्त्र जीवात्माओं के स्वतन्त्रता से उच्चारण किये प्रश्नोत्तरों को प्रवाह से अनादिता नहीं है और इस कारण ऐसे प्रश्नोत्तरादि इतिहास मूलवेद में नहीं आसकते। और ब्राह्मणग्रन्थों में आते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ अपौरुषेय वेद नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २२७ पं० २२ में (त्रितं कूपे०) इस मन्त्र से त्रित ऋषि का इतिहास मन्त्रसंहिता में दिखलाया है॥

प्रत्युत्तर—इस का उत्तर पृ० २०१ में दिया जा चुका है॥

द० ति० भा० पृ० २२८ में मीमांसा के इन दो सूत्रों से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद बतलाया है कि—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ३१ शेषे ब्राह्मणशब्दः ३२

आप का तात्पर्य यह है कि (शेषे) मन्त्रभाग से शेष वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं॥

प्रत्युत्तर—आप कृपा करके मीमांसा का इस से पूर्वला अर्थात् ३० वां सूत्र और देखते तौ (तच्चोदकेषु०) इस ३१ वें में तत् शब्द से पूर्वले किस प्रसंग की अनुवृत्ति हो सकती है, यह जान लेते। हम पाठकों के ज्ञापनार्थ ३०। ३१। ३२ तीनों सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं और अर्थ सहित लिखते हैं—

३०—विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्।

३१—तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥

३२-शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥

३०-विधि और मन्त्र का एक अर्थ है, एक शब्द होने से । अर्थात् मन्त्र संहिता का ही दूसरा नाम विधि है ॥ ३१-तच्चोदकेषु०=उन विधिवाक्यों में मन्त्र नाम प्रसिद्ध है ॥ ३२-इस में शेष पद का मन्त्र से शेष=बचा हुवा अर्थ नहीं किन्तु मीमांसाकार जैमिनि जी शेष का अर्थ स्वयं निम्न लिखित सूत्रों में करते हैं । यथा हि-

अथातः शेषलक्षणम् ३ । १ । १ शेषः परार्थत्वात् ३ । १ । २

अर्थात् अब शेष का लक्षण कहते हैं (जिस में "ब्राह्मण" शब्द का व्यवहार है) ३ । १ । १ कि-शेष परार्थ होने से अर्थात् ब्राह्मण को शेष इसलिये कहते हैं कि वह परार्थ है, परार्थ=मन्त्र का अर्थ वर्णन करता है । कहीं अक्षरार्थ, कहीं भावार्थ और कहीं मन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोग को दिखाता है । अतएव वह वेद का व्याख्यान तो है परन्तु मूल वेद नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २२८ पं० १४ में-तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ इत्यादि ३ सूत्रों से ऋग् यजुः साम के लक्षण कहे हैं । उन का सम्बन्ध इस से कुछ भी नहीं कि ब्राह्मण भी वेद भाग है । परन्तु हां, आप के विरुद्ध और स्वामी जी के अनुकूल तो इस सूत्र का भाव होता है । क्योंकि-

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २ । १ । ३५

अर्थ-जिस में अर्थवश से पादव्यवस्था है वह ऋक् कही जाती है । अब यदि ऋग्वेद का ब्राह्मण भी ऋग्वेद में गिना जावे तो उस में भी पादव्यवस्था छन्दोबद्ध होनी चाहिये । सो नहीं है । इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २२८ । २२९ में-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ इत्यादि ३ सूत्रों में ब्राह्मण के वेद होने का भ्रम उत्पन्न किया है ॥

प्रत्युत्तर-आपने पूर्व तो मीमांसा का सूत्र अशुद्ध लिखा अर्थात् (तेषामृग्यत्रार्थविशेषादव्यवस्था) लिखा, जिस का अर्थ किया जावे तो " अव्यवस्था " वेद के शिर मढी जाती है। शुद्ध पाठ हम ऊपर लिख ही चुके हैं। अब आप वैशेषिक सूत्र का पाठ भी अन्यथा लिखते हैं । शुद्ध पाठ और अर्थ नीचे लिखे अनुसार है:-

बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे ६ । १ । १

ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धि लिङ्गम् ६ । १ । २

बुद्धिपूर्वो ददातिः ६ । १ । ३

तथा प्रतिग्रहः ६ । १ । ४

दूसरे सूत्र में (लिङ्गम्) पर आप का रेफ अशुद्ध है । तीसरे ददातिः के विसर्ग नहीं लिखे सो अशुद्ध है ॥ अर्थ यह है-वेदों में वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है ॥ १ ॥ क्योंकि (वेदों का व्याख्यान करते हुवे) ब्राह्मण में नामकरण सिद्धि का चिह्न है । अर्थात् ब्राह्मण में वेद के जिस मन्त्र का विनियोग जिस कर्म में किया है, वह २ सिद्ध होता है । यदि वेदवाक्यरचना बुद्धिपूर्वक न होती तो ब्राह्मणोक्त प्रकार से वेदप्रयोग सिद्ध न होते । इस से यह पाया जाता है कि वेद (क़ानून) विधि है और ब्राह्मण उन के बर्त्ताव की विधि बतलाने वाला (ज़ाब्ता) है । ब्राह्मण वेद नहीं हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार ददाति अर्थात् वेद में लिखा दानप्रयोग भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ३ ॥ तथा प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ४ ॥

इस से ब्राह्मण के वेदत्व की शङ्का नहीं होसक्ती । हां, जिन टीकाकारों ने आधुनिक परिपाटी से उदाहरण में वेदवाक्य की अनुपस्थिति में ब्राह्मणवाक्य रख दिये । यह उन टीकाकारों की सम्मति हुई कि ब्राह्मण भी वेद हैं परन्तु मूल वैशेषिक दर्शनकार कणाद की नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २३० में-तदप्रामाण्य० इत्यादि न्यायदर्शन के ३ सूत्र लिखे हैं और इन के उदाहरण और व्याख्या में वात्स्यायन जी ने ब्राह्मणवाक्य लिखे हैं । इस से ब्राह्मणों के वेदसंज्ञक होने का भ्रम किया है ॥

प्रत्युत्तर-आप ने एक अशुद्धि यहां भी की । न जाने क्या बात है कि दर्शनशास्त्रों का विषय आते ही आप से एक न एक अशुद्धि पाठ की अवश्य हो जाती है । शुद्ध पाठ (विध्यर्थवादानु०) है । आप ने (बुद्ध्यर्थवादानु०) लिखा है जिस के अर्थ में विधि का बुद्धि हो जाने से पृथिवी आकाश का सा अन्तर होजाता है ॥ अब मूल बात सुनिये । तदप्रामाण्य० यह सूत्र न्यायदर्शन अध्याय २ आन्हिक १ सूत्र ५६ है और इस से पूर्व सूत्र ४९ न्यायोक्त प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द इन चार प्रमाणों में से शब्द प्रमाण की परीक्षा आरम्भ हुई है । अर्थात् शब्दप्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत होने की शङ्का करने को ४९ वां सूत्र किया है कि-

शब्दोऽनुमानमर्थस्याऽनुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ २।१।४७

यहां से शङ्कासमाधान करते हुए इस ५६ वें सूत्र में शङ्का की है कि—

तदऽप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ २ । १ । ५६

वह शब्द, प्रमाण नहीं। क्योंकि शब्द प्रमाण में (पुस्तक लिखित प्रमाण में) अनृत=असत्य, परस्परविरुद्ध और पुनरुक्त दोष हैं। जैसे कि वात्स्यायन जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों में असत्यादि दोष शङ्कापक्ष में दिखाये हैं। और अगले सूत्र में इस का उत्तर दिया है कि—

न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् ५७

अर्थात् शब्द अप्रमाण नहीं। और जो तुम अनृतादि दोष देते हो कि शब्दप्रमाणलिखित पुत्रेष्टि यज्ञादि करने से पुत्रोत्पत्ति आदि प्रायः नहीं होती। सो कर्त्ता कर्म और साधनों में दोष रह जाने से नहीं होती। किन्तु जो आप्त पुरुषों का उपदेश किया शब्द है, वह तो प्रमाण ही है॥ अब आप समझ सकते हैं कि ४७ वें सूत्र से यहां शब्दप्रमाण की अनुवृत्ति और शब्दप्रमाण की परीक्षा का प्रकरण है और शब्दप्रमाणान्तर्गत वेद स्मृति आदि समस्त आप्तोक्त सत्य शास्त्र हैं। न केवल वेद ही शब्दप्रमाण है। हां, वेद स्वतःप्रमाण और अन्य शब्द परतःप्रमाण अर्थात् वेदाऽधीन प्रमाण वा वेदाऽविरुद्धता में प्रमाण हैं। इस से गोतमसूत्रों के उदाहरणों में ब्राह्मण वाक्य के उदाहरण से क्या हानि है? प्रत्युत रामायण और महाभारत वा मनु आदि के वाक्य भी शब्दप्रमाणान्तर्गत होने से दोष नहीं। परन्तु शब्द प्रमाण होने से उस २ की वेद संज्ञा नहीं हो सकती॥

द० ति० भा० पृ० २३१ पं० ९ में—(तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च०) इस अथर्ववेद में इतिहास पुराण के आने से क्या वेद इतिहास पुराण के पीछे बना है। कभी नहीं॥

प्रत्युत्तर—इस अथर्ववेद १५। ६०। १। ४ के वाक्य में इतिहास पुराण का सामान्य नाम है। क्योंकि इतिहास पुराणादि भी प्रत्येक कल्प में बना ही करते हैं। परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि किसी पुराणविशेष का नाम नहीं आने से यह शङ्का नहीं हो सकती कि वेद उस के पीछे बना। परन्तु यदि पुराण के किसी अनित्य पुस्तकविशेष भागवतादि का नाम आता तो अवश्य यह सिद्ध होता कि यह वेदवाक्य उस के पीछे बना। जैसे वेदों में मनुष्य शब्द आने

से तो यह शङ्का नहीं होती कि मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् वेद बने, क्यों कि मनुष्यों का होना प्रवाह से अनादि है। परन्तु रामचन्द्रादि वा युधिष्ठिरादि पुरुषविशेषों के जीवनचरित्र वा कुछ वर्णन वेद में आते (जो कि वेद में नहीं आते और ब्राह्मण में आते हैं) तो अवश्य यह सन्देह होता कि वह २ वेदभाग उस २ की उत्पत्ति के पश्चात् बना॥

द० ति० भा० पृष्ठ २३१ पं० १२ से-पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्। इस अपने भाष्य की आप ही व्याख्या शङ्कराचार्य जी ने की है। और पातञ्जलभाष्य में भी अथशब्दानुशासनम्। इस का-अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः। इत्यादि व्याख्यान स्वयं भाष्यकार ने किया है॥

प्रत्युत्तर-कहीं २ अपनी व्याख्या आपने ही की है। इस से क्या यह सिद्ध होगया कि समस्त व्याख्याग्रन्थ भी मूलग्रन्थकारों ने बनाये हैं। ऐसा ही है तो रघुवंशादि के मल्लिनाथादिकृत टीका भी कालिदासादिकृत समझियेगा? वा मानियेगा? अथवा क्या मूलसंहिताओं की व्याख्या उन के आगे (अव्यवहित) इस प्रकार लिखी पाई जाती है? जिस प्रकार शङ्कराचार्य और पतञ्जलि के उक्त वाक्यों की व्याख्या उन्हीं के आगे उपस्थित है, नहीं २॥

द० ति० भा० पृ० २३१ पं० १७ से –प्रश्न

द्वितीया ब्राह्मणे २। ३। ६० अष्टा०
चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २। ३। ६२
पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४। ३। १०५
छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४। २। ६२

यहां पाणिनि आचार्य वेद और ब्राह्मण को पृथक् २ कहते हैं पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मा आदि ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प वेदव्याख्यान हैं। इस से इन की पुराणेतिहास संज्ञा की गई है। यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को अभिमत होती तो (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्द ग्रहण न करते "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में "ब्राह्मणे" इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः प्राप्त है इस से जानते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ की वेद संज्ञा नहीं और यदि छन्द पद से ब्राह्मण का भी ग्रन्थ पाणिनि को अभिमत होता तो "छन्दोब्रा०" इस सूत्र में ब्राह्मणग्रहण क्यों

करते। केवल छन्दसि कह देते क्योंकि ब्राह्मण भी छन्द ही है "उत्तर" वाह! व्याकरण में भी आप की बहुत पहुंच है। यह कहना सर्वथा आप का अनुचित है। देखिये "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र से ब्राह्मणविषयक प्रयोग में अवपूर्वक है और पण धातु के समानार्थक दिव धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है यथा "गामस्यतदहः सभायां दीव्येयुः" यहां शतस्य दीव्यति इत्यादि में की नाईं "दिवस्तदर्थस्य" २। ३। ५८ इस सूत्र से गोरस्य ऐसी षष्ठी प्राप्त थी सो वहां "गामस्य" यही द्वितीया की जाती है यहां ब्राह्मणरूप वेदैकदेश ही में द्वितीया इष्ट है न कि मन्त्रब्राह्मणात्मक श्रुति छन्दः आम्नाय निगम वेद इत्यादि पद से व्यवहार्य समस्त वेद मात्र में और (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) २। ३। ६२ इस उत्तर सूत्र से मन्त्रब्राह्मणरूप छन्दोमात्र के विषय में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का विधान किया जाता है "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः" 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे" इत्यादि इस सूत्र से छन्दसि इस पद से मन्त्रब्राह्मणरूप समस्त वेद मात्र का संग्रह पाणिनि आचार्य को अभिमत है, अतएव इस के उदाहरण में (या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रोरात्रिरिति तस्या इति प्राप्ते, यां मलवद्वासः संभवन्ति यस्ततो जायते सोभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्य प्रगल्भो यास्नाति तस्या अप्सु मारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खलतिरपस्मारी याङ्क्ते तस्यै काणो यादतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते अहल्यायै जारमनाय्यै तन्तुः) इत्यादि बहुत से ब्राह्मणों ही को भाष्यकार ने दिया है यदि इस सूत्र में छन्दोग्रहण न रहैगा तौ पूर्व सूत्र से ब्राह्मणे' इस पद की अनुवृत्ति लाने पर भी केवल ब्राह्मण ही में षष्ठी होगी वेदमात्र से नहीं इस कारण इस सूत्र में (छन्दसि) ग्रहण का विशिष्ट फलहई हैं और ब्राह्मण की छन्दोरूपता में भाष्यकार सम्मति देते ही हैं फिर इस सूत्र में छन्दोग्रहण को व्यर्थ कहते हुए आप निरे स्वच्छन्द नहीं हैं तौ और कौन हैं और नहीं तौ (मन्त्रेश्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ३। २। ७१ अवेयजः ३। २। ७२ विजुपेश्छन्दसि ३। २। ७३) ऐसे क्रमिक सूत्र में पाठ से अन्तिम सूत्र में "छन्दसि" ऐसा कहने से मन्त्रभाग में भी छन्दोरूपता न सिद्ध होने पावेगी देखिये जैसे (ब्राह्मणे) ऐसा कह कर

(छन्दसि) ऐसा कहने से ब्राह्मण का छन्द पद में व्यवहार पाणिनी को अभिमत नहीं है ऐसी उत्प्रेक्षा आप करते हैं तैसे ही पूर्व सूत्र में मन्त्र ऐसा कहकर (विजुपेश्छन्दसि) ऐसा कहने वाले पाणिनी को मन्त्र भाग में भी छन्द पद से व्यवहार अभिमत नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा तब तो ब्राह्मणद्वेषी आप के शिर पर भी महा अनिष्ट आपड़ेगा और भी "अहन. रूधरवरित्युभयथाछन्दसि ८ । २ । ७०) इस सूत्र में पाणिनि (छन्दसि) ऐसा कह कर "भुवश्च महाव्याहृतेः ८ । २ । ७१ " इस उत्तर सूत्र में महाव्या. हृतेः ऐसा कहते हैं इस से महाव्याहृति की भी छन्दोभावच्युति अवश्य हो जायगी क्योंकि "ब्राह्मणे" ऐसा कह कर "छन्दसि" ऐसा कहना ही ब्राह्मण का छन्दोभाव का अभाव साधन करेगा और "छन्दसि" ऐसा कहकर "म- हाव्याहृतेः " ऐसा विशिष्ट व्याहृति का कहना महाव्याहृति का छन्दोभाव का नाशक न होगा ऐसी आंख में धूल तो आप नहीं डाल सकते इस हेतु से पाणिनि आचार्य प्रयोग साधुत्व के अप्रसंग और अतिप्रसंग निवारण करने की इच्छा से कहीं सामान्य से (छन्दसि) ऐसा कहकर विशेष से " महा- व्याहृतेः " ऐसा कहते हैं और कहीं तो विशेष से " ब्राह्मणे ", " मन्त्रे " ऐसा कह कर सामान्य से " छन्दसि " ऐसा कहते हैं इस से यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को इष्ट न होती तो (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्दोग्रहण वो क्यों करते क्योंकि (द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्र से ब्राह्मणे इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः सिद्ध थी इस से जानते हैं कि मन्त्र ब्राह्मण का नाम वेद है और आप का कहना सब मिथ्या है और (छन्दोब्राह्मणानीति) ब्राह्मणों और मन्त्रों का छन्दोभाव समान होने से पृथक् ब्राह्मण व्यर्थ है ऐसा प्राप्त था तथापि ब्राह्मण ग्रहण यहां "अधि- कमधिकार्थम्" इस न्याय से ब्राह्मण विशेष के परिग्रहार्थ है इस से (याज्ञ- वल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि सौलभानि) इस प्रयोग से पूर्वोक्त नियम नहीं हुआ व्याकरणभाष्यकार भी (याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः) ऐसा कहते हुए इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण का प्रयोजन यही सूचित कराये हैं और " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ " इस सूत्र में ब्राह्मण का पुराणप्रोक्त ऐसा विशेषण कहते हुए पाणिनि को यही अर्थ अभिमत है अन्यथा यदि ब्राह्मण विशेष के परिग्रह करने की इच्छा न होती तो (पुराणप्रोक्तेषु०) इस के कहने से आचार्य की प्रवृत्ति व्यर्थ होजाती चाहे

स्वामी जी आप कुछ समझें परन्तु भाष्य के श्रम करने वाले विद्वानों को यह बात कुछ परोक्ष नहीं है इस हेतु हम इस में कुछ और नहीं कहा चाहते और मन्त्र भाग की नाईं ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्य वारंवार सिद्ध कर आये हैं अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापन के प्रसंग से (प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते) ऐसा वात्स्यायन महर्षि ने कहा है यदि ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य न हो तो दूसरे की प्रामाण्यबोधकता कैसे उन में संभवित होसक्ती है क्योंकि ब्राह्मण भाग स्वयं जब तक प्रमाणपदवी पर व्यवस्थित न होलेगा तब तक इतिहास पुराण के प्रामाण्य का व्यवस्थापन करने में कैसे समर्थ हो सकेगा यह कहावत प्रसिद्ध है कि (स्वयमसिद्धः कथंपरान् साधयिष्यति) इस से श्रुति वेद शब्द आम्नाय निगम इत्यादि पद मन्त्र भाग से लेकर उपनिषद् पर्यन्त वेदों का बोधक है यह शास्त्र मार्मिक विद्वानों का परामर्श है अतएव (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः) श्रुति को वेद कहते हैं धर्मशास्त्र कू स्मृति कहते हैं ऐसा आस्तिक जनों के जीवनौषध भगवान मनु जी ने भी माना है ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न इस प्रकार आप के मत पर नहीं किया गया जैसा कि आप ने " द्वितीया ब्राह्मणे " इत्यादि किया है । फिर इस का उत्तर सत्यार्थप्रकाश के क्रमपूर्वक खण्डन में देना आवश्यक न था और "इत्यपि निगमो भवति। इति ब्राह्मणम् । नि० अ० ५ खं० ३ । ४" का उत्तर जो आप को देना था सो आप ने दिया नहीं । इस का कारण शोचने से ज्ञात होता है कि आप ने सत्यार्थप्रकाशस्थ उक्तियों को समझा नहीं और उस की जगह भूमिका पर आक्षेप करके जो काशी के पण्डितों ने महामोहविद्रावण नामक पुस्तक में लेख किया है उस का भाषानुवाद करके आप ने लिख दिया है । परन्तु सत्यार्थप्रकाश के उत्तर से इस का कुछ सम्बन्ध नहीं । तथापि आप के समस्त पक्षों का निराकरण हो जावे, और साथ ही महामोहविद्रावण की भी समालोचना होजायगी, इस लिये क्रमशः उत्तर सुनिये—

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २ । ३ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने छन्दोग्रहण की व्यर्थता दिखाई है सो विपक्षियों के ही मतानुसार दिखाई है । अपने मत से नहीं । आप जो " द्वितीया ब्राह्मणे " में " ब्राह्मणे " ग्रहण को वेद के एकभागवाचक मान

कर निर्वाह करते हैं सो इस लिये ठीक नहीं कि ब्राह्मण का वेदैकदेश होना ही तो साध्य है। साध्य को हेतु बतलाना "साध्यसमहेत्वाभास" नामक निग्रह स्थान है। जिस प्रकार "अग्निमीडे पुरोहितम्०" ऋ० १।१।१। इत्यादि मन्त्र जो वेद का एकदेश हैं, क्या उन में छन्द आदि पदों से विहित कार्य नहीं होते? किन्तु यह शैली पाणिनि की नहीं है कि जिन२ विशेष वेदैकदेशों में (मन्त्रों वा पदों में) वे कार्य पाये जावें उन २ का ही नाम सर्वत्र लिया हो। इस से जाना गया कि ब्राह्मण वेद वा वेदैकदेश नहीं किन्तु वेदव्याख्यान हैं॥

और "या खर्वेण पिबति०" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य का उदाहरण "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" पर महाभाष्यकारने दिया है वह भी ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध नहीं करता। यूं तो "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इस वैयाकरणमत से सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य होते हैं, तो क्या इतने से व्याकरण के सूत्रों को भी अपौरुषेय वेद मानियेगा? पाणिनिकृत न मानियेगा? इसी प्रकार वेद के तुल्य प्रयोग ब्राह्मण में आजाने और भाष्य में ब्राह्मणवाक्योदाहरणमात्र से ब्राह्मण का वेदत्व नहीं सिद्ध होता और ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं, तब व्याख्यान में व्याख्येय के समान पद आजाना कुछ उन दोनों को एक नहीं कर देता॥

और आप जो (मन्त्रे घसेल० ३।२।७१) में कहते हैं कि मन्त्र पद आचुका था तब फिर इस से अगले—

अवे यजः ३।२।७२ विजुपे छन्दसि ३।२।७३

सूत्र में छन्दःपद क्यों आया? स्वामी जी के मतानुसार भी छन्द और मन्त्र एकार्थ हैं। उत्तर यह है कि मन्त्र पद सामान्यतया वेदसंहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादिछन्दोबद्ध मन्त्रों का ही वाचक है। इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहितामात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति दोष रहता। इस के निवारणार्थ केवल गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये—

विजुपे छन्दसि

में छन्दः पद पढ़ा है। आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि-छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्य यजु आदि सभी हैं, परन्तु "छन्दसि" पद से केवल छन्दोबद्ध ही लिये जायंगे। और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु

उभयसंमत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं। इसी प्रकार-

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ८।२।७०

भुवश्च महाव्याहृतेः ८।२।७१

यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाव्याहृति के अतिरिक्त समस्त वेदस्थ भुवः पद (छन्दःपदानुवृत्ति से) विषय हो जाता और अतिव्याप्ति दोष आता। यहां भी छन्दस् का "वेद होना" और महाव्याहृति का "वेद का एक देश होना" दोनों पक्ष वालों का संमत है। यदि इसी प्रकार छन्द वा मन्त्रादि का "वेद होना" और ब्राह्मण का "वेद का एकदेश होना" उभयपक्षसंमत होता, तब तो इस दृष्टान्त से आप को लाभ होता। यहां हम तो ब्राह्मण को न सामान्यतया वेदवाचक मानते हैं, न वेद का एक देश मानते हैं और आप ब्राह्मण को वेदभाग मानते हैं। इस दशा में ब्राह्मण को वेदत्व वा वेदैकदेशत्व सभी आप का साध्य है। इस लिये महाव्याहृति आदि का दृष्टान्त आप का पक्षपोषक नहीं। और जो यह लिखा है कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी का विशेष वाचक वा एकदेशवाचक है। यह भी साध्य ही है। छन्दः पद के सामान्यवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, विशेषवाचक होने में प्रमाण हैं। यथा-

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॑ः। ऋ० ४।५८।३

इस मन्त्र के व्याख्यान में निरुक्तपरिशिष्ट में स्पष्ट कहा है कि-

सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। निरुक्त १३।७

यहां सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं। यह भी प्रकट है कि छन्दों में से ही संग्रह करके निघण्टुपद लिखे गये हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत करके निघण्टु में कोई पद नहीं लिखा। इसी कारण निरुक्तकार ने आरम्भ ही में लिखा है कि-

छन्दोभ्यः समाहृत्य०। निरु०।१।१॥

केवल छन्दोबद्ध मन्त्रों से संग्रह करके इन निघण्टुस्थ पदों का समाम्नान किया गया है। इत्यादि प्रमाणों से छन्दःपद पिङ्गलोक्त गायत्र्यादि ७ छन्दों का वाचक होने से गद्यरूप ब्राह्मणों का वाचक नहीं हो सकता। इस लिये सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मणग्रन्थ भागवाचक नहीं हो सकते॥

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने यह कहा है कि यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों वेदवाचक होते तौ पाणिनि जी इस सूत्र में छन्द और ब्राह्मण इन दोनों पदों को क्यों लिखते । इस पर आप लिखते हैं कि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखे हैं कि(अधिकमधिकार्थम्) इस न्यायसे यहां पाणिनि जी को सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था। इसी लिये महाभाष्यमें-

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

इस वार्त्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है। इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि-

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ ।

इस सूत्र द्वारा की गई है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मण ग्रन्थ अभिमत वा अभीष्ट होते तौ-

"पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋषियों के कहे, ब्राह्मण ग्रन्थ"

ऐसा विशेषणयुक्त क्यों लिखते। इस से प्रतीत हुवा कि छन्द और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं और यद्यपि छन्दः पद लिखकर ब्राह्मण पद लिखने की आवश्यकता न थी, परन्तु किन्हीं २ ब्राह्मणों का ही ग्रहण होने और किन्हीं याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से उक्त सूत्र में ब्राह्मणपद अधिकार्थ है ॥

हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मणपद लिखने ही से कोई विशेष याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तवर्जित ब्राह्मणग्रन्थ विवक्षित थे तौ आप का लिखा-

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

यह वार्त्तिक भाष्यकार ने व्यर्थ क्यों बनाया ? परन्तु यथार्थ में आप का अभिमत तात्पर्य पाणिनि वा पतञ्जलि (भाष्यकार) का न था किन्तु पाणिनि जी ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण न मान कर ब्राह्मण पद अधिक लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण न हो जावे, इस के लिये—

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः

यह वार्त्तिक लिख कर, याज्ञवल्क्यानि । सौलभानि। इत्यादि उदाहरणों के द्वारा वार्त्तिक की सफलता दिखलाई है ॥

पुराणप्रोक्तेषु० इस से जो आप उसी विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि " चौबे चले छब्बे बनने को, गांठ के दो दे दुबे रह गये" । अर्थात् प्रतिपादन तो यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्र वा छन्द के समान वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं । और जैसे वेद मन्त्र-संहिता अपौरुषेय हैं, वैसे ब्राह्मण भी हैं । यह भी आप को प्रतिपादनीय था । उस के स्थान में ब्राह्मणों का याज्ञवल्क्यादिकृत होना लिख कर आपने तो ब्राह्मण ग्रन्थों की प्राचीनता भी (किन्ही २ की) खो दी, केवल याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त से शेष ब्राह्मणों की ही प्राचीनता आप के मत से रहगई। हमारे पक्ष में तो किन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों का पाणिनि की अपेक्षा प्राचीनप्रोक्त होना और किन्हीं का नूतनप्रोक्त होना दोनों ही ठीक हैं । क्योंकि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय हैं । प्रोक्ताधिकार में प्रोक्त शब्द का गौण मुख्य भेद से दो प्रकार का अर्थ है । एक अपौरुषेय और दूसरा पौरुषेय पुस्तकों में। अपौरुषेय पुस्तकों में जिन जिन कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन उन ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम २ पढ़ाये वे २ ग्रन्थ समझने चाहियें और जहां २ पौरुषेय पुस्तक वाच्य हों वहां २ जिस २ ऋष्यादिवाचक शब्द से प्रत्ययविधि है, उस २ का व्याख्यान किया पुस्तक का मूल अपौरुषेय से आशय लेकर अपने विचार को संमिलित करके अथवा यह समझिये कि मूल के तात्पर्य को किन्हीं अपने दूसरे शब्दों में निबद्ध कर, प्रोक्त पद का अर्थ समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही–

शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४ । ३ । १०६

इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पठित पाणिनीय सूत्रों के उदाहरणों की संगति हो सकती है । वेदों के अपौरुषेय होने से मूलवेद वा छन्द किसी शौनकादि का व्याख्यान मानना हमारा वा आप का दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं है । अर्थात् दोनों को वेदों का अपौरुषेयत्व संमत है । यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेद वाच्य होने पर प्रोक्त शब्द का तात्पर्य प्रचारादि मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाच्य होने पर भी वही अर्थ (प्रचारादि) लेवें तो क्या बाधा है। इस का उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारितादि तात्पर्य समझना इस लिये ठीक नहीं कि—

तेन प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ और–तित्तिरिवरतन्तुखण्डिको-खाच्छण् ४ । ३ । १०२

इन सूत्रों के महाभाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि-

तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः

जिस से स्पष्ट है कि श्लोक भी प्रोक्त होते हैं। और श्लोकों का वेदत्व वा अपौरुषेयत्व सिद्ध करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं। बस जब पौरुषेय श्लोकों को भी भाष्यकार प्रोक्त पद से लेते हैं तो गौण मुख्य भेद से प्रोक्तशब्द के दो अर्थ सिद्ध ही हैं। अर्थात् प्रोक्ताधिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है, वे २ ग्रन्थ पौरुषेय हों तो जिस २ शब्द से प्रत्यय किया है, उस २ का व्याख्यान किया ग्रन्थ समझना चाहिये। और यदि वह २ ग्रन्थ अपौरुषेय हो तो उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये। इस कारण ब्राह्मण और कल्पग्रन्थों के पौरुषेय होने से उन २ के व्याख्यात वा सङ्कलित पुस्तकों का ग्रहण करना स्पष्ट है॥

वात्स्यायन जी ने जो पुराणों को ब्राह्मण की प्रमाणता से प्रामाण्य किया है उस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण हैं, वा वेद हैं। क्योंकि-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

उत्पत्ति प्रलय वंशावली मन्वन्तर और वंशावलीचरित्र ये पांच वर्णन पुराण में होते हैं। सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं और उन से पुराणों में आई हैं। इस लिये वात्स्यायन जी कहते हैं कि "ब्राह्मण के प्रमाण से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये" इस अंश में ब्राह्मणों का पुराण होना अवश्य सिद्ध हुआ, जैसा कि स्वामी जी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है। बस जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशचरित्रादि लिया गया, अतः पुराणों का ब्राह्मणाधीन प्रामाण्य रहा। वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया, अतः ब्राह्मणों का मन्त्रसंहिताधीन प्रामाण्य रहा। यही स्वामी जी मानते हैं। रहा यह कि यदि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण न होते तौ पुराणों की प्रमाणता में आधार कैसे होते? यह नियम नहीं कि जो स्वतःप्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में आधार हो। देखा जाता है कि जब हम किसी वस्तु के प्रमाणार्थ एक तोले भर का बाट बनाते हैं और उस से दूसरी, दूसरी से तीसरी, उस से चौथी आदि वस्तु की प्रमाणता परम्परा से आगे २ चलती जाती है। परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की

प्रमाणता का स्वीकार करते हैं, यदि वह अपने आधार से प्रतिकूल हो तो प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणविरुद्ध इतिहास पुराण अप्रमाण है। ऐसे ही मन्त्रसंहिता से विरुद्ध ब्राह्मण अप्रमाण होने से परतःप्रमाण अप्रमाण ही रहे॥

मनु के इस कथन से कि 'श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र है" यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण भी वेद हैं। किंवा श्रुति शब्द वेद के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का वाचक नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २३४ पं० ६ से—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् अ० २ पा० १ सू० २७
परात्तु तच्छ्रुतेः अ० २ पा० ३ सू० ४१
भेदश्रुतेः अ० २ पा० ४ सू० १८
सूचकश्च हि श्रुतिराचक्षते च तद्विदः अ० ३ पा० २ सू० ४
तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेः अ० ३ पा० २ सू० ७
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः अ० ४ पा० ३ सू० ६

इत्यादि सूत्रों में बारबार श्रुतिपद शब्दपद का उपादान करते हैं श्रुति से उपनिषदों का ही ग्रहण किया है और श्रीकणादाचार्य ने भी दशाध्यायी के अन्त में (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्) ऐसा आम्नाय पद से वेद के प्रामाण्य का उपसंहार किया है यहां आम्नाय पद संहिता से लेकर उप-निषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है क्योंकि इस के समान तन्त्रगोतमीय न्यायदर्शन के (मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यात्तत्प्रामाण्यात्) इस सूत्र में तत्पद से उपादेय उपनिषदों के संहितवाक्य कलाप ही के प्रामाण्य का अवधारण किया है और वही के तत्पद की मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद मात्र की बोधकता पूर्व में निश्चित कर ही चुके हैं और मन्वादि स्मृतियां इसी अर्थ के अनुकूल है देखिये—

एताश्चान्याश्चसेवेतदीक्षाविप्रोवनेवसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धयेश्रुतीः अ० ६ श्लोक २९

दीक्षा युक्त ब्राह्मण वन में वास करता हुआ आत्मज्ञान के अनेक उप-निषदों की श्रुति विचारे यहां (औपनिषदीः श्रुतीः) ऐसा कहने से उपनि-षदों का श्रुति पद वाच्यत्व स्पष्ट सिद्ध होता है और श्रुति शब्द वेद का

आम्नाय पद का पर्य्याय शब्द है जैसे कि मनु जी ने कहा है (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः) इत्यादि पूर्व लिख आये है जब मनु जी ने उपनिषदों को श्रुति माना और व्यवहार भी वैसा ही किया तब ब्राह्मणों का वेदभाव अवश्य हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ही के शेष भूल तौ उपनिषद् है इसी कारण वेदान्त नाम से विख्यात है ॥

प्रत्युत्तर-आप जो व्याससूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए 'श्रुति,' 'शब्द' पदों से और वैसे ही मनुस्मृति में आये 'श्रुति' शब्द से भी यह अभिप्राय निकालते हैं कि यहां श्रुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद्-वाक्य ही टीकाकरों ने लिखे हैं इस से व्यासादि के मतानुसार ब्राह्मण उपनिषद् पर्यन्त सब वेद है। सो प्रथम तौ यह सम्भव है कि-व्यासादि को श्रुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों और शङ्कराचार्यादि टीकाकार ही इस भ्रान्ति के कारण हो गये हों कि जैसे उन्हों ने-

"मन्त्रवर्णाच्च" इस वेदान्तसूत्र पर " तावानस्य महि० " इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के " एतावानस्य महि० " इत्यादि मन्त्र का उदाहरण दे सकते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सकते कि व्यासादि को श्रुति आदि पदों से उपनिषद् ही विवक्षित हैं। फिर अगले सूत्र-

"अपि च स्मर्यते" पर भी शङ्कर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि"ममैवांशो जी०" इत्यादि। तौ क्या गीता को कोई मन्वादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सकता है वा मानता है? अभिप्राय यह है कि श्रुति आदि का योगरूढ़ और मुख्य अर्थ तौ मन्त्रसंहिता ही हैं परन्तु श्रवणसामान्यार्थ को लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोगों ने श्रुति कहा। जैसा शङ्कर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्धृत किया। सौ जिस प्रकार गीता मुख्यकर स्मृतिपद का वाच्य नहीं परन्तु स्मरणार्थ सामान्य से ली गई। इसी प्रकार शब्दप्रमाणसामान्यान्तर्गत श्रवणार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण शङ्कराचार्यादि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं। यूं तो गीता के प्रतिअध्याय के अन्त में 'भगवद्गीता-सूपनिषत्सु" ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है। तौ क्या इस से "गीता" उपनिषद् हो जायगी? कदापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का सार ग्रहण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन

किया गया है। इस लिये गौणभाव से उस में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वेदों का व्याख्यान होने के कारण वा वेदाशय को स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौण भाव से श्रुतिपद आदि से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। इसी से गोतमसूत्र के "तत्" शब्द से और कणादसूत्र के "आम्नाय" शब्द से जो उपनिषदादि का ग्रहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर हो गया और मनु के उपनिषत्सम्बन्धी श्रुति पद का भी उत्तर इसी में आगया। रहा यह कि "उपनिषद् वेद का अन्त भाग ब्राह्मणों का शेषरूप हैं। इसी लिये इन को वेदान्त कहते हैं" यह भी अयुक्त है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तो तुम्हारे मत में भी तुम्हारे मुख से स्वीकार किये हुवे व्यासरचित सूत्रों को भी तो वेदान्त कहते हैं। क्या वह भी वेद ही समझा जायगा? कह दो कि हां, (अनन्ता वै वेदाः) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद हैं !!! और यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वामी जी का यह मत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है, किन्तु १० वा ११ उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वामी जी भी वेदान्त मानते थे, तब वैसा मानकर लिखना व्यर्थ है। यथार्थमें वेदान्त पद का अर्थ यह है कि वेद का अन्त्य भाग नहीं किन्तु वेद का अन्त–अन्तिम–मुख्य तात्पर्य ब्रह्मप्रतिपादन है। इसी विषय का प्रतिपादन जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त ग्रन्थ कहावेंगे, चाहे उपनिषद् हों, चाहे सूत्र हों, चाहे अन्य कोई वेदानुकूल इस विषय का ग्रन्थ हो॥

आप ने जितने उत्तर "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" की अनुकूलता में दिये, उन सब का प्रत्युत्तर होकर यह सिद्ध हुआ कि कात्यायन का यह वचन नहीं हो सकता कि "मन्त्र ब्राह्मण दोनों वेद हैं"। वास्तव में यह कात्यायन का "वचन" नहीं किन्तु कात्यायन की यज्ञपरिभाषा है। अतएव उस की प्रवृत्ति कात्यायन श्रौतसूत्र में ही हो सकती है, सर्वत्र नहीं। आशय कात्यायन का यह है कि जहां २ यज्ञप्रकरण में हम "वेद" शब्द का उच्चारण करें वहां २ इस ग्रन्थ में मन्त्रब्राह्मण दोनों समझो। जैसा कि आगे उन्होंने कहा है कि–

यजुर्वेदेनाध्वर्युः। का०

यजुर्वेद से अध्वर्यु नामक ऋत्विज् कार्य करे। यहां यह समझना चाहिये

कि यजुर्वेद संहिता और उस के शतपथ ब्राह्मणोक्त कार्य जहां २ यज्ञ में आवें वहां २ वे २ कार्य अध्वर्यु को करने चाहियें ॥

जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में कहते हैं कि-

वृद्धिरादैच् १ । १ । १५ अदेङ्गुणः । १६

अर्थात् जहां २ व्याकरण में हम वृद्धि पद का प्रयोग करें वहां २ आ, ऐ, औ समझो और जहां २ गुण शब्द का प्रयोग करें वहां २ अ, ए, ओ समझो । इस से यह सिद्ध नहीं होता कि अन्य शास्त्रों में भी "वृद्धि" पद से आ, ऐ, औ वा "गुण" पद से अ, ए, ओ समझे जावें । जैसे सांख्य में गुण शब्द से सत्व रज तम के स्थान में कोई अ, ए, ओ अक्षर समझे तौ कैसा बड़ा अज्ञान हो और वैशेषिक में-

रूपरसगन्धस्पर्शा० । इत्यादि १ । १ । ६

में कहे रूपादि गुणोंके स्थानमें कोई अ ए,ओ का ग्रहण पाणिनि के संज्ञा सूत्रानुसार माने तौ कैसा बड़ा अज्ञान होगा अथवा वैद्यकशास्त्र सुश्रुत में-

आषोडशाद्वृद्धिः

१६ वर्ष तक की अवस्था का नाम वृद्धि है । यदि आप वहां आ, ऐ, औ को वृद्धि कहने लगें और "वृद्धिरादैच्" इस पाणिनीय सूत्र का प्रमाण देने लगें तौ वैद्यों में कैसा हास्य हो । इसी प्रकार सर्वत्र कात्यायन की यज्ञ परिभाषा से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद मानना भी हास्यजनक है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तम समुल्लासमण्डनं, द० ति० भास्करस्य च खण्डनं नाम सप्तमः समुल्लासः ॥ ७ ॥

ओ३म्

अथाऽष्टम समुल्लासमण्डनम्

स्वामी जी ने स० पृ० २०८ में " पुरुष एवेदꣳसर्वम्० " मन्त्र का तात्पर्य मात्र लिखा है कि परमात्मा प्रकृति और जीवों का स्वामी है। इस पर द० ति० भा० पृ० २३६ पं० ११ में-स्वामी जी के अर्थों की कैसी विचित्र महिमा है, इस मन्त्र में जीव प्रकृति और ईश्वर का वर्णन कर बैठे हैं॥

प्रत्युत्तर-आप को अक्षरार्थ में ध्यान देना उचित था तब फिर स्वामी जी के लिखे तात्पर्य पर सम्मति देनी थी। स्वामी जी से विद्वान् के लेखपर बेसमझे क़लम चलाना बुद्धिमानी नहीं है। हम नीचे पदार्थ लिखते हैं, उसे पढ़कर मिलाइये कि स्वामी जी का लिखा तात्पर्य ठीक है वा नहीं॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ यजुः ३१। २

(यत् इदं सर्वं भूतम्) जो यह सब उत्पन्न हो चुका (यत् अन्नेन अतिरोहति) और जो अन्न से उत्पन्न हो रहा है (च) और (यत् भाव्यम्) जो उत्पन्न होने वाला है अर्थात् भविष्यत्काल में जो उत्पन्न होगा [उसका] (उत) और (अमृतत्वस्य) अमरभाव वाले केवल आत्मा का (ईशानः पुरुष एव) स्वामी परमेश्वर ही है॥

क्या इस का यह तात्पर्य नहीं हुवा कि जड़ चेतन का स्वामी परमात्मा ही है? क्या भूत वर्त्तमान और भविष्यत् में उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ जड़ और प्राकृत नहीं हैं? और क्या अमर आत्मा चेतन नहीं है? यदि हैं तौ क्या समस्त प्राकृत और अप्राकृत पदार्थों का स्वामी परमात्माको बताने से यह मन्त्र स्वामी जी लिखित तात्पर्य का विरोधी है?

द० ति० भा० पृ० २३६ पं० २४ से-

यतोवाइमानिभूतानिजायन्तेयेनजातानिजीवन्ति।
यत्प्रयंत्यभिसंविशन्तितद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म-तैत्तिरी०॥

पृ० २०८ में इस का अर्थ लिखा है, जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिस से जीव और जिस से प्रलय को प्राप्त होते हैं वोह ब्रह्म है, उस के जानने की इच्छा करो॥

समीक्षा–यह क्या स्वामी जी! इतना ही पद लिख कर गड़प गये(जिस से जीव) इस से तो प्रत्यक्ष है कि जिस से परमेश्वर जीव उत्पन्न होते हैं और आप आगे इन को नित्य मानते हैं, नित्य भी मानना और जन्म भी कहना यह वैदिकविरोध रसातल में अर्थ करता कू क्यों न ले जायगा, सूधा अर्थ है॥ कि जिस से यह प्राणी उत्पन्न होते और उसी से जीते और अन्त में उसी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानों अब प्रकृति जीव नित्य और पृथक् न रहे

प्रत्युत्तर–किसी कारण " जीव " इन दो अक्षरों से आगे " ते " यह अक्षर छुट गया है, उसी से आप की समझ में भ्रम पड़ा है। (येन जीवन्ति यत्प्रयन्ति) का अर्थ स्वामी जी का लिखा ठीक है कि " जिस से जीवते और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं" अब बतलाइये जीव प्रकृति की अनित्यता कहां रही? और जीव प्रकृति को चाहे नवीन वेदान्ती लोग ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं, परन्तु अनित्य तो कोई नहीं मानता। देखिये आप के नवीन वेदान्त की गीता में क्या लिखा है–

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इस में जीव को सनातन कहा है। आप अनित्य बताते हैं॥

द० ति० भा० पृ० २३७ और २३८ में स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ (द्वासुपर्णा०) ऋ० १। १६४। २० से स्पष्ट भेदप्रतिपादन को औपाधिकभेद ठहराने के लिये एक ऋग्वेद का मन्त्र और दूसरा बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन प्रमाण दिया है, परन्तु हम नीचे दोनों को पदार्थ सहित लिखते हैं। देखिये उन में भी उपाधि का शब्द तक नहीं आता। यथा–

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥

(ऋ० १०। ११४। ४)

निरुक्त १०। ४६ में भी यह मन्त्र आया है और वहां कोई उपाधि आदि लगा कर अर्थ नहीं किया है॥

सरलार्थ यह है–(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण है (स समुद्रम् आविवेश) वह आकाश में व्याप रहा है (स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) वह इस सब जगत् को देखता है। मैं (पाकेन मनसा) परिपक्व ज्ञान से (अन्तितः) समीप

ही (तम् अपश्यम्) उस को देखता हूं (तं माता रेळ्हि) उस को आकाश व्याप रहा है (स:उ) और वह (मातरम् रेळ्हि) आकाश को व्याप रहा है ॥

समुद्रः–यह निघण्टु १। ३ में अन्तरिक्ष का नाम है ॥ विचष्टे–यह पश्यतिकर्मा=अर्थात् देखने अर्थ में निघण्टु ३। ११ में आया है ॥ निरुक्त ७। २६ में मातरिश्वा शब्द की निरुक्ति के अवसर पर माता शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष किया है। यथा—

मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति ॥ ७। २६ ॥

और माता आकाश का नाम इस लिये भी है कि जैसे माता के गर्भ में सब प्राणी रहते हैं वैसे ही आकाश में भी सब पदार्थ रहते हैं ॥

इस में कहीं उपाधि लगा कर अर्थ करने की आवश्यकता नहीं ॥ दूसरा बृह० का वचन यह है–

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुषएतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ बृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं० १९ ॥

इस का सरलार्थ यह है कि–" जैसे इस आकाश में श्येन वा सुपर्ण नामक पक्षी उड़ कर थक कर पंख सकोड़ कर अपने घोंसले (नीड) के लिये ही धारण किया जाता है। ऐसे ही यह पुरुष (जीव) भी इस के अन्त के लिये दौड़ता है, पर जहां सोय जाता है वहां न किसी काम को चाहता न किसी स्वप्न को देखता है ॥ "

भला इस में उपाधि का क्या काम है। किन्तु जैसे पक्षी अनन्त आकाश में सामर्थ्यभर उड़कर फिर थक जाते हैं और पंख सकोड़ कर घोंसले में बैठ रहते हैं। ऐसे ही मनुष्य भी काम करते २ जब थक जाता है तो ऐसी गहरी नींद आती है कि न तो बाह्यचेष्टा कोई होती और न नींद में स्वप्न तक दीखता है ॥

द० ति० भा० पृ० २३९ में–समाने वृक्षे० इत्यादि अथर्व० करके यह दिखाया है कि स्वयं ईश्वर ही अनीश बुद्धि से मोह को प्राप्त होकर शोचता है। इत्यादि० ॥

प्रत्युत्तर–इस वाक्य का विस्तार पूर्वक भाष्य तो हमारे किये श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में उपस्थित है। वहां चतुर्थाध्याय का ५ वां अजामेका० श्लोक

है। छठा द्वासुपर्णा० है। सातवां समाने वृक्षे० यह है। बस छठे में जब यह कह चुके हैं कि दो सुपर्ण हैं तो ७ वें में उसी बात को स्पष्ट करते हैं जो छठे के अन्त में कहा था कि दोनों में से एक भोगों में फंसता है, दूसरा साक्षी है॥ ७ वें में यह भी बतलाया है कि यह भोग के बन्धन से कैसे छुटकारा पावे? यथा-

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः॥
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ४।७॥

भा०-अब मध्यस्थ जीवात्मा के एक ओर प्रकृति है, उस के सङ्ग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उस के सङ्ग से मोक्ष होता है। यह कहते हैं-(पुरुषः) जीवात्मा (समाने) अपने समान अनादि (वृक्षे) छिन्न भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में (निमग्नः) डूबा हुवा (अनीशया) परतन्त्रता से (मुह्यमानः) अज्ञानवश (शोचति) शोक करता है। (यदा) परन्तु जब (जुष्टम्) अपने में व्यापक (अन्यम्) दूसरे (ईशम्) स्ववश परमात्मा को और (अस्य, महिमानम्) उस की बड़ाई को (पश्यति) देखता है (इति) तब (वीतशोकः) शोकरहित हो जाता है॥

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूब कर आपे को भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो बड़े शोक होते हैं कि हाय मैं दुर्बल हो गया, हाय मेरे फोड़ा निकला है, हाय मेरा हाथ पांव आदि कट गया, हाय मेरी स्त्री वा पुत्रादि मर गया। इत्यादि प्रकार से शोकसागर में डूबता है। परन्तु जब अपने ही में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूं। मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता। मुझे तो अपने सदा सहवर्ती परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है। ऐसी रीति से विशोक हो जाता है॥ ७॥

इस में प्रकरणानुसार यह स्पष्ट है कि दोनों में से एक जीवात्मा मोहवश होता और परमात्मा की कृपा से छुटकारा पाता है, न कि परमात्मा स्वयं मोह में डूबता और अपनी कृपा से आप छुटकारा पाता है। इस में (अन्यमीशम्) इन पदों ने स्पष्ट परमात्मा को जीवात्मा से अन्य बतलाया है॥

द० ति० भा० पृ० २४० में जो तर्क हैं उन का सार यह है-१-स्वामी जी जो उपनिषद् मानते हैं, यहां जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध करने में श्वेताश्वतर ११ वें

उपनिषद् का प्रमाण क्यों दिया। २-किसी वेदमन्त्र का प्रमाण क्यों न दिया। ३-यदि "अजामेकां०" इस श्वेता० के वाक्य में जीव ब्रह्म का वर्णन मानोगे तो (जहात्येनां भुक्तभोगाम्०) इस का यह अर्थ है कि जिस से भोग भोग लिया उस प्रकृति को एक परमात्मा त्यागे है। तदनुसार पूर्वकाल में ब्रह्म को भोगापत्ति आई। ४-पृ० १८३ में जीव को जन्म मरण सोने जागने वाला कहकर उस के विरुद्ध यहां उसे अज क्यों लिखा। ५-प्रकृति, कार्य होने से घटवत् सादि हो सकती है, न कि अनादि॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी ने दश उपनिषदों को प्राचीन और अन्यों को नवीन कहा है। अप्रमाण नहीं कहा। श्वेताश्वतर और मैत्र्युपनिषद् भी दश उपनिषदों के समान परतःप्रमाण अवश्य हैं। और जो नवीन वेदान्ती दश उपनिषदों के अतिरिक्त अन्यों को भी मानते हैं उन के अभेदमन्तव्यखण्ड-नार्थ यदि दश उपनिषद् से बाहर का भी प्रमाण दिया जाय तो अयुक्त नहीं॥

२-वेदमन्त्र भी (द्वा सुपर्णा०) यह ऊपर पृ० २०८ में लिख आये हैं। आप ने उस पर समीक्षाभास भी किया है। क्या भूल गये?

३-(जहात्येनां भुक्तभोगाम्०) में अन्येन अजेन जीवात्मना भुक्तो भोगो यस्याः सा भुक्तभोगा" इस प्रकार समास करने से परमात्मा में भोगापत्ति नहीं आती किन्तु जीवात्मा में रहती है॥

४-पृ० १८३ में जीवात्मा को स्वरूप से जन्म मरण नहीं लिखे थे किन्तु देह के साथ होने का नाम जन्म और देह से वियोग का नाम मरण मान कर लिखा था, इतने से उस के स्वरूप से अज होने में बाधा नहीं आती॥

५-प्रकृति, कार्य नहीं किन्तु कारण का नाम है। इस लिये घटवत् सादि नहीं होसकी। घट कार्य है। प्रकृति कारण है। इस लिये (विमता प्रकृति जन्या-रूपवत्वात् घटवत्) यह अनुमान, पाठ से अशुद्ध तो था ही, अर्थसे भी अशुद्ध है॥

द० ति० भा० पृ० २४० पं० २७ से-और इस से पूर्व वाक्य देखने से ब्रह्म-तादात्म्यापन्न भिन्नाऽभिन्नविलक्षण प्रकृति सिद्ध होती है। यथाहि-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेता० १। ३)

प्रत्युत्तर-"अजामेकाम्०" वाक्य श्वे० उप०के अध्याय ४ का ५ वां है और "ते ध्यानयोगा०" यह प्रथमाध्याय का ३ तीसरा है। भला इस का प्रसङ्ग

उस से अधिक कैसे होसक्ता है ? और आप "ते ध्यानयोगा०" का उत्तरार्ध और लिख देते तो अभेद का भेद और भी खुल जाता । यथा–

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वे० १ । ३ ॥

भा०-इस प्रकार कालादि को स्वतन्त्र कारण न समझ कर (ते) उन ऋषियों ने (ध्यानयोगानुगताः) ध्यानमें चित्त की एकाग्रता के साथ (निगूढाम्) छिपी हुई (देवात्मशक्तिम्) परमेश्वर की निजशक्ति को वा परमेश्वर जीव और प्रकृति को (स्वगुणैः) अपने गुणों से (अपश्यन्) पहिचाना (यः) जो (एकः) अकेला (कालात्मयुक्तानि) काल और पुरुषसहित (निखिलानि) समस्त (तानि) पूर्वोक्त (कारणानि) कारणों का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है ॥

आशय यह है कि काल से लेकर आत्मा-पुरुष पर्यन्त द्वितीय श्लोक में कहे बीच के स्वभाव, प्रारब्ध, यदृच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति इन सब कारणों का भी अधिष्ठाता परमात्मा है अर्थात् काल स्वभाव आदि भी अपने२अंश में कारणहैं परन्तु कालादि जड़होने और जीवात्मा सुखदुःखभोगमें परतन्त्र होने से स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु परमात्मा सब कारणों का अधिष्ठाता स्वतन्त्र कारण है । वह अन्य काल स्वभाव आदि सब कारणों को अपने आधीन रख कर सब जगत् को रचता पालता और प्रलय करता है । यह उस के गुणों से पहचाना जाता है । यद्यपि उस की यह शक्ति छिपी हुई अर्थात् सब किसी को नहीं जान पड़ती तथापि उन ऋषियों ने ध्यानयोग से उसे पहिचाना । इसी प्रकार अस्मदादि लोग भी ध्यानयोग से उस की छिपी शक्ति को जान सकते हैं । इस श्लोक में जो (देवात्मशक्तिम्) पद है उस का दूसरा अर्थ है यह भी हो सकताहै कि देव=परमात्मा,आत्मा=जीव, शक्ति=प्रकृति इन तीनोंको उन्होंने जगत् का कारण जाना और इन तीनोंमें जीव प्रकृति तथा कालादि अन्य साधारण कारणों का अधिष्ठाता परमात्मा है, यह भी उन्होंने जाना। और "वह एक परमात्मा अन्य काल स्वभाव प्रारब्ध यदृच्छा पञ्चभूत प्रकृति जीव इन कारणों का अधिष्ठाता है" इस कहने से इन को भी कारण तो माना,किन्तु केवल परमात्मा को ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारणनहीं माना। किन्तु परमात्मा स्वतन्त्र इन का अधिष्ठाता है और काल स्वभाव प्रकृति

आदि तथा सुख दुःख भोग में जीवात्मा भी परमात्मा के आधीन है किन्तु कारण अवश्य है। यह १। २ और ३ श्लोकों का संक्षिप्त आशय है॥ ३॥

इस लिये आप के भिन्नाऽभिन्नविलक्षण का तात्पर्य यह है कि प्रकृति यथार्थ में ब्रह्म से भिन्न तौ इस कारण नहीं कि ब्रह्म से भिन्न देश में नहीं रहती। और अभिन्न इस से नहीं कही जाती कि स्वरूप उस का परिणामी और जड़ है। ब्रह्म के समान एकरस और चेतन नहीं। यही विलक्षणता है कि स्वरूप से भिन्न और देश से अभिन्न है॥

द० ति० भा० पृ० २४१ में कल्पनोपदेशा० इस सूत्र से प्रकृति को अजा कहना कल्पित है। यह सिद्ध किया है॥

प्रत्युत्तर—इस सूत्र का तात्पर्य सुनिये—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥ वेदान्तसूत्रम् १।४।१०

जिस प्रकार आत्मा को शतपथ में "मधु" कह कर कल्पना से उपदेश किया है इसी प्रकार वाणी को धेनु कल्पित करके उपदेश करने में भी विरोध नहीं तथा प्रकृति को (द्वा सुपर्णा०) इत्यादि मन्त्र में एक वृक्ष के समान कल्पित कर लिया है और पुरुष को पक्षी के समान। इस में भी विरोध नहीं॥

इस से उपादान जड़ कारण की वस्तुता को कल्पित नहीं बताया, किन्तु उस के वृक्षत्वादि को कल्पित बताया है॥

द० ति० भा० पृ० २४१ पं० १४ से—और जब कि सब कुछ ईश्वर ही से उत्पन्न हुवा है तौ प्रकृति नित्य कैसे—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वा०००० तैत्ति०॥१॥ इदंसर्वमसृजत् यदिदं किञ्चेति। तै० ॥२॥ आत्मा वा इदमेकएवाग्रआसीन्नान्यत्किञ्चन तै० ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—भला आपने यह तौ बताया कि सब कुछ ब्रह्मने उत्पन्न किया, परन्तु आपके लिखे तीनों वाक्यों में यह कहां लिखा है? कि ब्रह्मने प्रकृति को रचा। जब नहीं लिखा तौ प्रकृति अनित्य नहीं हो सकती। तीसरे वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति न थी किन्तु आत्मा और इदंपद-वाच्य जगत् प्रथम एकमेक हो रहे थे, अर्थात् जगत् प्रतीयमान न था। कारण प्रकृति में लीन होने से॥ नासदासीत्० का अर्थ हम भी पूर्व करचुके हैं॥

सत्या० पृ० २०९ में स्वामी जी ने "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था०" इस

सूत्र के अन्त में आये "पुरुष" शब्द का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा किया है। इस पर द० ति० भा० पृ० २४२ में लिखा है कि कपिलदेव को जीवात्मा परमात्मा दो विवक्षित होते तो क्या वे गिन्ती नहीं जानते थे कि २५। २६ दोनों को भिन्न २ न कहा ॥

प्रत्युत्तर—कपिलदेव ने २५ पदार्थ गिनाने में पुरुष शब्द को ऐसा पाया जो जीवात्मा परमात्मा दोनों का साधारण नाम है इस लिये २६ वां गिनाने की आवश्यकता न थी ॥

द० ति० भा० पृ० २४३ पं० २३ से-स्वामी जी की कैसी बाजीगर के सी लीला है आप ही प्रश्न करता हैं और आप ही उत्तरदाता हैं स्वयं ही कहीं की ईट कहीं का रोड़ा लेकर उपनिषद् की श्रुति लिखी हैं जैसा (सर्वं) में (नेहनाना) यह श्रुति मिलादी भला यह प्रश्न किसने स्वामी जी से किये थे यह मिथ्या कल्पना इन के घर की है (नेहनाना) इस के अर्थ जो (इस चेतन मात्र) इत्यादि पूर्व लिखित किये हैं इस अक्षरार्थ में दृष्टि दीजिये तो यह अर्थ होता है कि (इह नाना किंचन नास्ति) अर्थात् इस ब्रह्म में कुछ भी पृथग्भूत वस्तु नहीं है जैसे लोक में भी कहते हैं (इह मृदि घटादिकं किंचन नाना नास्ति अर्थात् पृथक्ग्भूतं नास्ति किन्तु मृदेव घटादिरूपेण प्रतीयते) इन घड़ों में मिट्टी के सिवाय कुछ नहीं है किन्तु यह मिट्टी ही घड़ों के रूप से प्रतीत होती है) स्वामी जी ने जो इस का लम्बा चोंड़ा अर्थ किया है वोह कौन से पदों का अर्थ है (और परमेश्वर के आधार में स्थित है) तो क्या कोई परमेश्वर का भी आधार दूसरा है सब का आधार तो परमात्मा आप है उस में भी आप पृथक् वस्तुओं का आधार लगाते हैं और उस में नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है क्योंकि पञ्चभूतों के मेल विना कोई भी कार्य सिद्ध होता नहीं इसी कारण त्रिवृत्करण पञ्चीकरण होकर सर्व कार्य सिद्ध होते हैं अब यह समग्र श्रुति लिखते हैं जिस से स्वामी जी का खण्डन स्वतः हो जायगा—

मनसैवेदमाप्तव्यंनेहनानास्तिकिञ्चन ।
मृत्योःसमृत्युंगच्छतियइहनानेवपश्यति ॥
कठ० उ० वल्ली ४ मं० ११ ॥

प्रत्युत्तर—नवीन वेदान्ती इन दोनों को जोड़कर अभेद सिद्ध किया करते हैं तदनुसार स्वामी जी ने पूर्वपक्ष लिखा। और आप यदि इसको प्रत्यावृत्त

(वापिस) लेते हैं वा वेदान्तियों का पक्ष नहीं मानते तौ न सही । हमारी क्या हानि है । और (नेह नानास्ति किञ्चन) का अर्थ आप करते हैं कि जैसे (इह मृदि घटादिकं किञ्चन नाना नास्ति) यह उस काल में बन सकता है जब मृत्तिका घटाकार परिणत=रूपान्तरित न हुई हो । परन्तु यदि (इह जले मृदादिकं नाना नास्ति) अर्थात् इस पानी में मिट्टी आदि कुछ मिला नहीं किन्तु केवल स्वच्छ जल है, इस प्रकार समझा जावे तौ त्रिकाल में केवल स्वच्छ चेतनमात्र ब्रह्म के स्वरूप में कुछ नाना=अनेक अन्य वस्तु नहीं हैं, यह अर्थ कैसा निर्मल होजावे ॥

" परमेश्वर के आधार में " का तात्पर्य यह नहीं है कि परमेश्वर का कोई भिन्न आधार है । किन्तु " परमेश्वर ही जो आधार है उस में " यह तात्पर्य है । जैसे लोक में " पात्र के आधार जल है " इस का " पात्ररूप आधार से जल ठहरा है" यह तात्पर्य होता है । आप अर्थछल करते हैं ॥

ब्रह्म में (उस के स्वरूप में) अनेक वस्तु का मेल क्या आप मानने लगे ? जो कहते हो कि ' नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है"

अपनी समग्र श्रुति का अर्थ सुनिये । आप तौ पूरी श्रुति का गर्व करते हैं हम उस से पूर्व ले वाक्य सहित आप के लिखे वाक्य को अर्थ सहित लिख कर दिखाते हैं कि वहां क्या प्रकरण है-

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ४ । १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४।११॥ कठ-

मृत्यु और नचिकेता का संवाद है कि-" जो ब्रह्म यहां है (इस लोक में है) वही वहां (परलोक में) है । जो वहां है सो यहां है । जो इस में अनेक भाव देखता है (इस लोक परलोक के अनेक ब्रह्म समझता है) वह मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त होता है॥ ४ । १० ॥ यह मन=ज्ञान से प्राप्त करने योग्य है (इन्द्रियों द्वारा नहीं) क्योंकि इस में नाना पदार्थों का संयोग नहीं । (जो पदार्थ नानाद्रव्यों के संयोग से बनते हैं वे इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं) वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है जो इस (ब्रह्म) में मिलावट समझता

है। अर्थात यह समझता है कि जगत के नाना पदार्थों ही को पूर्वजों ने मिला कर ब्रह्म नाम धर दिया है। जो ऐसा समझने वाला नास्तिक है; वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है। मोक्ष नहीं पा सका॥

द० ति० भा० पृ० २२४ में (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) का अर्थ " ब्रह्मत्व " नहीं है, यह दिखलाने के लिये छान्दोग्य के ४ वाक्य पृ० २४५ में पूरे लिखे हैं जिन के लिखने की आवश्यकता न थी, यदि प्रकरण का अर्थ दिखलाना था तौ एक वाक्य ही लिखदेना था। अस्तु पाठकों के भ्रमनिरासार्थ चारों ही वाक्यों को हम प्रस्तुत करके अर्थ करते हैं और दिखलाते हैं कि (सर्वं खल्विदं०) का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है, वही ठीक है॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ३। १४। १॥ मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ३। १४। २॥ एषमआत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् दिवोज्यायानेभ्योलोकेभ्यः ३। १४। ३॥ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरएषमआत्मान्तर्हृदयएतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः॥ छान्दो० ३। १४। ४॥

अर्थ-(शान्तः) शान्तियुक्त मनुष्य (इदं सर्वम्) इस सब पूर्वप्रतिपादित (ब्रह्म) ब्रह्म को (खलु) निश्चय (उपासीत) उपासित करे। और (पुरुषः खलु क्रतुमयः) मनुष्य अवश्य कर्ममय है अर्थात् कर्मों के अनुसार जाति आयु भोग को प्राप्त होता है। (पुरुषः अस्मिंल्लोके यथाक्रतुः भवति) मनुष्य इस लोक में जैसे कर्म करने वाला होता है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसा यहां से मर कर होता है। (इति) इसलिये (तज्जलान्) उस ब्रह्म के उत्पन्न किये और उसी

आधार में लीन होने वाले पदार्थों को (सः) वह मनुष्य (क्रतुं कुर्वीत) कर्म वा यज्ञ करे । अर्थात् परमेश्वर की उत्पादित और अन्त में प्रलय होकर उसी में रहने वाली वस्तुओं को यज्ञ अर्थात् यथायोग्योपकार में लगावे ॥ १ ॥

अब दूसरे वाक्य में भिन्न २ दो आत्माओं का वर्णन है-(मनोमयः) चेतनस्वरूप (प्राणशरीरः) प्राण जिस का शरीर है (भारूपः) प्रकाश वाला (सत्यसंकल्पः) सत्य संकल्प करने वाला (आकाशात्मा) आकाश के समान सूक्ष्मस्वरूप (सर्वकर्मा, सब कर्म करने वाला (सर्वकामः) सब कामनाओं वाला (सर्वगन्धः सर्वरसः) सब गन्ध और रसों वाला (इदं सर्वम्) इस सब भोग्य पदार्थ को (अभि आत्तः) अभिव्याप्त करके लेने वाला (अवाकी अनादरः) वस्तुतः वाग्युपलक्षित इन्द्रियों से वर्जित और निर्भय है ॥ २ ॥

(एषः आत्मा) यह आत्मा जो कि (मे अन्तर्हृदये) मेरे हृदय के भीतर है सो (व्रीहेर्वा, यवाद्वा, सर्षपाद्वा, श्यामाकाद्वा, श्यामाकतण्डुलाद्वा,) धान्य से भी, जौ से भी, सरसों से भी, सवें सेभी और सवें के चावल से भी (अणीयान्) अत्यन्त छोटा है (एष आत्मा) और यह दूसरा आत्मा (मे अन्तर्हृदये) मेरे हृदय में है जो कि (दिवः ज्यायान्) द्युलोक से अत्यन्त बड़ा है (ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः) और इन सब लोकों से भी बड़ा है ॥ ३ ॥

(सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः) [यह दूसरा आत्मा भी) सब कर्मों वाला, सब कामनाओं, सब गन्धों और सब रसों वाला है (सर्वम् इदम् अभ्यात्तः) और इस सब जगत् को अभिव्याप्त कर रहा है (अवाकी अनादरः) वागादि इन्द्रियवर्जित और निर्भय है (एषआत्मा मेऽन्तर्हृदये) यह परमात्मा मेरे हृदय के भीतर है (एतद्ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इतः प्रेत्य) इस संसार से चलकर [मर कर] (एतम् अभिसंभवितास्मि) इस परमात्मा से मिलूंगा (इति यस्य अद्धा स्यात्) ऐसा जिस को साक्षात्कार होजावे (न विचिकित्साऽस्ति) फिर उसे चिन्ता शोक मोहादि नहीं (शाण्डिल्यः इति ह आह स्म) शाण्डिल्य ऋषि ऐसा कहते थे ॥ ४ ॥

इस में केवल यह कहा गया है कि आत्मा में जिस प्रकार चेतनता और सब कामों, कामनाओं, गन्धों, रसों और पदार्थों के ग्रहण का सामर्थ्य है, इस प्रकार का अन्य प्राकृत पदार्थ कोई नहीं, केवल परमात्मा है जिस में जीवात्मा से अधिक अनन्त सामर्थ्य है, इस लिये जीवात्मा को चाहिये कि परमात्मा से मिलने का उद्योग करे । क्योंकि साधर्म्ययुक्त पदार्थों के

साथ से आनन्द और वैधर्म्ययुक्त पदार्थों के मेल से दुःखों का भोग होता है। अतः साधर्म्ययुक्त परमात्मा से जीवात्मा को प्रीति भक्ति करनी चाहिये और अन्यों से वैराग्य वा उदासीनता ॥

जब कि इस में एक आत्मा को अत्यन्त छोटा और दूसरे को अत्यन्त बड़ा कहा है तो जीव ब्रह्म का भेद बहुत स्पष्ट है ॥

द० ति० भा० पृ० २४६ में—। सदेव सौम्येदमग्रे०) इत्यादि छान्दोग्य ६।२ के १।२।३ वाक्य लिखे हैं और क्योंकि तीसरे में (तदैक्षत) पद आये हैं जिन का अर्थ यह है कि "उस ने देखा" इस लिये जाना गया कि देखने वाला चेतन ही हो सक्ता है, जड़ नहीं। इस पर द० ति० भा० पृ० २४१ पं० ६ से यह उलाहना दिया है कि "इस श्रुति में सत् शब्द को जड़ प्रकृति का बोधक मानना स्वामी जी की वेदान्तानभिज्ञता प्रकट करता है"

प्रत्युत्तर—स्वामी जी तो वेदान्त जानते थे पर आप सत्यार्थप्रकाश में भी बोध कम रखते हैं। सत्यार्थप्रकाश में सत् शब्द प्रकृतिवाचक लिखा है परन्तु (सदेव सौम्येदमग्रे०) इस वाक्य के अर्थ करते हुवे सत् शब्द को जड़ प्रकृति वाचक मात्र नहीं लिखा किन्तु सत्यार्थ० खोल कर देखिये उस में—

तेजसा सोम्यशुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ०

इस वाक्य के अर्थ में जो ऊपर के (सदेवसौम्येदमग्र०) इस छां० प्रपाठक ६ खण्ड२ वाक्य १ है, उससे (तेजसासोम्यशु०) यह वाक्य छां० प्रपाठक ६ खण्ड ८ वाक्य४ होने से बहुत दूर है। स्वामी जी ने इस के अर्थ में लिखा है कि-

"तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।"

इसलिये आप सत्यार्थप्रकाश को नहीं समझे? वा स्वामी जी वेदान्तको नहीं समझे? यह आप ही बताइये॥ अब अपने लिखे तीनों वाक्यों का अर्थ सुनिये-

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सदऽजायत ॥ १ ॥ कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् ॥ २ ॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत ॥ ३ ॥ छां० प्र० ६ खं० २

जानना चाहिये कि सत् किसे कहते हैं । सत् पद का अर्थ यह है कि जो तीनों काल में होवे । सो जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों नित्य हैं, इस लिये तीनों का नाम "सत्" है । सत् के साथ यदि "चित्" जोड़ दें तो "सच्चित्" हो जावे । जिस का अर्थ "तीनों काल में होने वाला और चेतन" है । इस लिये "सच्चित्" शब्द जीवात्मा और परमात्मा का बोधक हुवा, प्रकृति की व्यावृत्ति हो गई । अब यदि "सच्चित्" में 'आनन्द" और जोड़ दें तो "सच्चिदानन्द" होता है, जो केवल परमात्मा का ही बोधक है, इस से प्रकृति और जीवात्मा दोनों की व्यावृत्ति है, परन्तु हम देखते हैं कि ऊपर के लिखे छान्दोग्यवचन में चित् और आनन्द पद नहीं हैं, केवल "सत्" है । इस लिये सत् पद से यहां जीव ब्रह्म प्रकृति तीनों के समुदाय का अर्थ लेना ठीक होगा । अर्थात्-

(सदेव सोम्येदम०) हे सौम्य ! प्रथम सत् ही था अर्थात् जीव ब्रह्म प्रकृति का समुदाय ही अद्वितीय अर्थात् अकेला था । (तद्धैक आहुरऽसदेवे०) परन्तु कोई शून्यवादी कहते हैं कि असत् ही प्रथम था, असत् से सत् हो गया ॥ १ ॥ (कुतस्तु खलु सोम्यैवम्०) परन्तु सौम्य ! यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् हो जावे अर्थात् यह होना असम्भव है । इस लिये (सत्वेवेदमग्रे) प्रथम सत्पदवाच्य तीनों का ही एक अद्वितीय समुदाय था ॥ २ ॥ (तदैक्षत०) उस ने देखा कि मैं [समुदाय] जो एक हूं बहुत हो जाऊं और उस ने तेज को रचा ॥ ३ ॥

हम समझते हैं कि इस वचन में और इस के साथी अन्य इस के तुल्य वचनों में अब किसी को भ्रम न होगा ॥

तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित० इस वाक्य में कोई ईक्षणार्थक पद नहीं है, इस लिये यदि स्वामी जी ने यहां "सत्" पद से प्रकृति का ग्रहण कर लिया तो अनर्थ क्या है और जब इस में ईक्षणवाचक कोई पद नहीं तब आप जो द० सि० भा० पृ० २४७ पं० २७ में कहते हैं कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम् । शा० १ । १ । ५

सो यहां ईक्षति क्रिया का प्रयोग ही नहीं, तब सत् पद से प्रकृति के ग्रहण में दोष नहीं आसकता । हां, जहां ईक्षति क्रिया=देखना आया हो, वहां सत् पद से प्रकृति मात्र का ग्रहण स्वामी जी करते तो आप का कहना ठीक

हो सकता था। सूत्र का अर्थ यह है कि-(ईक्षतेः) वेदों वा उपनिषदों में जगत्कर्त्ता के प्रतिपादन में ईक्षितिक्रिया=देखना क्रिया आने से (न) केवल प्रकृति जगत्कर्त्ता नहीं (अशब्दम्) यदि प्रकृति को जगत्कारण माने तो शब्दप्रमाण के विरुद्ध है॥

द० ति० भा० पृ० २४८ पं० ८ से-अब दूसरी श्रुति भी देखिये, जिस से ब्रह्म भिन्न प्रकृति की उपादानकारणता सिद्धान्त का खण्डन होता है-

सोऽकामयत । बहुस्यांप्रजायेयेति । सतपोऽतप्यत । सतपस्तप्त्वा । इदꣳसर्वमसृजत । यदिदंकिंच । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्चत्यच्चाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञातञ्चाविज्ञातञ्च । सत्यञ्चानृतञ्चसत्यमभवत् । यदिदंकिञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येषश्लोकोभवति । असद्वाइदमग्रआसीत् । ततोवैसदजायत । तदात्मानंस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥ तैत्ति० ॥

प्रत्युत्तर-(सोकामयत०) से (श्लोको भवति) तक ब्रह्मानन्द बल्ली का छठा अनुवाक है और (असद्वा०) इत्यादि ७ वां अनुवाक है । आपने इसे जोड़ दिया । प्रकरण के अनुकूल इन दोनों वाक्यों से भी अभेद की सिद्धि नहीं होती । जिस प्रकार राजा के साथ सेना अविवक्षित होती है और कहते हैं कि "राजा ने चाहा कि मैं शत्रु का विजय करूं और वह शत्रु पर चढ़ाई करने लगा" यहां यद्यपि राजा अकेला चढ़ाई नहीं करता किन्तु सेनासहित करता है, परन्तु सेना के अप्रधान होने से केवल राजा पद में सेनादि सब कुछ समझ लिया जाता है । इसी प्रकार यहां भी (सः) वह परमात्मा जिस के भीतर जीवात्मा और प्रकृति वर्त्तमान हैं (अकामयत) चाहना करता हुवा कि (बहु स्याम्) जो मैं अब प्रकृति और जीवों सहित एकमेक हूं सो बहुत हो जाऊं अर्थात् अनेक नाम रूप वाली वस्तु बनाकर स्थित होऊं । [आगे कोई पद संशय में डालने वाला नहीं है] उस ने ज्ञानमय तप किया और सब को रचा और रचित पदार्थों में अनुप्रवेश अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश के भी भीतर अपना अनुप्रवेश करके स्थित हुआ । तब पृथिव्यादि भूत सत् और वाय्वादि त्यत् हुवा । निरुक्त और अनिरुक्त सब हुआ । साधार और निराधार सब हुवा। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सब हुवा । सत्य और असत्य हुआ।

इस सब जगत् को सत्य से उत्पन्न होने से सत्य कहते हैं। सो यह श्लोक अन्य ग्रन्थ में कहा है कि-प्रथम अप्रतीयमान कारण था। उस से प्रतीयमान जगत हुआ। अप्रतीयमान ने अपने को प्रतीयमान किया। इस से सुकृत कहा जाता है॥

सुकृत अच्छा किया कर्म, उसे कहते हैं जिस के करने में कर्त्ता को बड़ी सुगमता रही है। और जब कर्त्ता को अपने काम में अत्यन्त सुगमता होती है तभी—

यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्त्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कारकान्तराण्यपि कर्त्तृसञ्ज्ञां लभन्ते॥

अर्थात् कर्त्ता को अत्यन्त सुगमता दिखाने के लिये कर्त्ता का व्यापार कहने में नहीं लाया जाता और कर्मादि कारकों को कर्त्ता के समान बोलते हैं। जैसे जब रसोई बनाने में अत्यन्त चतुर और विना प्रयास रसोई बनाता है तब कहते हैं कि " रसोई बन रही है " कर्त्ता का नाम नहीं लेते। ऐसे ही यहां भी कहा गया है कि जगत् परमात्मा के ईक्षण से आप से आप बनता है। अर्थात् परमात्मा को इस के रचन में प्रयास वा श्रम नहीं करना होता। स्वाभाविक ईक्षण मात्र से सब सृष्टि अपने आप बनने लगती है॥

स्वामीजी ने वैशेषिक सूत्र (कारणगुणपूर्वकःकार्यगुणोदृष्टः) से यह सिद्ध किया है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान कारण माना जाय तो चेतन से जड़ जगत उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि " कारणगुणपूर्वक कार्यगुण देखा जाता है। " इस पर द० ति० भा० पृ० २५० में (दृश्यते तु अ० २ पा० १ सूत्र ६) यहां तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्त के वास्ते है (एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः) इस में चेतन से जड़ का जन्म सुना है। बस स्वामी जी का बोध कथन कारण के सदृश कार्य होता है खण्डित हो गया। (विज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायेति) इस से जड़ से चेतन का जन्म है। लोक में भी चेतन से विलक्षण केश नखादि का जन्म और अचेतन गोमयादि से वृश्चिकादि का जन्म देखते हैं॥

प्रत्युत्तर-अच्छा क्या (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः) इस वैशेषिक सूत्र को आप नहीं मानते ? क्या शास्त्रों में आपस में विरोध है ? जो कणाद के विरुद्ध आप व्यास का सूत्र प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में आप जिस सूत्र को प्रमाण में देते हैं वह तर्काभासाधिकरण का सूत्र है। अध्याय २ पाद १ सूत्र ४

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्

इस सूत्र के ऊपर ही आप के माननीय भाष्यकार ने " तर्काभासाऽधिकरण " अर्थात् मिथ्या तर्कों का अधिकार लिखा है। बस यह सूत्र मिथ्या तर्क दिखाता है कि—

दृश्यते तु २। १। ६

देखा तो जाता है कि जड़ से चेतन, चेतन से जड़ उत्पन्न होते हैं। जैसे गोबर से बिच्छू इत्यादि। परन्तु यह तर्क मिथ्या है क्योंकि गोबर से बिच्छू का जड़ शरीर ही बनता है, चेतन आत्मा तो अन्य देहों से वियुक्त होकर कर्मानुसार उस में आजाता है। इस लिये कारणगुणपूर्वक ही कार्य गुण होते हैं। यह बात अबाध्य ठीक है॥

द० ति० भा० पृ० २५० पं० २९ में (नैषा तर्केण मतिरापनेया) और पृ० २५१ पं० ४ में (तर्काऽप्रतिष्ठाना०) इत्यादि व्याससूत्र से तर्क की निन्दा की है॥

प्रत्युत्तर-ठीक है, तर्काऽभास=मिथ्या कुतर्कों की स्थिति नहीं है। इस लिये असत्तर्क जैसा कि ऊपर (दृश्यते तु) सूत्र का तर्क है। इस प्रकार के तर्क सन्तोषदायक न होने से निन्दनीय हैं॥

द० ति० भा० पृ० २५१ पं० १४ में (यथा च प्राणादि) इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-यह सूत्र भी स्वामी जी के पक्ष की पुष्टि करता है। इस से पिछले दो सूत्र इस से मिलाइये तब स्पष्ट दीख पड़ेगा कि नियत कारण से ही नियत कार्य बन सकते हैं। चेतन से जड़ादि वा असत् से सत् नहीं। यथा हि-

युक्तेः शब्दान्तराच्च। शा० २। १। १८ पटवच्च॥ १९॥ यथा च प्राणादि॥ २०॥

युक्ति और अन्य शब्द प्रमाणों से भी नियत कारण से नियत कार्य ही उत्पन्न होने सिद्ध होते हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा और दूध से दही। दूध से घड़ा और मिट्टी से दही नहीं बनता॥ १८॥ और पट अर्थात् वस्त्र के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध है॥ १९॥ और प्राणादि वायुभेद, वायु से ही उत्पन्न होते हैं। इस से जाना जाता है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत अनन्य कारण होता है। यह नहीं कि चाहे जिस कारण से चाहे जो कार्य बन जावे॥

द० ति० भा० पृ० २५१ पं० २३ में (देवादिवदपि लोके) इस सूत्र से यह

सिद्ध करते हैं कि जैसे लोक में देवादि सिद्ध लोग विना सामग्री के अपनी विचित्र शक्ति से पदार्थों को रच लेते हैं, जैसे बकुली वीर्य विना केवल मेघ-गर्जन से ही गर्भवती हो जाती है, वा मकड़ी सूत के विना ही जाला पूरती है। ऐसे ही विना प्रकृति के केवल ब्रह्म ने जगत् रच लिया ॥

प्रत्युत्तर–जिस प्रकार देवादि सिद्ध कोटि के मनुष्यों के पास अदृश्यरूप से विचित्र सामग्री वर्त्तमान रहती है, और बकुली के गर्भार्थ मेघगर्जन ही में वायु द्वारा वीर्य प्राप्त होता है और जिस प्रकार मकड़ी का आत्मा अपने स्थूल शरीर में छिपे हुवे सूतों को फैलाता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अव्यक्त अदृश्य प्रकृति को विकृति करके ही जगत् को बनाता है। यदि नियत सामग्री की आवश्यकता नहीं होती तो राजादि लोग देवादि सिद्ध पुरुषों से राज्यादि करणार्थ नवीन पृथिवी बनवाकर राज्य करते, बकुली के समान काकी और मनुष्य की स्त्री भी मेघगर्जन से गर्भवती हो जातीं, मकड़ी के समान विना सूत के जुलाहे भी कपड़ा बुन लेते। परन्तु सामग्री विना यथार्थ में कोई कार्य बनता नहीं। यह बात दूसरी है कि सामग्री प्रत्यक्ष हो, वा छिपी अदृश्य हो ॥

द० ति० भा० पृ० २५२ पं० १६ में–महाप्रलय में ब्रह्म के विना और कुछ नहीं था फिर प्रकृति आदि कहां २ थे देखो (नासीत्) आदि मन्त्र जो महा-प्रलय के वर्णन में पीछे लिख आये हैं ॥

प्रत्युत्तर–महाप्रलय के वर्णन में नहीं, सर्वशक्तिमान् के प्रकरण में आपने "नासदासीत्०" इत्यादि लिखा था, जिस का उत्तर भी हम अपने पृ० २११ में दे चुके हैं ॥ "सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी की सहायता के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है॥" इस सत्यार्थप्रकाश के लेख का तात्पर्य यह नहीं है कि उपादान विना जगत् को रच सकता है। किन्तु इतने बड़े जगत् को उपादान से तत्क्षण बना देता है और सहाय-तार्थ किसी अन्य जीव को नहीं बुलाता ॥ यह तात्पर्य है ॥

द० ति० भा० पृ० २५२ पं० २९ से–स्वामी जी पूर्व तो लिखि आये हो कि (न तस्य कार्यं करणं च विद्यते) उसे कार्य करणादि की कुछ अपेक्षा नहीं अब यहां यह गड़बड़ी ॥

प्रत्युत्तर–न तस्य कार्यम्० इस वाक्य में वा स्वामी जी के अर्थ में क्या कहीं जगत्कारण का निषेध भी लिखा है ? कहीं नहीं। फिर कार्य करणादि के निषेध से उपादान कारण का निषेध समझना अज्ञान नहीं तो क्या है ? " न

नस्य कार्य"कहने से यह अवश्य सिद्ध होता है कि ईश्वरका कार्य कोई नहीं अर्थात् ईश्वर किसी कार्य पदार्थ का उपादान नहीं। किन्तु प्रकृति ही उपादान है।

द० ति० भा० पृ० २५३ पं० १४ में—जैसे घटाकाश घट के टूटने से आकाश में मिलता है इसी प्रकार कर्मबन्धन टूटने से यह शुद्ध आत्मा सर्वसामर्थ्ययुक्त होता है।

प्रत्युत्तर—आकाश से भिन्न घट वस्तु न हो तो घटाकाश वा घट का टूटना आदि व्यवहार नहीं बने, इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न आप के मत में कोई वस्तु नहीं तो टूटना आदि कुछ नहीं कह सकते। यदि कहते हो तो त्रैतापत्ति न सही, द्वैतापत्ति तो आप पर पड़ी ही॥

——:※:——

आदिसृष्टिस्थानप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २५३ पं० २५ में—यजुर्वेद में कहीं यह वाक्य नहीं कि (ततो मनुष्या अजायन्त) और दूसरे पद में लौट फेर किया है (मनुष्या ऋषयश्च ये)॥

प्रत्युत्तर—"ततो मनुष्या अजायन्त" यह पाठ शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपा० ३ ब्राह्मण ४ कण्डिका ३ के अन्त में है। जिस को कि मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद मानने वाले आप यह नहीं कह सकते कि यह यजुर्वेद का वचन नहीं है। मिथ्या कल्पना उसे कहते हैं कि जिस में अपने प्रयोजन को सिद्ध करने और दूसरे को हानि पहुंचाने के अभिप्राय से किसी प्रकार के बनावटी प्रमाण को प्रमाण की रीति पर दिखलाया जावे, जिस प्रमाण को कि प्रमाण देने वाला जानता हो कि यह प्रमाण यथार्थ में मेरा पक्षपोषक नहीं परन्तु मैं इस प्रमाण को झूंठ सूंठ बनाकर दिखला दूंगा तो मेरा प्रयोजन सिद्ध होजायगा और दूसरे को हानि भी चाहे हो। परन्तु स्वामी जी के लिखे उन वाक्यों से जिन को उन्हों ने वेदवाक्य करके लिखा है, क्या यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने प्रयोजन सिद्ध करने को कल्पित मन्त्र घड़ लिये? विचारना चाहिये कि वहां प्रकरण क्या है। सत्यार्थप्रकाश में वहां यह प्रश्न है कि—(प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या? इस प्रश्न के उत्तर में यह सिद्ध करने को कि एक मनुष्य नहीं किन्तु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुवे, स्वामी जी ने उक्त दो वाक्य लिखे हैं। वक्ता का तात्पर्य समझने के लिये वाक्य के सम्पूर्ण अवयवों पर ध्यान देना चाहिये। इस प्रश्न को उठा कर उत्तर देने में स्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सृष्टि

का बीज एक २ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नहीं हैं किन्तु मनुष्यादि अनेकोंसे सृष्टि आरम्भ हुई। केवल मनुष्य शब्द लिखने का कारण यह है कि सृष्टि में मनुष्य प्रधान है, प्रधान के उपलक्षण से अप्रधान पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि का भी ग्रहण होता है। जैसे किसी को दधि की रक्षार्थ किसी से कहना हो तो वह कहता है कि "देखो दही रक्खा है, कव्वा न खाजावे, देखते रहना" तो वक्ता का तात्पर्य दही की रक्षा में है, न कि केवल कव्वे (काक) मात्र से, किन्तु कव्वा, कुत्ता आदि सभी से दही की रक्षार्थ कहने में तात्पर्य है। परन्तु काक का दही खाजाने को आजाना अधिक सम्भव मान कर वह केवल काक का नाम ही लेता है। तथापि रखवारे को चाहिये कि कव्वे के अतिरिक्त कुत्ते आदि से भी दही को बचावे। इसी प्रकार स्वामी जी का मुख्य तात्पर्य एक वा अनेक में है, न कि केवल मनुष्य में। अब सोचना चाहिये कि उन के इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद से क्या मिलता है कि सृष्टिका आरम्भ एक २ प्राणी से हुवा वा अनेक २ से?

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में यह आठवां मन्त्र है कि-

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः। गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥ यजुः ॥ ३१। ८ ॥

इस का अर्थ यह है कि उस पुरुष से घोड़े, नीचे ऊपर दांत वाले और गौ आदि एक ओर दांत वाले और बकरे, भेड़ आदि सब उत्पन्न हुवे॥

यहां अश्वाः, उभयादतः, गावः, जाताः, अजावयः; इतने बहुवचन आये हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणी की जाति में अनेक व्यक्तियां सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुईं। फिर इस से अगले मन्त्र में-

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः। तेन दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये॥ यजुः ३१। ९॥

इस का अर्थ यह है कि देव, साध्य और ऋषिलोग उत्पन्न हुवे, उन्होंने उस अपने से पूर्ववर्त्तमान पूजनीय पुरुष को हृदयरूप कुशासन पर स्थित पाया और पूजित किया॥

यहां भी साध्याः, देवाः, और ऋषयः इन बहुवचनों से प्रतीत होता है कि साध्य और ऋषिसंज्ञक बहुत से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुवे॥

बस इस से प्रमाणित है कि जिस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने दो वाक्यों से सिद्ध कियाहै कि सृष्टिके आरम्भमें मनुष्यादि प्राणियोंकी अनेक२ व्यक्तियां उत्पन्न हुईं, न कि एक २। सो इन मन्त्रों से ठीक पाया ही जाता है। इस लिये स्वामी जी ने अपने पक्ष के सिद्ध करनेके लिये असत्य कल्पित नहीं किया और जो कुछ लिखा है, वैसा भाव ऊपर लिखे दो वेदमन्त्रों में उपस्थित है। केवल यह भेद है कि-

"तस्मादश्वा अजायन्त" के स्थान में-

"ततो मनुष्या अजायन्त" है। और

"साध्या ऋषयश्च ये" के स्थान में-

"मनुष्या ऋषयश्च ये"

इतना पाठभेद है, परन्तु दोनों मन्त्रों में वह भाव उपस्थित है जो स्वामी जी ने लिखा है। तथा यह सम्भव है कि बोलने वा लिखने में यह भेद पड़ गया हो। परन्तु यह किसी प्रकार नहीं सिद्ध होता कि स्वामी जी ने स्वप्रयोजनार्थ कल्पना करली॥

द० ति० भा० पृ० २५४। २५५ और २५६ में कुछ तर्क इस बात पर किये हैं कि स्वामी जी के लेखानुसार आदि में मनुष्योत्पत्ति तिब्बत में की हो, सो ठीक नहीं। लेख बड़ा है, परन्तु संक्षेप से उस में जो २ प्रश्न किये हैं उन का क्रम से हम उत्तर देते हैं॥

१-इस में कोई प्रमाण नहीं दिया कि तिब्बत में मानुषीसृष्टि प्रथम हुई॥

प्रत्युत्तर-तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या अन्नम् अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः। तैति० ब्रह्मानन्द बल्ली। अनु० १॥

अर्थात् प्रथम परमात्मा ने आकाश तत्त्व को उत्पन्न किया, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल, फिर पृथिवी, फिर अन्न, फिर वीर्य और फिर मनुष्य को॥

इस से स्पष्ट है कि उत्पत्तिक्रम में पुरुष की उत्पत्ति अन्न के पश्चात् है। अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, पृथिवीका ऊंचा भाग तिब्बत ही प्रथम ठंडा और अन्नउपजाने योग्य हो सकता था क्योंकि जब जैसे किसी लोहपिण्ड को गर्म करके पुनः ठंडा करो तो ऊपर का भाग ही प्रथम ठंडा होगा। इसी प्रकार

अग्निमय पिण्ड से जलमयपिण्ड, तत्पश्चात् मृण्मयपिण्ड, तत्पश्चात् अन्न से मनुष्य जाति की उत्पत्ति हो सकती है। इसी विचार से स्वामी जी ने तिब्बत में मनुष्यों की आदि सृष्टि लिखी है॥

२–सत्यार्थ० पृ० २२५ में लिखते हैं जब आर्यदस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् जो असुर उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुवा किया जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमिखण्ड को जान कर यहीं आकर बसे इसी से इस देश का नाम आर्यावर्त्त हुवा पुनः पं० २९ में इस से पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था ८०० इस में तर्क यह है कि तो फिर आर्य लोग सदा से आर्यावर्त्त के रहने वाले न रहे, जैसा कि स्वामी जी ने अपनी आर्य्योद्देश्यरत्नमाला में लिखा है॥

प्रत्युत्तर–अन्य देशों में आर्य कम और दस्यु अधिक होने से आर्यों के धर्मकार्यों में नित्य की बाधा देखकर अन्य देशों में के आर्य भी आर्य्यावर्त्त निवासी आर्यों में आमिले और इस देश को केवल आर्यों का ही निवास-स्थान बना लिया, इस में यह नहीं पाया जाता है कि जब अन्य भूमिखण्डों में आर्य दस्युओं का बखेड़ा हुवा तब इस देश में आर्य न थे। नहीं, इस देश में तो तिब्बत के उत्पन्न आर्यपुरुष आदि में ही आगये जब कि तिब्बत के पश्चात् यह देश गर्मी से निकल कर ठंडा हुवा और अन्नोत्पत्ति हुई, तभी तिब्बत की सृष्टि इधर भी चली आई और इस से यह बात खण्डित नहीं होती कि सदा से आर्य ही आर्य्यावर्त्त में रहते थे॥

३–त्रिविष्टप का अर्थ तिब्बत कैसे हुवा?

प्रत्युत्तर–गौ का अर्थ गाय कैसे होता है? और कूप का अर्थ कुवा कैसे होता है? वैसे ही यह भी हुवा॥

४–यदि यह देश सर्वश्रेष्ठ है तो यहां ही परमेश्वर ने आदि सृष्टि क्यों न की?

प्रत्युत्तर–हिमालय की सर्वोच्च चोटी तो अब तक हिमपात से दबी रहती है और मनुष्य वहां नहीं जन्म सकते। आर्यावर्त्त तिब्बत के पश्चात् अन्नोत्पत्तियोग्य ठंडा हुवा। अतः तिब्बत में आदि सृष्टि होना सङ्गत था॥

५–त्रिविष्टप का नाम आर्य्यावर्त्त क्यों न हुवा जब आर्य वहां जन्मे॥

प्रत्युत्तर–त्रि ३ वेदों वा ३ वर्णों वा अन्य त्रयी विद्याओं का स्थान होने से उस देश का नाम त्रिविष्टप होगया। जो आर्यावर्त्त नाम से कुछ घटिया नाम नहीं। आर्य और दस्युओं का विभाग जब तक भिन्न २ देशों में न हुवा

तब तक किसी देश का नाम आर्यावर्त्त रखना आवश्यक न था । नेपाल अब तक आर्यस्थान है । तिब्बत और भूटान गिरिकन्दरा होने से बौद्ध साधुवों ने अधिक वासित किया, इस से अब बौद्ध हो गया ॥

६-सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ मनु० २ । १७

सब से प्रथम ब्रह्मा जी ने यही देश रचा और उन के द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति यहां ही हुई ॥

प्रत्युत्तर-श्लोकार्थ तो यह है कि "सरस्वती और दृषद्वती नाम दो देव-नदियों के बीच में जो देश है वह देव=विद्वानों से बनाया गया और इसी से उस का नाम ब्रह्मावर्त्त विख्यात हुवा" क्योंकि समस्त आर्यावर्त्त और अन्य देशों में के मनुष्य ब्रह्मावर्त्त के अनन्तर ब्रह्मर्षि देश में सब विद्या सीखें, यह मनु की आज्ञा थी । जैसा कि मनु-

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ २-१९ ॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २-२० ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन यह मिल कर ब्रह्मर्षिदेश कहाता है जो ब्रह्मावर्त्त से अनन्तर है ॥ १९ ॥ इसी देश के उत्पन्न हुवे ब्राह्मण से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपना २ काम सीखें ॥ २० ॥

यह मनु की आज्ञा थी । इस सब में यह कहीं नहीं लिखा कि ब्रह्मा ऋषि ने सृष्टि रची और प्रथम ब्रह्मावर्त्त देश बनाया । प्रत्युत यह प्रकरण देशों के उत्पन्न होने का भी नहीं है, किन्तु मनु ने देशों और वहां के निवासकी योग्यता की व्यवस्था की है ॥

द० ति० भा० पृ० २५७ पं० १ ऊपर के आधे श्लोक का अर्थ गड़प ही गये हैं । सुनिये यह श्लोक मनु जी ने यों लिखा है-

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः । मनु०

इस का अर्थ यह नहीं कि इस से भिन्न देश दस्युदेश कहाता है ॥

प्रत्युत्तर-आधा श्लोक बढ़ाने से क्या स्वामी जी का तात्पर्य न निकला ? जब कि श्लोक में (या लोके बहिः जातयः) लिखा है। जिस का अर्थ यह है कि (जो संसार में बाहर की जातियें हैं) वे चाहे म्लेच्छभाषा बोलती हों, चाहे आर्यभाषा, सब दस्यु हैं। फिर उन जातियों के बाहरी देशों का नाम दस्युदेश वा म्लेच्छदेश क्यों नहीं ॥ इन्द्र और दैत्यों का संग्राम ही देवाऽसुरसंग्राम वा आर्यदस्युसंग्राम है ॥

द० ति० भा० पृ० २५६ पं १५ में-पूर्व तौ कहा है कि वह सृष्टिक्रम को बदल नहीं सकता, अब उसने बहुत मनुष्य कैसे उत्पन्न कर दिये। स्वयं बिना स्त्री पुरुष संयोग के मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकता ॥

प्रत्युत्तर-सृष्टिक्रम बदला नहीं किन्तु सदा का यही क्रम है कि जब २ प्रलयानन्तर सृष्टि हुआ करती है तब २ अमैथुनी होकर फिर मैथुनी का क्रम चलता है। बदलता नहीं। और हां, बहुत मनुष्य उत्पन्न हुए मानने में आप को सृष्टिक्रम की क्यों शङ्का उत्पन्न हुई, क्या ब्रह्मा आदि किसी एक मनुष्य का उत्पन्न होना मानने में यही शङ्का उत्पन्न नहीं होती ?

द० ति० भा० पृ० २५७ पं० २६ से-स्वामी जी के लेख से विदित होता है कि इक्ष्वाकु राजा से पहले सब तिब्बती थे परन्तु मनुस्मृति जो मनु जी ने रची है उन्हीं ने मनु का राज्य भी इसी देश में होना लिखा है जब कि ब्रह्मा जी ही का प्रादुर्भाव ब्रह्मावर्त्त देश में हुवा है तौ बेटे पोते भी सब यहीं हुवे और स्वामी जी तौ अग्नि वायु आदि से परम्परा लिखते ब्रह्मा से क्यों लिखी क्योंकि महात्मा जी ने तौ प्रथम अग्नि वायु की उत्पत्ति लिखी है और प्रथम एक जाति भी नहीं थी चारोंवर्ण सदा से हैं यथाहि (ब्राह्मणोस्य मुखमासीदिति यजुर्वेदे) और मनु जी लिखते हैं

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्चनिरवर्तयत् मनु० ॥

प्रत्युत्तर-इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि इक्ष्वाकु से पूर्व सब तिब्बती थे। और तिब्बती ही सिद्ध हो जावें तौ हानि वा शास्त्र से विरोध ही क्या आता है ? ब्रह्मा का जन्म ब्रह्मावर्त्त देश में हुवा, इस में क्या प्रमाण है ? प्रत्युत, आप जो ब्रह्मा से ही सब पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानते हैं कि जल से कमल, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि। फिर ब्रह्मा से पूर्व कोई देश भी आप के मत में नहीं होसक्ता था। ब्रह्मावर्त्त कहां से आया ?

अग्नि वायु आदि से वेदपरंपरा स्वामी जी ने लिखी है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वेदपरंपरा वालों की ही वंशपरंपरा चले, अन्यों की न चले, इस लिये ब्रह्मा की वंशपरंपरा लिखना परस्परविरोध नहीं। यह तो हम भी नहीं कहते कि चार वर्ण कर्मानुसार परमात्मा की उत्पादित अमैथुनी सृष्टि में न थे। परन्तु मनु से उन की व्यवहारमर्यादा का भेद प्रचलित हुवा। आप के श्लोक और वेदमन्त्र का आशय यह नहीं है कि परमात्मा के वास्तविक मुखादि से ब्राह्मणादि वर्ण जन्मे। देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(यजुः० ३१। ११)

यह मन्त्र कई कारणों से विचारणीय है। प्रथम तो यह उन मन्त्रों में से है जिन पर आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा के बीच सदा वाद विवाद होता रहता है। दूसरे यह मन्त्र उस महाहानिकारक जातिभेद अथवा आधुनिक नाममात्र की जन्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था का पोषक समझा जाता है कि जो भूतलवासियों की सामाजिक अवनति का मुख्य कारण है। इस लिये यह मन्त्र इस योग्य है कि इस पर अच्छे प्रकार लेख कियाजाय, और हम आशा करते हैं कि पाठकगण इस पर विशेष ध्यान देंगे॥

इस मन्त्र का आधुनिक अर्थ

हमारे हिन्दु पण्डित, इस मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि-" ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य वह है जो उस की जङ्घाओं से और शूद्र पावों से उत्पन्न हुवा " ॥

१—यह अर्थ वेदविरुद्ध है २—व्याकरण की रीति से अशुद्ध है, ३-और प्रकरणविरुद्ध भी है॥

१-यह अर्थ वेदविरुद्ध इसलिये है कि

इस में यह मान लिया गया है कि ईश्वर देहधारी है और उस के शिर भुजा आदि भी हैं। परन्तु वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं (हम उन को यहां

लिखने की आवश्यकता नहीं समझते) कि जिन से यह स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि ईश्वर चेतनस्वरूप, निराकार, शरीररहित और सर्वव्यापी है। इस के अतिरिक्त यह अर्थ आज कल की झूठी वर्णव्यवस्था वा जातिभेद की पुष्टि नहीं करता है पर उसकी पुष्टि करने वाला समझा जाता है, परन्तु यह जातिभेद वैदिकसमय में कदापि न था। वैदिकग्रन्थों में ऐसे अनेक वचन हैं जिन से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव पर थी, न कि जन्म पर। विशेष कर महाभारत में इस प्रकार के अनेक श्लोक पाये जाते हैं, उन में से कुछ श्लोक इस विषय का ऐसी स्पष्ट रीति से समाधान करते हैं कि हम उन को यहां लिखना आवश्यक समझते हैं—

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर !। कर्म्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥ सर्वे वै योनिजा मर्त्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः। एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजः॥ शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्। ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् * ॥ शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ २५ ॥ यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प ! तं शूद्रमिति निर्द्दिशेत् ॥२६॥ महाभारत वनपर्व अ० १८०॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! यह सारा जगत् पहले एक वर्ण था, परन्तु कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये॥ सब मनुष्य एक ही प्रकार उत्पन्न होते हैं, सब का एक सा ही मल मूत्र होता है, एक सी इन्द्रियें और एक से ही इन्द्रियों के विषय हैं। इस लिये मनुष्य अपने स्वभाव और गुणों ही के कारण द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कहलाता है॥ शूद्र भी यदि उत्तम स्वभाव और गुण से युक्त हो तौ ब्राह्मण होजाता है और ब्राह्मण भी यदि क्रियाहीन हो तौ वह शूद्र से भी नीच होजाता है। यदि शूद्र में सदाचरण हों और द्विज में न हों तौ न वह शूद्र शूद्र, और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है॥२५॥ जिस में यह सदाचरण पाया जाय उसी को शास्त्रों ने ब्राह्मण कहा है, जिस में यह न पाया जाय उसी को शूद्र बतलाया है ॥ २६ ॥

* आरम्भ के इन श्लोकों का पूरा पता ज्ञात न होसका, अन्त के २ श्लोक ठीक छपे पते पर हैं॥

अब इस विषय पर अधिक लिखना अनावश्यक है क्योंकि अब अन्य देशों तक के विद्वान् भी एकमत होकर मानने लगे हैं कि यह आज कल जातिभेद वैदिकसमय के पीछे फैला है ॥

२ यह अर्थ व्याकरण से भी अशुद्ध है

जो कोई थोड़ा सा भी संस्कृत जानता है वह समझ लेगा कि इस अर्थ में व्याकरण की कई अशुद्धियां हैं। मुखम् बाहू और ऊरू ये शब्द प्रथमा विभक्ति युक्त हैं, न कि पञ्चमी में। इस में कोई सन्देह नहीं कि पद्भ्याम् शब्द पञ्चमी विभक्ति में है, परन्तु उस का "व्यत्यय" मानना पड़ेगा, जैसा कि मुखम् बाहू और ऊरू शब्दों से स्पष्ट है और पूर्व मन्त्र से, जिस को हम आगे लिखेंगे और भी स्पष्ट हो जाता है, इस लिये मन्त्र का ठीक और शाब्दिक अर्थ यह है कि "ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है, जो वैश्य है वह उस की जङ्घा और शूद्र उस के पांव बनाया गया है" यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि ब्राह्मण उस के शिर से उत्पन्न हुवे, क्षत्रिय उस की भुजाओं से निकले इत्यादि। हम नीचे इस मन्त्र का महीधर भाष्य लिखते हैं जिस से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे आधुनिक पण्डित किस प्रकार इस मन्त्र से अपना मनमाना अर्थ निकालना चाहते हैं:-

"ब्राह्मणोब्रह्मत्वविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुखमासीत् मुखादुत्पन्नइत्यर्थः। राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः पुरुषो बाहूकृतो बाहुत्वेन निष्पादितः। तत् तदानीम्, अस्य प्रजापतेर्यत् यावूरू तद्रूपोवैश्यः सम्पन्नः ऊरुभ्यामुत्पादितइत्यर्थः। तथाऽस्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायतउत्पन्नः" ॥ (महीधर भाष्य)

अर्थ-"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस प्रजापति का मुख था अर्थात् उसके मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय अर्थात् क्षत्रियत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस की भुजा बनाया गया। अर्थात् उस की भुजारूप से रचा गया, तब उस प्रजापति की जो जङ्घा थीं तद्रूप वैश्य हुआ अर्थात् जङ्घाओं से उत्पन्न हुआ तथा उस

के पावों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ "॥ हम अपने पाठकगणों का उस आशय की ओर विशेष ध्यान दिलाते हैं कि जो मोटे अक्षरों में छापा गया है। यह स्पष्ट है कि महीधर ने मन्त्र का पहिले करतक और सीधा अर्थ करके फिर उस के पदों में अपने मनमाने ढङ्ग पर खींचातानी की है। यह समझ में नहीं आता कि मुखमासीत् (मुख था) इन शब्दों का यह अर्थ कैसे हो गया कि मुखादुत्पन्नः और (जो जङ्घा थीं तद्रूप वैश्य हुवा) इन शब्दों का यह कैसे तात्पर्य हो सकता है कि ऊरुभ्यामुत्पादितः (जङ्घा से उत्पन्न किया)। यह बात स्पष्ट है कि यह अर्थ मन्त्र के शब्दों में से निकलता नहीं किन्तु उन में बलात्कार से डाला गया है॥

३ यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध है ॥

इस से पहिला मन्त्र यह है :—

मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

अर्थ–"उस का शिर क्या था, क्या भुजा थीं और जङ्घा और पांव क्या कहे जाते हैं" यहां यह नहीं पूछा गया है कि उस के शिर से कौन निकले और उस की भुजाओं से कौन निकले। इस मन्त्र में जो प्रश्न किया गया है उसी का उत्तर देने के लिये वह मन्त्र है जिस की हम ऊपर से व्याख्या करते आते हैं। इस लिये मन्त्र का आधुनिक अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। भला यह कहीं हो सकता है कि प्रश्न तो यह किया जावे कि " उस का शिर क्या था; उस की भुजा क्या थीं और उस की जङ्घा और पांव क्या थे ?" और उत्तर दिया जावे कि "ब्राह्मण उस के मुख से निकले और क्षत्रिय उस की भुजाओं से, वैश्य उस की जङ्घाओं से और शूद्र उस के पांवों से ?" इस लिये मन्त्र का ठीक और सत्य अर्थ केवल वही हो सकता है जो हम ऊपर लिख चुके हैं ॥

मन्त्र की पूर्वापर सङ्गति और उसका प्रकरणानुकूल सत्य अर्थ–

यह मन्त्र वेद के एक सुप्रसिद्ध सूक्त में आया है कि जिस का नाम * "पुरुषसूक्त" है। इस सूक्त में सृष्टि की रचनाका वर्णन है। हम को यहां पर पूरे सूक्त का अर्थ लिखनेसे प्रयोजन नहीं। इस लिये हम केवल उस के उतने आशय

* देखो यजुर्वेद ३१, ऋग्वेद १०–९०, अथर्ववेद १९–६ । १६ मन्त्र हैं कुछ पाठभेद भी है ॥

की ओर संकेत करेंगे कि जितना इस मन्त्र की व्याख्या से सम्बन्ध रखता है॥

मन्त्र १ से मं० ४ तक यह वर्णन है कि ईश्वर इस जगत् का स्रष्टा और सर्वव्यापक है, उस की महिमा अनन्त और अपार है। इस के पश्चात् इस जगत् की सृष्टि का वर्णन है। प्रथम ईश्वर ने प्रकृति का, कि जो प्रलय की अवस्था में अविज्ञेय और अलक्ष्यदशा में थी, प्रादुर्भाव किया। तब उस में से पृथिवी और अन्य लोक रचे (मं० ५)। इस के पश्चात् उन अनेक वस्तुओं की रचना का वर्णन किया गया है जो इस पृथिवी पर पाई जाती हैं। प्रथम वनस्पति और विविध जीव जन्तु रचे गये—

तस्माँद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥६॥

अर्थ—"उस सर्वपूज्य परमेश्वर ने सब प्रकार के वनस्पति तथा रसयुक्त पदार्थों को रचा और वायु में उड़ने वाले, जङ्गलों में फिरने वाले तथा गांव आदि बसतियों में रहने वाले इत्यादि सब जन्तुओं को रचा (मं० ६)। अन्त में मनुष्य रचे गये—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥९॥

अर्थ—"उसी परमात्मा ने मनुष्यजाति को, जिस में उस सर्वपूज्य और सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक परमात्मा को हृदय में धारण करने वाले अनेक विद्वान् साध्य और ऋषि हैं, रचा" (मं० ९)। हमारे हिन्दू भाई इस मन्त्र में विराट्रूप से ईश्वर का वर्णन मानते हैं, परन्तु वास्तव में यहां मनुष्यजाति रूपकालङ्कार द्वारा एक पुरुषवत् वर्णन की गई है, किन्तु विना सूक्ष्मदृष्टि से देखे और विचारे अलङ्कार समझ में नहीं आता। कोई यह प्रश्न कर सक्ता है कि "भला अनेक पुरुष और स्त्रियों के समूह में और एक पुरुष के शरीर में, जिस में शिर, भुजा आदि कई प्रकार के अङ्ग होते हैं, क्या उपमा हो सकती है?" यह प्रश्न स्वभाव से हर मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो सकता है और इस लिये वेद में भी यह प्रश्न इस प्रकार उठाया गया है कि—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥१०॥

अर्थ—"जिस पुरुष का विधान किया और जिस को कई प्रकार के अङ्गों की कल्पना किया—उस का शिर क्या है ? भुजा क्या हैं? और जङ्घा और पांव क्या कहलाते हैं" (मं० १०) । इसी मन्त्र के उत्तर में अगला मन्त्र कहा गया है कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥यजु ३१।११॥

अर्थ—"ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है। जो वैश्य है, वह उस की जङ्घा है और शूद्र उस का पावं उत्पन्न किया गया है"। मन्त्र ९ में मनुष्यजाति पुरुषरूप से वर्णन की गई है। मन्त्र १० में यह प्रश्न किया गया है कि उस पुरुष के अङ्ग क्या हैं? उस का शिर क्या है ? उस की भुजा क्या हैं ? इत्यादि। मन्त्र ११ में उत्तर दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रम से उस मनुष्यजातिरूप पुरुष के शिर भुजा जङ्घा और पांव हैं। बस इस मन्त्र से किसी प्रकार जन्म से वर्ण सिद्ध नहीं होता ॥

द० ति० भा० पृ० २५९ पं० १९ से—

समीक्षा स्वामी जी पर बिना ही अंग्रेज़ी पढ़े बहुत कुछ अंग्रेज़ी विद्या का असर है सोचने की बात है यदि पृथ्वी घूमती होती तो जिस प्रकार ग्रह बारहराशियों में घूमते हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी राशियों में घूमती और इस की ग्रह में संख्या भी होती और यदि लोक घूमने ही से स्थिर रहते तो ध्रुव का तारा नहीं घूमता इस बात को सभी मानते हैं और इसी कारण उस का नाम ध्रुव है कि वोह घूमता नहीं तो ध्रुवतारा भी गिर पड़ना चाहिये तथा और भी तारागण हैं जो नहीं घूमते वे भी गिर पड़ें तो यह आकाश शून्य होजाय इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि जो नहीं घूमते हैं वे गिर पड़ें और जो पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो गर्मियों के दिनों में सूर्य के निकट होने से यत्किंचित् सूर्य बड़ा दृष्टि आना चाहिये सो ऐसा भी नहीं होता और राई का जो दृष्टान्त दिया है वोह भी अशुद्ध है क्योंकि आप ने लिखा है कि राई को पहाड़ के सामने घूमते देर लगती है यह कहना ही हास्ययुक्त है आप ने सूर्य को पृथ्वी से लाखगुणा बड़ा कहा और करोड़ों कोस दूर माना है देर तो जब लगै जब राई के बराबर घूमना पड़े और राई लाखगुणा पहाड़ नहीं हो सक्ता यदि राई को चावल की बराबर ही ...नें लें तो तोला भर राई में ६१४४ दाने हुए तो १७ ही तोले में १०३४२८

लाख से भी अधिक दाने हो जायंगे जिन का बोझ पावभर का भी नहीं हो सक्ता इस कारण राई पर्वत का दृष्टान्त सम्पूर्णतः अशुद्ध पृथ्वी ही तौ नहीं अनेक ब्रह्माण्डों में यही सूर्य प्रकाश करता से क्या परमात्मा के प्रताप से अधिक वेग से गमन करता है एकाकी चरति) और (हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि अर्थात् " सूर्य असहाय चलता है " सुवर्ण के रथ में सूर्य देवलोकों की जाते हैं यह यजुर्वेद वाक्य हैं जिस से सूर्य का लोकों के चारों ओर सिद्ध होता है और पृथ्वी चलती होती तौ एक मिनट में ८$\frac{1}{6}$ मील घूमती है पृथ्वी का व्यास अंग्रेज़ी १२००० मील का लिखा है स्वामी लिखा तौ नहीं पर उन्हीं कैसा माना होगा और जो अधिक मानें अधिक ही चाल होगी इस हिसाब जब घण्टे भर में ५०० मील पृथ्वी घूम है तौ जो कबूतर सवेरे को उड़ते हैं और दुपहर को आते हैं तौ वे घर न आने चाहियें क्योंकि छः घण्टे भर में पृथ्वी ३००० मील निकल जाती

प्रत्युत्तर-यदि कोई पुरुष वेद और ऋषियों के ज्योतिष कुछ मदरसे में ही भूगोल खगोल पढ़ा हो तौ ऐसी ऊट पटा सक्ता। इन शङ्काओं का उत्तर देना प्रत्येक मदरसे के लड़के यहां विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यता नहीं। किन्तु हैं। आप कैसे जानते हैं कि पृथिवी १२ राशियों में अवश्य ग्रह है। ध्रुव के देशभेद न जान पड़ने का कारण अधिकता है। इसी मोटे विचार पर उस का नाम ध्रुव तारा कोई ऐसा नहीं जो कम से कम अपने स्थान में गिर नहीं सक्ता, तथा आकर्षण के कारण भी । गर्मियों किरण पड़ना तौ सब कोई मानता है परन्तु उस का पृथिवी जाना मानना आप का हास्यास्पद और पुराणों के भी विरुद्ध है। राई का दृष्टान्त ठीक तौल लगा कर नहीं परन्तु अत्यन्त छोटे सम्बन्ध को दिखाने के लिये है। अहो ! आप ने हिसाब कहां चावल की १ रत्ती, ८ रत्ती का १ मासा, १२ मासे का १ तोला, तोले के ७६८ चावल हुवे। आप ने तोला भर राई में ६१४४ लिख ज्ञान पर भूगोलखगोल को समझना चाहते हो ! और स्वामी जी

(सूर्य एकाकी चरति) का अर्थ सूर्य का चलना तो है, परन्तु अपने ही स्थान में चलना भी तो चलना कहाता है और (हिरण्ययेन०) इस मन्त्र में (याति) पद से जो चलना मानते हैं सो भी अपने ही स्थान में चक्रीसा घूमना मानने से कोई दोष नहीं रहता। लोकों के चारों ओर घूमना इस मन्त्र में किसी पद का अर्थ नहीं। पृथिवी का व्यास १२००० मील न तो स्वामी जी ने लिखा, न योरप वाले मानते हैं। आप ने कुछ देखा भाला तो है नहीं, गप्प मारदी। योरपवाले पृथिवी की परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील मानते हैं और हमारे ज्योतिष शास्त्र में यह लिखा है कि—

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः।
तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनैः॥
(सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय)

पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन अर्थात ५ मील का योजन माने तो २४८३५ मील और व्यास १५८१ योजन=७९०१ मील होता है, परन्तु $५\frac{१}{२३०}$ मील का १ योजन मानें तो योरपवासियों और यहां के ज्योतिषशास्त्र में समता आ जाती है। इस लिये आप का लिखा १ घण्टे में ५०० मील पृथिवी का घूमना निरा अज्ञान है। पृथिवी अपने ऊपर के जल और ४९ मील वायुमण्डल को लपेटे हुवे घूमती है, इस से कबूतरआदि जो वायु के भीतर हैं और समुद्र जो कि वायु के भीतर है, इन की अस्तव्यस्तता की शङ्का व्यर्थ है। अब वेदादि के अनुसार पृथिव्यादि का घूमना सुनिये—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
(ऋ० १। ३५। २ और यजु० अ० ३३ मं० ४३)

अर्थ-(सविता देवः) प्रकाशस्वरूप सूर्य (आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः) आकर्षण गुण के साथ वर्त्तमान (मर्त्यं निवे०) लोक लोकान्तरों को अपनी २ कक्षा में स्थित करता हुआ (अमृतं च) और सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश

कराता हुआ और (हिरण्ययेन रथेन *) प्रकाशमय और रमणीय स्वरूप से (भुवनानि) पृथिव्यादि लोकों को (पश्यन्) प्रकाशित कराता हुआ (याति) अपनी धुरी पर घूमता है । यथा हि-

यदा सूर्य्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥
(ऋ० ८ । १२ । ३०)

अर्थ (यदा) जिस समय [परमेश्वर ने] (अमुम्) इस (शुक्रं ज्योतिः) अनन्त तेजोमय प्रकाशस्वरूप (सूर्य्यम्) सूर्य को (दिवि) आकाश में (अधारयः) रच कर धारण किया (आदित्) तभी (विश्वा भुवनानि) पृथिव्यादि सब लोक (येमिरे) नियमपूर्वक अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से अपनी २ कक्षा में विचरे ॥

इस प्रकार से भूमि अपनी कक्षा में स्थित होकर सूर्य की परिक्रमा करती है । यथा हि-

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥
ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

अर्थ-(या गौः †) जो पृथिवी (अवारतः) निरन्तर अर्थात् सदा (पयो दुहाना) अन्न, रस, फल, फूल आदि पदार्थों से प्राणियों को पूर्ण करती तथा (व्रतनीः) अपने नियम का पालन करती (प्रब्रुवाणा) परमेश्वर की महिमा का उपदेश करती (दाशषे वरुणाय) दानी और श्रेष्ठ जन को (देवेभ्यः) और विद्वानों को (हविषा दाशत्) अनेक सुख देती (वर्त्तनिम्) अपनी कक्षा रूप मार्ग में (विवस्वते) सूर्य के (पर्य्येति) चारों ओर घूमती है ॥

* रथ=रमणीय । निरु० अ० १ ख० ११ ॥ उणा० २ । २ ॥

† पृथिवी का नाम निघं० १ । १ में "गौः" है, जिस का अर्थ "गच्छतीति गौः" जो चलती है सो गौः (भूमि) है । इस से भी सिद्ध है कि आर्य्यलोग भूमि का चलना मानते थे ॥

पृथिवी केवल सूर्य के चारों ओर ही नहीं घूमती किन्तु साथ ही साथ अपनी (अक्ष) कीली पर भी घूमती है, जैसे लट्टू अपनी कीली पर भी घूमता है और अपनी जगह से भी हटता है और जैसे गाड़ी का पहिया अपनी धुरी पर घूमता है और साथ ही साथ सड़क पर भी घूमता जाता है। इस में प्रमाण यह है-

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥

(ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४१ और यजु० अ० ३ मं० ६)

अर्थ-(अयम्) यह (गौः) पृथिवीलोक (मातरम् *) जल को (असत्) प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित (पृश्निः) अन्तरिक्ष में (आक्रमीत्) आक्रमण करता है अर्थात् अपनी धुरी पर घूमता है। (च) और (पितरम् †) सूर्य के भी (पुरः प्रयन्) चारों ओर घूमता है॥

इस विषय में बहुधा मनुष्य कई प्रकार की शङ्का किया करते हैं। जैसेः-

प्रश्न-यदि पृथिवी चलती है तो हिलती क्यों नहीं ?

उत्तर-न हिलने का तो कारण स्पष्ट है। देखो गाड़ी जब ऊंची नीची जगह में चलेगी तो साफ़ सड़क की अपेक्षा अधिक हिलेगी और सड़क की अपेक्षा पानी पर नौका में कम हाल लगती है और विमान में, जो हवा में चलता है, नौका से भी बहुत कम हाल लगती है तो ऐसी जगह में चलने से कि जहां हवा भी नहीं है, पृथिवी कैसे हिल सकती॥

प्र०-अच्छा, यदि पृथिवी चलती है तो सब नगर ग्राम जहां के तहां क्यों बने रहते हैं, हट क्यों नहीं जाते ?

उ०-वाह अच्छी शङ्का की ! चलने फिरने को तो हम तुम भी चलते फिरते हैं तो क्या हमारी तुम्हारी आंख, नाक जो मुख पर हैं पीठ पर आ

---

* यहां जल को अलङ्काररूप में पृथिवी की माता कहा है। यथाह—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः "अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि॥ तैत्ति० उ०॥

† यहां सूर्य को अलङ्काररूप से पृथिवी का पिता कहा है क्योंकि सूर्य ही से पृथिवी की (अपनी कक्षा में) स्थिति, मनुष्यों का जीवन, वर्षा, वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है॥

जाती हैं ? यदि भूमि का कुछ भाग चलता और कुछ न चलता तो अवश्य नगर और ग्राम हट जाते, परन्तु यह भूगोल तो सब चलता है, फिर नगर और ग्राम वहीं बने रहेंगे कि जहां वे स्थित हैं। जैसे यदि एक गेंद पर कुछ बिन्दु बना दिये जांय और वह गेंद घुमादी जाय तो वे बिन्दु वहीं बने रहेंगे जहां हमने बनाये थे ॥

प्र०-यह तो मैं समझा, परन्तु पृथिवी चलती हुई प्रतीत क्यों नहीं होती?

उत्तर-कुलालचक्रभ्रमिवामगत्या यान्तो न कीटा इव भान्ति यान्तः ॥ सिद्धान्तशिरोमणि ॥

अर्थ-जैसे कुम्हार के घूमते हुवे चाक (चक्र) पर बैठे हुवे कीड़े उस की गति को नहीं जान सकते, ऐसे ही मनुष्यों को पृथिवी चलती हुई नहीं प्रतीत होती है। अन्यच्च-आर्यभट्टीये-

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भान्ति तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायामिति ॥

अर्थ-जैसे नौका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर वस्तुओं को दूसरी ओर से चलते हुवे देखता है ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यादि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर जो चलते हुवे दीखते हैं और पृथिवी स्थिर प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में भूमि ही चलती है ॥

सन् १५४३ ई० तक यौरपवासी भी यही मानते रहे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्यादि सब तारागण पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं, परन्तु पूर्वोक्त वेद मन्त्रों से सिद्ध है कि आर्यलोग सृष्टि की आदि से ही (क्योंकि वेदों का प्रकाश आदि सृष्टि में हुआ था) जानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य पृथिवी की अपेक्षा स्थिर है (जैसा 'आर्यभट्ट' के उक्त वचन से भी सिद्ध होता है) सूर्य का उदय अस्त और दिन रात होने का कारण भी पृथिवी का अपनी कीली पर घूमता है अर्थात् यह भूगोल २४ घण्टे (६० घड़ी) में एक बार अपनी धुरी (कीली) पर घूम जाता है, इस अन्तर में जो भाग पृथिवी का सूर्य के सामने आजाता है, वहां "दिन" और जो आड़ में आजाता है वहां "रात" होती है। अभिप्राय यह है कि सूर्य वस्तुतः चलता नहीं, भूमि के घूमने ही से उदय और अस्त होता दिखलाई देता है। इस में प्रमाण-

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्यप्रातिदैवसिकौ ।
उदयास्तमयौ संपादयति ग्रहनक्षत्राणामिति ॥ आर्यभट्ट॥

(अर्थ) सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही घेर २ अपनी धुरी पर घूम कर प्रतिदिवस इन के उदय और अस्त का संपादन करती है ॥ अन्यच्च-

अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्। सवा एष न कदाचन निम्रोचति। न ह वै कदाचन निम्रोचति॥

ऐतरेय ब्राह्मण ।

(अर्थ) सूर्य न कभी छिपता है और न निकलता है, जब वह रात्री के अन्त को प्राप्त होकर बदलता है अर्थात् भूमि के घूमने के कारण पश्चिम से फिर पूर्व में दिखलाई देता है, और पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि करता है, तब लोग सूर्य का "उदय" मानते हैं। इसी प्रकार जब दिन के अन्त को प्राप्त होकर सूर्य पश्चिम में दिखाई देता है, और भूमि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है, तब लोग सूर्य का "अस्त" मानते हैं। वास्तव में न वह कभी छिपता है, न निकलता है॥

जानना चाहिये कि ये सब तारागण जो रात्रि समय आकाश में चमकते हुए दिखलाई देते हैं तीन प्रकार के हैं-(१) "नक्षत्र" Fixed Stars जो ग्रहों में प्रकाश और उष्णता पहुंचाते हैं और अपनी आकर्षण शक्ति से उन्हें अपनी कक्षा में स्थित रखते हैं। (२) "ग्रह" Planets जो किसी नक्षत्र के चारों ओर घूमते हैं। और (३) "उपग्रह" Satelites जो ग्रहों की परिक्रमा करते हैं। इन में से "नक्षत्र" जैसा कि पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध हुवा, स्थिर हैं, अर्थात् किसी लोक लोकान्तर के चारों ओर नहीं घूमते परन्तु अपनी धुरी पर सदा घूमते रहते हैं। यथाह-सि० शि० गणिताध्याये

सृष्टा भचक्रं कमलोद्भवेन ग्रहैःसहैतद् भगणादिसंस्थैः ।
शश्वद्भ्रमे विश्वसृजो नियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे ॥

(अर्थ)-सर्वजगद्व्यापी परमेश्वर ने प्रत्येक नक्षत्र को रच कर, अपनी २ कक्षा में स्थित ग्रहों के साथ निरन्तर भ्रमण में नियुक्त किया है। और

प्रत्येक भपञ्जर (तारों के समूह) के उत्तर और दक्षिण अन्त में एक २ ध्रुव नियत किया है जो स्थिर है अर्थात् केवल अपनी धुरी पर ही घूमता है॥

इस के अनुसार सूर्य, पृथिव्यादि ग्रहों के मध्य में केन्द्र के समान स्थित हुवा सदा अपनी कीली पर घूमता रहता है, और पृथिव्यादि ग्रह चन्द्रमा आदि उपग्रहों के साथ उस की परिक्रमा करते रहते हैं । वास्तव में ये सब तारे पश्चिम से पूर्व को चलते हैं, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण पूर्व से पश्चिम को जाते दिखलाई देते हैं । इस में प्रमाण-

ततो 'ऽपराशाभिमुखं' भपञ्जरे सखेचरे 'शीघ्रतरे'भ्रमत्यपि।
'तदल्पगत्यैन्द्रदिशं' नभश्चराश्चरन्ति नीचोच्चतरात्मवर्त्मसु ॥

सि० शि० गणिताध्याये

(अर्थ)-यद्यपि सब तारागण अपने २ ग्रहों के साथ 'शीघ्रगति से' 'पूर्व से पश्चिम को' घूमते दिखलाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः सब ग्रह 'अल्पगति से' अपनी २ कक्षा में 'पश्चिम से पूर्व को' चलते हैं ॥ अन्यच्च-

भञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन ।
यान्तो भचक्रे 'लघुपूर्वगत्या, खेटास्तु तस्या 'परशीघ्रगत्या,

सि० शि०

(अर्थ) प्रवह शक्ति Force of Inertia के कारण सब तारागण सहित ग्रहों के सदा घूमते रहते हैं । ये सब 'लघुगति से सूर्व की ओर को' घूमते हैं, परन्तु 'शीघ्रगति से पश्चिम को' जाते हुवे दिखलाई देते हैं ॥

इस विलोम गति (अर्थात् ग्रहों के पश्चिम की ओर जाते हुवे दीखने) का कारण भूमि का अपनी धुरी पर घूमना है । जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुवा मनुष्य सड़क के किनारे को उल्टी ओर को दौड़ते हुवे देखता है । और-

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भान्ति तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायामिति॥आर्यभट

(अर्थ) जैसे नौका में बैठे हुवे मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल (ठहरी हुई) वस्तुएँ उलटी ओर को चलती हुई दिखलाई देती हैं, ऐसे ही पूर्व की ओर चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को अचल (स्थिर) तारे भी पश्चिम को जाते हुवे दिखलाई देते हैं ॥

यदि सब ग्रह उपग्रह भी सूर्यवत् स्थिर होते तो सब तारागण सूर्य की भांति २४ घण्टे में पश्चिम की ओर को जाते हुए पृथिवी की पूरी परिक्रमा करते दिखाई देते। परन्तु ये कुछ (अल्प गति से) 'पूर्व की ओर को' भी चलते हैं, इस लिये पूरी परिक्रमा नहीं कर सकते वरन उतनी कम करते हैं कि जितना पूर्व को चलते हैं॥

(उदाहरण) चन्द्रमा $२९\frac{१}{२}$ दिन (दो पक्ष) में पृथिवी की परिक्रमा करता है अर्थात् एक दिन में $\frac{१}{२९\frac{१}{२}}=\frac{२}{५९}$ भाग अपनी कक्षा का तै करता है। (यही इस की 'अल्पगति' है) अब यदि चन्द्रमा स्थिर होता तो (पूर्वोक्त प्रमाणों से) पश्चिम की ओर चलते हुवे एक दिन में भूमि की परिक्रमा करता हुआ दिखलाई देता, परन्तु उक्त गणित से यह $\frac{२}{५९}$ भाग अपनी कक्षा का पूर्व की ओर तै करता है। परिणाम इन दोनों का यह हुवा कि चन्द्रमा $१-\frac{२}{५९}=\frac{५७}{५९}$ भाग अपनी कक्षा का तै करता हुआ दिखलाई देता है (यही चन्द्रमा की 'शीघ्रगति' है) इसी कारण एक तिथि को चन्द्रमा जिस समय जहां दिखलाई देता है, अगले दिन उसी समय उस से $\frac{२}{५९}$ भाग ऊपर दिखलाई देता है और इसी प्रकार बढ़ते २ $२९\frac{१}{२}$ दिन (दो पक्ष) के पश्चात् एक चक्र पृथिवी का पूरा करके फिर वहीं दिखलाई देता है जहां पहिली तिथि को दीखा था॥

आशय इस सब का यह है कि-यद्यपि चन्द्रमा 'अल्पगति' से (अर्थात् प्रतिदिन अपनी कक्षा का $\frac{२}{५९}$ भाग तै करने के हिसाब से) 'पूर्व की ओर' चलता है, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण से 'पश्चिम की ओर' 'शीघ्रगति से' (अर्थात् प्रतिदिन $\frac{५७}{५९}$ भाग तै करने के हिसाब से) चलता हुआ दिखलाई देता है। ऐसे ही अन्य ग्रह उपग्रहों के विषय में जानो॥

आप ने जो (आयं गौः) इस मन्त्र का अग्निदेवता बता कर अग्निपरक अर्थ किया सो महीधर का अर्थ कर्मकाण्ड में विनियुक्त अग्निपरक रहो, परन्तु महीधर ने ही इस ऋचा की "सार्पराज्ञी" संज्ञा लिखी है। यथा—

आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सार्पराज्ञीति नामधेयम्। सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी॥

इस से विदित होता है कि पृथिवी का वर्णन महीधर के हृदय में भी इस मन्त्र का भाष्य करते समय उपस्थित था ॥

द० ति० भा० पृ० २६२ में (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०) इस मन्त्र में आये "दृढा" पद से पृथिवी की अचलता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर-दृढ का अर्थ पुष्ट वा ठोस है, अचल नहीं। अचल भी मानें तौ अपनी मर्यादा से विचलित न होना ही अचला का अर्थ है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्याऽष्टमसमुल्लासमण्डनं, द० ति० भास्करस्य च खण्डनं नामाऽष्टमः समुल्लासः ॥ ८ ॥

अथ नवमसमुल्लासमण्डनम्

मुक्तिप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २६३ पं० २ से-स्वामी जी ने इस समुल्लास में मुक्ति से जीव का लौटना लिखा है, प्रथम इस के कि मुक्ति के विषय में कुछ लिखैं यह भी दिखा दैना अवश्य है कि स्वामी जी ने भाष्यभूमिका पृ० १११ और ११२ आर्याभिनय पृ० १६, ४२, ४५ वेदान्तिध्वान्तनिवारण पृ० १०। ११ वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० १४ सत्यधर्म विचार पृ० २५ में यह लिखा है कि मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उन से छुट कर एक सच्चिदानन्द परमेश्वरको प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म मरणादि दुःख सागर में नहीं गिरना इसी का नाम मुक्ति है फिर न मलूम कौन से कारणसे मुक्ति से लौटना मानलिया सो वही विषय लिखा जाता है स० पृ० २३३ पं० १३ (प्रश्न) बंधमोक्ष स्वभावसे होता है वा निमित्तसे (उत्तर) निमित्त से क्योंकि जो स्वभाव से होता तौ बंधमोक्ष की निवृत्ति कभी नहीं होती ॥

समीक्षा स्वामी जी को घर का मार्ग भी विस्मृत हो गया, जब कि बन्धमोक्ष निमित्त कारण से होता है तो जब निमित्त मोक्ष हुई तो फिर कौन से निमित्त से उसे जन्मलैना पड़ैगा इससे तो यही सिद्ध होता है कि उस का जन्म नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-वेदभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, वेदान्तिध्वान्तनिवारण, वेदविरुद्धमतखण्डन, सत्यधर्मविचार और अन्य स्वामीजी कृत ग्रन्थों में जहां२ यह लिखा है कि मोक्ष सदा के लिये होता है, फिर जन्म मरणादि दुःख

नहीं होते। उन का तात्पर्य यह नहीं है कि मोक्ष सीमाबद्ध नहीं वा अनन्त काल के लिये है। किन्तु जैसे कोई मनुष्य २५ वर्ष की अवस्था में तपोवन के लिये चला जावे और कहे कि मैं सदा वहीं रहूंगा, कभी लौट कर नहीं आऊंगा, सदा तपोवन के कन्द मूलादि खाऊंगा और सदा आनन्द ही मनाऊंगा तो उस का यह तात्पर्य नहीं होता कि वह अनन्त काल तक तपोवन में रहेगा वा अनन्त काल तक लौट कर नहीं आवेगा वा अनन्तकाल तक कन्द मूल खायगा अथवा अनन्तकाल तक उस आनन्द में रहेगा। किन्तु यह तात्पर्य है कि वह इस जन्म भर लौट कर नहीं आवेगा और इस जन्म भर कन्द मूलादि खायगा तथा इस जन्मभर उस आनन्द में रहेगा परन्तु इस शरीर के पश्चात् उस का तपोवन में रहना, कन्द मूलादि खाना इत्यादि बातें सदा शब्द से विवक्षित नहीं हैं। इसी प्रकार मुक्तात्मा भी सदा आनन्द में रहेगा फिर लौट कर नहीं आवेगा। इस कथन का तात्पर्य भी अनन्तकाल के लिये वा निरवधिक नहीं है। किन्तु मोक्ष की आयुःपर्यन्त से तात्पर्य है॥

द० ति० भा० पृ० २६४ पं० ३ से—यह सिद्ध करने के लिये कि मुक्तजीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, दो प्रमाण दिये हैं जो कि ये हैं—

न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्॥

छां० अत्र पिताऽपिताभवति माताऽमाता लोकाअलोका देवाअदेवा वेदाअवेदाः। अथ यत्र देवइव राजेवाहमेवेदं सर्वोस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥ बृह० उ०

प्रत्युत्तर—पहले वाक्य का तो यह अर्थ है कि ब्रह्म एक है दूसरा नहीं है कि जिस को मुक्त जीव उस एक ब्रह्म से पृथक् देखे। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि मुक्तजीव से ब्रह्म द्वितीय नहीं है, किन्तु एक ब्रह्म से द्वितीय ब्रह्म नहीं है॥ दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि मोक्ष में पिता, माता, लोकविशेष, देवविशेष, और वैदिक कर्मकाण्डविशेष नहीं रहता। और जहां देवताओं वा राजाओं के समान यह जीवात्मा मानता है कि सब मैं ही हूं, वह इस का परमलोक वा ब्रह्मलोक है॥ इस का भी यह तात्पर्य नहीं कि सब कुछ ब्रह्म वा मुक्तात्मा ब्रह्म है। किन्तु स्पष्ट राजा का दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार राजा अपनी सम्पूर्ण सेनासहित किसी दूसरे के देश पर आक्र-

मण करे और कहे कि मैंने इस का विजय कर लिया तौ जिस प्रकार यथार्थ में यह तात्पर्य नहीं होता कि केवल राजा ही ने अपने शरीर मात्र से उस देश का विजय किया हो, किन्तु (मुख्यामुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) अर्थात् मुख्य और अमुख्य में केवल मुख्य की गणना होती है अमुख्य की नहीं। तदनुसार सेनादि सब मिल कर मुख्य राजा समझा जाता है। इसी प्रकार मुक्तात्मा का भी पूर्वोक्त कथन " अहमेवेदंᳫं सर्वोस्मीति " समझो॥

सत्यार्थप्रकाश में जो (शृण्वन् श्रोत्रं भवति०) इत्यादि वाक्य शतपथ काण्ड १४ से मोक्ष में सत्यसंकल्प से सब कुछ सिद्धि लिखी है उस पर द० ति० भा० पृ० २६५ में यह लिखा है कि स्वामी जी का यह कहना तौ ठीक है कि मोक्ष में शरीर नहीं रहता किन्तु अपनी शक्ति वा सत्यसंकल्प मात्र से आनन्द को भोगता है। और भौतिक पदार्थ का सङ्ग नहीं रहता। परन्तु जो श्रुति प्रमाण लिखी है, सो मोक्षप्रकरण की नहीं है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-अस्तु, स्वामी जी जिस विषय को प्रतिपादन करते हैं, वह तौ आप को स्वीकार ही है, रहा श्रुति का प्रकरणभेद सो यदि आप के कथनानुसार ही मान लिया जाय तौ भी स्वामी जी के प्रतिपाद्य विषय में दोष नहीं आता॥

द० ति० भा० पृ० २६६ में-

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति० इत्यादि॥ यद्वै तन्न वदति। वदन् वै तन्न वदति० इत्यादि॥ यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् वै तन्न शृणोति० इत्यादि। बृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं १-७

लिख कर अर्थ लिखा है कि-मुक्ति को प्राप्त हो कर न वह सूंघता है वह सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता (क्योंकि) सूंघने वाले को सुगन्धि से विपरिलोप-(विभक्तता) नहीं है० इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-आप के लिखे वाक्यों का यह तात्पर्य नहीं है कि मोक्ष में सूंघना, चखना, बोलना, सुनना, मानना, जानना; इत्यादि आत्मा में सामर्थ्य नहीं रहता। किन्तु जैसा स्वामी जी कहते हैं कि विना शरीर के ही और विना भौतिक इन्द्रियों के ही जीवात्मा सब कुछ सामर्थ्य रखता है। ऐसा ही इन वाक्यों का तात्पर्य है कि वह कुछ नहीं सूंघता अर्थात सूंघता हुआ भी वह कुछ नहीं सूंघता, क्योंकि सूंघने वाले और सुगन्धि में

देशभेद नहीं रहता किन्तु वह हर एक देश में हर एक वस्तु में भीतर पहुंच सक्ता है, तब जैसे देहबन्धन वाले जीवात्मा जब किसी वस्तु को सूंघते हैं वा चखते हैं वा सुनते हैं वा अन्य कोई विषय ग्रहण करते हैं, तब उस २ विषय के भिन्न देश होने से जीवात्मा मन से, मन इन्द्रियों से, इन्द्रियां विषय से, संयुक्त होती हैं। किन्तु आत्मा विषयों से साक्षात् ही संयुक्त नहीं होता। इस लिये मुक्तात्मा का सूंघना, चखना, देखना आदि विषय बद्धात्माओं के समान नहीं। इसी से यह कहा गया है कि मुक्तात्मा सूंघता हुवा भी नहीं सूंघता, चखता हुआ भी नहीं चखता और सुनता हुवा भी नहीं सुनता। इत्यादि॥ इस से यह सिद्ध नहीं हुवा कि मुक्तात्मा यथार्थ में देखता, सुनता, चखता आदि नहीं किन्तु बद्धात्माओं के समान सुगन्धि और दृश्य आदि विषय मुक्तात्मा को दूर वा अप्राप्त नहीं रहते किन्तु सब समीप और प्राप्त हो सक्ते हैं॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७ में–

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१॥भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्२

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ३ ॥

इन तीन सूत्रों से स्वामी जी ने लिखा है कि बादरि आचार्य मुक्ति में मन आदि का अभाव मानते हैं। और जैमिनि भाव मानते हैं। तथा बादरायण (व्यास) दोनों बातें मानते हैं। इस पर द० ति० भा० पृ० २६८ में उलाहना दिया है कि स्वामी जी ने सब पदों के अर्थ नहीं किये और अभाव का तात्पर्य श्रुत्यनुकूल मन आदि का अभाव नहीं है। सो श्रुति आगे लिखेंगे॥

प्रत्युत्तर–आपने भी श्रुति आगे कहीं नहीं लिखी। स्वामी जी ने सुगम होने से प्रतिपद का अर्थ नहीं लिखा था परन्तु प्रत्येक शब्द का अर्थ करने पर भी स्वामी जी के तात्पर्य से विरुद्ध अर्थ नहीं होता। सुनिये—

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १॥

(बादरिः) पराशर जी (एवम्) इस प्रकार (हि) निश्चय (अभावम्) मोक्ष में मन आदि का अभाव (आह) कहते हैं॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥

(जैमिनिः) जैमिनि जी (विकल्पामननात्) विकल्प जो मन का धर्म है उस के सुनने से (भावम्) मन आदि का भाव मानते हैं॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

(अतः) इस कारण (बादरायणः) व्यास जी (द्वादशाहवत्) द्वादशाहयज्ञ के समान (उभयविधम्) दोनों प्रकार मानते हैं । तात्पर्य यह है कि भाव और अभाव तथा भावाऽभाव दोनों मानने में विरोध इस लिये नहीं रहता कि भौतिक अपवित्र मन आदि का अभाव और शुद्ध संकल्प मात्र से मन आदि का भाव मानने से भाव वा अभाव वा दोनों का मानना ठीक है॥

अब बतलाइये कि स्वामी जी के लेख से पदार्थ को क्या विरोध है? और आप भी तौ आगे द० ति० भा० पृ० २७१ में कहेंगे कि-

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः । शा० अ० ४ पा० ४ सू० ८ स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते । अथ यदि मातृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥

भावार्थ भी पृष्ठ २७२ में आप ही ने लिखा है कि जो उपासक उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक में प्राप्त भया है तिसे सर्वकाम भोग्यवर्ग आनन्द के कारण संकल्प मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं । इत्यादि ॥ तब आप स्वामी जी के लिखे भौतिक साधनाऽभाव और सत्यसंकल्प मात्र साधनभाव में क्यों शङ्का करते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २६९, २७० और २७१ में (संपद्याविर्भावः०) इत्यादि वेदान्तशास्त्र के ७ सूत्र और १, ४, ५, ६; इन सूत्रों पर छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् के विषयवाक्य करके लिखे हैं और उन से सिद्ध किया है कि मुक्ति का एक प्रकार कैवल्य है और इन सूत्रों तथा उपनिषद्वचनों में कैवल्य नाम की मुक्ति का वर्णन है ॥

प्रत्युत्तर-उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों में सब मुक्त पुरुषों की एक ही सी अवस्था प्रतिपादन की गई है । सालोक्य सामीप्य सायुज्य कैवल्य आदि भिन्न २ प्रकार की मुक्तियों का वर्णन कहीं भी नहीं है । आपने जिन सूत्रों तथा उपनिषदों का प्रमाण दिया है उन के अक्षरार्थ पर भी ध्यान दीजिये तौ कैवल्य नामक एक प्रकार विशेष की मुक्ति नहीं पाई जाती । सब सूत्रों और उपनिषद्वचनों का अर्थ सुनिये-

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ शा० ४ । ४ । १ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ आत्मप्रकरणात् ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

अर्थ-(संपद्य) ब्रह्म को प्राप्त होकर (स्वेन) अपने स्वरूप से (आविर्भावः) प्रादुर्भाव होता है (शब्दात्) "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेण०" इत्यादि शब्दप्रमाण से सिद्ध है ॥ तात्पर्य यह है कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है और अपने सच्चित् स्वरूप से प्रकट रहता है अर्थात् भौतिक देहादि आवरणों से आच्छादित नहीं रहता ॥ १ ॥ दूसरे सूत्र में यह कहते हैं कि वह मुक्त क्यों कहलाता है-उपनिषद् में (अस्माच्छरीरात्समुत्थाय०) अर्थात् " इस शरीर से पृथक् होकर," यह प्रतिज्ञा की गई है,इस कारण शरीरबन्धन से छूटने के हेतु से मुक्त कहाता है ॥ २ ॥ तीसरे सूत्र में यह कहते हैं कि उपनिषद् में जो परंज्योतिः को प्राप्त होना लिखा है सो भौतिकज्योति से तात्पर्य नहीं है, किन्तु "आत्मा के प्रकरण से" यहां आत्मिकज्योति ही समझनी चाहिये ॥३॥ चौथे सूत्र में यह कहा गया है कि भौतिक ज्योतियां एकदेशीय होने से विभक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होती हैं,परन्तु यहां मुक्ति में जिस ज्योति को जीवात्मा प्राप्त होता है वह ज्योति " अविभाग से देखी जाती है " अर्थात् वह परं ज्योति जीवात्मा के सामने उस से विभक्त नहीं दीखती, किन्तु वह आत्मिक ज्योति जीवात्मा को अपने में व्यापक=अविभक्त दिखाई देती है इस कारण वह ज्योति भौतिक नहीं समझनी चाहिये ॥ ४ ॥ पांचवें और छठे सूत्रों में दो पक्ष हैं, एक जैमिनि और दूसरा औडुलोमि का । जैमिनि यह कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्मज्योति से सम्पन्न हो जाता है । क्योंकि उपनिषदों में उपन्यासादि देखे जाते हैं । और औडुलोमि यह कहते हैं कि " चिदात्मक होने से चेतन मात्र जीवात्मा की स्थिति रहती है " ॥ ५ ॥ ६ ॥ अब सातवें सूत्र में व्यास जी यह कहते हैं कि जैमिनि और औडुलोमि में विरोध नहीं है क्योंकि उपन्यास से जैमिनि का कहना ठीक है और पूर्वभाव से औडु-

लोमि का कथन भी संगत है अर्थात् जीवात्मा का पूर्वभाव चेतनमात्र था और मुक्ति में उसे ब्राह्मज्योति की सहायता मिली, इस लिये मुक्ति में जीवात्मा अपने स्वरूप से भी स्थित रहा और ब्राह्मज्योति से भी सम्पन्न हो गया। जैसे-एक ज्योतिष्मान् सुवर्ण का कङ्कण महाज्योतिष्मान् सूर्य की धूप में रक्खा हो तो वह अपने स्वरूप से अपनी ज्योति को भी धारण किये हुवे होता है तथा सूर्य की बड़ी ज्योति से भी संपन्न होता है। बस, इन दोनों बातों में विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

अब उपनिषद्वचनों के अर्थ सुनिये-

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुःशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परमज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ॥ छां० उ० अ० ८ खं० १२

अर्थ-जिस प्रकार अशरीर वायु, बादल, विद्युत्, मेघ के शरीर इस आकाश से उठकर बड़ी ज्योति को प्राप्त होकर अपने २ स्वरूप से संपन्न हुवे प्रादुर्भूत होते हैं, इसी प्रकार यह सब प्रकार से प्रसन्न जीवात्मा इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से संपन्न हो जाता है और उत्तम पुरुष कहलाता है ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ छां० अ० ७-न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥

अर्थ-जिस मुक्ति में यह जीवात्मा परमात्मा के अतिरिक्त न किसी दूसरे को देखता न सुनता और न जानता है। किन्तु परमात्मा ही में मग्न हो जाता है क्योंकि वह परमात्मा भूमा अर्थात् सब से महान् है और उस के समान कोई दूसरा नहीं है कि जिस को यह मुक्तात्मा देखना स्वीकार करे॥

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति होवाच ॥ छां० अ० ७

इस वचन का पूर्व का भाग थोड़ा आपने छोड़ दिया, पूरा वाक्य इस प्रकार है-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा

ऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥१॥ गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आत्मादेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वऽकामचारो भवति ॥ २ ॥ इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अर्थ–जहां मुक्त पुरुष (ब्रह्म के अतिरिक्त) न कुछ और देखता है, न और सुनता है, न कुछ और समझता है, वही लोक महान् से महान् है और जिस लोक में एक को देख कर अन्य को देखता है, एक को सुन कर दूसरे को सुनता है, एक को जान कर दूसरे को जानता है, वह अल्प अर्थात् तुच्छ है। इस लिये जो महान् से महान् है वही अमृत है और जो अल्प है वह मरने वाला है। (प्रश्न) भगवन्! वह महान् से महान् किस में स्थित है? उस का आधार कौन है? (उत्तर)–उस का आधार कोई नहीं, वह अपना आधार आप है ॥१॥ बहुत से लोग बतलाते हैं कि गौ, घोड़े, हाथी, सोना, चांदी, नौकर, चाकर, स्त्री, खेती, हाट, हवेली ही महिमा है, वही बड़े से

बड़े वस्तु हैं, परन्तु मैं तो यह नहीं कहता। मैं तो यह कहता हूं कि इन सब वस्तुओं के भीतर व्यापक और ही एक वस्तु है, जो कि महिमा है अर्थात् बड़े से बड़ा वस्तु है ॥ २ ॥ (२४)

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दहिने, वही बायें, वही सब जगह जान पड़ता है और वह परमपिता अहं शब्द से सब मुक्त पुरुषों को जताता है कि देखो यह मैं ही हूं। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बायें, मैं ही यहां सर्वत्र हूं ॥१॥ फिर वह कृपालु आत्मा शब्द से निर्देश करता है कि देखो यह आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बायें, आत्मा ही सर्वत्र है। बस जब कि मुमुक्षु इसी प्रकार देखता है, इसी प्रकार मानता है, इसी प्रकार जानता है, तब उस परमात्मा ही में रति करता है, परमात्मा ही में क्रीड़ा करता है, परमात्मा ही से जोड़ा बनाता है, परमात्मा ही से आनन्द करता है। तब स्वतन्त्र हो जाता है, समस्त लोकों में यथेष्ट विचरता है, परन्तु जो अन्यथा जानते हैं, वे परतन्त्र होते हैं, उन के देह छूटते रहते हैं, वे सब लोकों में यथेष्ट नहीं विचर सकते हैं ॥२॥ (२५)

स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः ॥ छां० अ० ८ ॥

अहो! यहां तो आपने स्वयं ही अपने पांव में कुहाड़ी मारी है। जब कि इस श्रुति में क्रीड़ा रमण और पर्य्यटन लिखे हैं तब तो जीवात्मा का मोक्ष में कूटस्थ ब्रह्मभाव सर्वथा ही खण्डित हो गया। क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म देश-देशान्तर में पर्य्यटन नहीं कर सक्ता। इस से अत्यन्त स्पष्ट है कि मुक्तात्मा अपने ही सच्चित् परिछिन्नस्वरूप से वर्त्तमान रहता है। ब्रह्म नहीं बन जाता ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यःकृत्स्नःप्रज्ञानघनएव। बृ० अ० ६ ब्रा० ५।

अर्थ-जिस प्रकार सैन्धव लवण का डला न केवल भीतर और न केवल बाहर से किन्तु समस्त रस ही रस है, इसी प्रकार अरे! ये आत्मा भी न केवल भीतर और न केवल बाहर किन्तु समस्त ही प्रज्ञानघन है ॥

अब बतलाइये कि इन सूत्रों और उपनिषद्वचनों में कैवल्य नाम की किसी विशेष मुक्ति का वर्णन कहां है? जब कि समस्त पदों का अर्थ ठीक २ आप के सामने उपस्थित है ॥

द० ति० भा० पृ० २७१ पं० २४ से-सगुण उपासना से ब्रह्मलोकप्राप्ति द्वारा मुक्तिनिरूपण की है। अर्थात् सालोक्य मुक्तिप्रतिपादन करने के लिये पृष्ठ २७२ और २७३ में शारीरक सूत्र १।४।८ से १७ तक १६ वें को छोड़कर ९ सूत्र और सूत्र संख्या ८, १०, ११ पर छान्दोग्य उपनिषद् के विषयवाक्य लिखे हैं॥

प्रत्युत्तर-यद्यपि इन नवों सूत्रों में कोई पद ऐसा नहीं आया है कि जिस से किसी प्रकार से ऐसा भाव निकलसके कि सालोक्य नाम एक विशेष मुक्ति है और ब्रह्मलोक नाम कोई विशेष लोक है और उसमें सालोक्य मुक्ति पाने वाले आत्मा चले जाते हैं। जब कि सूत्रों में ऐसा वर्णन नहीं है तब उपनिषदों से लिये हुवे विषयवाक्यों का भी वैसा तात्पर्य समझना भूल है। वह मुक्ति की क़िस्में आपने मन से ही घड़ली हैं। परन्तु जब तक आप के लिखे सूत्रों का पद पद का अर्थ और उपनिषद्वचनों का भी भावार्थ न लिखा जावे तब तक जो भ्रम आपने अपने लम्बे चौड़े भावार्थ से अपने घर के शब्द जोड़ २ कर उत्पन्न कर दिया है, उस की निवृत्ति कठिन है। इस लिये सब सूत्रों और विषयवाक्यों का अर्थ सुनिये-

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः॥ शा० ४।४।८॥ अतएव चानन्याऽधिपतिः॥ ९॥ अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १०॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ ११॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥१२॥ तन्वभावेसन्ध्यवदुपपत्तेः॥ १३॥ भावे जाग्रद्वत्॥ १४॥ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति॥ १५॥ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च॥ १७॥

अर्थ-(संकल्पा०) इस आठवें सूत्र और (मयदापितृलोक०) इस विषय वाक्य का अर्थ हम ऊपर पृष्ठ ३१२ में लिख चुके हैं कि मुक्तात्मा को संकल्प मात्र से समस्त ऐश्वर्य उक्त परमात्मा में ही प्राप्त हो जाता है। और हम यह भी जतला देना चाहते हैं कि मुक्तात्मा को जो संकल्प मात्र से मातृलोक पितृलोकादि समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति लिखी है, उसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि सांसारिक पिता माता आदि से संकल्पबल से उस का संबन्ध होता हो, किन्तु वह मुक्तात्मा परमात्मा ही को पिता, माता, धन ऐश्वर्य; इत्यादि सब कुछ समझने लगता है और उस के अतिरिक्त अन्य कुछ

कामना नहीं करता। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७ के अन्तिम खण्ड २६ में लिखा है-

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतस्तेज आत्मत आपआत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्पआत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेद ँ सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्योमृत्युंपश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥ इति षड्विंशः खण्डः२६

अर्थात्–जब कि मुक्तात्मा परमात्मा को साक्षात् देखता, मानता और जानता है तब उस को परमात्मा ही से जीवन, परमात्मा ही से आशा, परमात्मा ही स्मरण, परमात्मा ही से आकाश, परमात्मा ही से तेज [और कहां तक कहें] परमात्मा ही से अप् और उसी से आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म और यह सब कुछ ऐश्वर्य परमात्मा ही से प्राप्त होता है [परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता, उसी से सब आनन्द प्राप्त होते हैं] ॥१॥ सो यह ग्रन्थान्तर में कहा है कि मुक्तात्मा न मृत्यु को देखता है, न रोग को देखता है, और न दुःख को देखता है, परन्तु सब कुछ देखता है और सब ओर से सब कुछ प्राप्त होता है [वह विलक्षण होता है] अर्थात् एक प्रकार, तीन प्रकार, पांच प्रकार, सात प्रकार, नौ प्रकार, ग्यारह प्रकार, बीस प्रकार, सौ प्रकार, सहस्र प्रकार और फिर एक ही प्रकार समझ और मान सकते हैं [अर्थात् वह

अनोखे प्रकार का होता है, जो कहने में नहीं आसकता] क्योंकि आहार की शुद्धि में सत्त्व की शुद्धि और सत्त्व की शुद्धि में स्मृति की स्थिरता और स्मृति की स्थिरता में सब ग्रन्थियों का छूटना होता है [जब कि मुक्तात्मा पूर्वोक्त प्रकार परमात्मस्वरूप ही अन्न अर्थात् आहार को प्राप्त होता है तो उस से पवित्र आत्मिक भोजन और क्या हो सकता है? और उस की प्राप्ति में अत्यन्त पवित्रता और स्मृति की स्थिरता की कमी ही क्या रह सकती है] इसलिये सनत्कुमार जी जिन को कि स्कन्द कहते हैं, प्रकट करते हैं कि उस मुक्तात्मा के लिये अविद्या का पार है क्योंकि उस के समस्त मल छूट गये हैं। दो बार पाठ प्रपाठकसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ ८ ॥

९ वें सूत्र का अर्थ यह है कि "इसी लिये अनन्याधिपति" अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त उस का कोई अन्य अधिपति नहीं होता ॥ ९ ॥ १० वें ११ वें और १२ वें सूत्रों का अर्थ हम पूर्व पृष्ठ ३११ में लिख चुके हैं कि मोक्ष में संकल्प मात्र से समग्र ऐश्वर्य का भाव जैमिनि मानते हैं और भौतिक सङ्ग न होने की अपेक्षा से व्यास जी के पिता बादरि अभाव मानते हैं और व्यास जी उक्त दोनों प्रकार से दोनों बातें मानते हैं, जैसे कि द्वादशाह नामक यज्ञ को (यएवं विद्वांसः सत्यमुपयन्तीति) और (द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति) इन दोनों वाक्यों से "सत्र" और द्विरात्रादिवत् "अहीन" भी कहते हैं ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ तेरहवें सूत्र में इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि मोक्ष में देह के विना भोगप्राप्ति कैसे हो सकती है-(तन्वभावे) देह के अभाव में (सन्ध्यवदुपपत्तेः) जैसे स्वप्न में विना स्थूल इन्द्रियों के भोग की प्राप्ति होती है, ऐसे ही मोक्ष में विना भौतिक अन्तःकरण के आत्मिक भोग की प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ चौदहवें सूत्र का अर्थ यह है कि "यदि मोक्ष में देह का भाव माना जावे तो जाग्रत् के समान स्थूल भोगों की प्राप्ति होनी चाहिये" ॥१४॥ और १५ वें सूत्र में उस अ र्थ की सङ्गति की गई है जो कि पूर्व छान्दोग्यवचन से मुक्तात्मा के एकधा, त्रिधा, पञ्चधा आदि भाव कहे गये थे (प्रदीपवदावेशः) जैसे दीपक का आवेश एक प्रकार और कई प्रकार भी कहा जा सक्ता है, परन्तु होता एक ही प्रकार का है (तथाहि दर्शयति) और ऐसा ही उपनिषद् दिखलाती है ॥१५॥

आप ने सोलहवां यह सूत्र छोड़ दिया कि–

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

अर्थात् (स्वाप्ययसंपत्त्योः) स्वाप्यय=सुषुप्ति और संपत्ति=मोक्ष इन दोनों में से (अन्यतरापेक्षम्) किसी एक की अपेक्षापूर्वक (आविष्कृतं हि) पूर्व दर्शा चुके हैं कि "एभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायेति" ॥१६॥ सत्रहवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि (प्रकरणात्) ब्रह्मप्राप्ति के प्रकरण से (असंनिहितत्वाच्च) और सांसारिक वस्तुओं की समीपता न होने से (जगद्व्यापारवर्जम्) सांसारिक व्यवहार वर्जित करके संकल्पबल से ब्रह्मानन्द में ही सब आनन्द प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

अब केवल एक उपनिषद्वाक्य का अर्थ शेष रहा जोकि यह है–

मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके ॥ छां० अ० ८

सो सुनिये–मुक्तात्मा साङ्कल्पिक मन से ही जो कि मोक्ष में संपूर्ण कामनायें हैं, उन्हें देखता हुआ रमण करता है ॥ इन समस्त सूत्रों और विषयवाक्यों के पदार्थ और भावार्थ से यह कहीं नहीं झलकता कि ब्रह्मलोक पृथिव्यादि लोकों के समान कोई विशेष लोक है और सालोक्य मुक्ति पाने वाले वहां चले जाते हैं और बन्धुवे होकर रहते हैं ॥ यदि कोई (ब्रह्मलोके) इस पद से इस भ्रान्ति में पड़े कि ब्रह्मलोक भी चन्द्रलोकादि के समान कोई लोक है, सो ठीक नहीं । क्योंकि " ब्रह्मणो लोकः ब्रह्मलोकः" अथवा "ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः" अर्थात् ब्रह्मलोक का अर्थ यह है कि " ब्रह्म का लोक" वा "ब्रह्म ही लोक" । सो ब्रह्म सर्वव्यापक है । इस लिये सब स्थान ब्रह्मलोक ही हैं । और ब्रह्म सब का स्वामी है इस लिये सब स्थान ब्रह्म ही के हैं । बस ब्रह्मलोक कोई एक स्थानविशेष नहीं है किन्तु लोकमात्र सब ब्रह्मलोक ही हैं । लोक शब्द के साथ ब्रह्म शब्द केवल इस लिये जोड़ा गया है कि अकेला (लोके) कहने से कोई सांसारिक कामप्राप्ति न समझ लेवे ॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३९ में (न च पुनरावर्त्तते०) इस उपनिषद् और (अनावृत्तिःशब्दात्) इस शारीरक सूत्र और (यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते०) इस गीता वाक्य से जो लोग कहते हैं कि मोक्ष अनन्त काल के लिये है, उन के उत्तर में (कस्य नूनं०) इत्यादि ऋग्वेद के दो मन्त्रों से सिद्ध किया है कि मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है और (इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः) इस सांख्यसूत्र का भी प्रमाण दिया है । इस पर–द० ति० भा० पृ० २९५ और २९६ में जो तर्क किये हैं उन का उत्तर क्रमशः निम्नलिखित प्रकार है–

१-पृष्ठ २७५ पं० ३-यह उन का हठ=दुराग्रह वा अज्ञान नहीं तो और क्या है जो उपनिषद् के वचन और शारीरक सूत्र का निरादर करते हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने शारीरक सूत्र और उपनिषद्वचन का निरादर नहीं किया है किन्तु जो लोग अनावृत्ति शब्द का अर्थ नहीं समझते उन का अनादर किया है। अनावृत्ति का ठीक अर्थ हम विस्तारपूर्वक पृ० ३०८। ३०९ में दे चुके हैं और यही अर्थ (कि अपनी मोक्ष की आयु भर जन्म नहीं होता, लौटते नहीं) "अनावृत्तिः शब्दात्०" वेदान्त सूत्र ४।४।२२ के विषयवाक्य का है। यथा-

स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्त्तते ॥ छां० प्र० ८ खं० १५ ॥

अर्थ-वह मुक्तात्मा ऐसे वर्त्तता हुवा आयुभर ब्रह्मलोक को प्राप्त रहता है, कभी लौटता नहीं ॥ इस में (यावदायुषम्) पद ने आप का और समस्त अपुनरावृत्तिवादियों का मुख ऐसा बन्द किया है कि कभी बोल नहीं सके। क्योंकि न लौटने की अवधि "आयु भर" हुई। आयु के पश्चात् लौटना निषिद्ध न हुवा ॥

२-पं० ४-यह सांख्यशास्त्र का सूत्र मुक्तिविषय का नहीं है यह तत्त्व के निर्णय में है। इस का अर्थ आगे करेंगे। मुक्ति विषय में वो ही सांख्यकर्त्ता यों लिखते हैं (न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः) ॥

प्रत्युत्तर-यदि सांख्य का सूत्र तत्त्व के निर्णय में है और तत्त्वज्ञान ही मोक्ष है, तौ फिर यह सूत्र मोक्षविषय में क्यों नहीं है? दूसरा सूत्र जो आप मुक्तिविषय में बतलाते हैं उस में भी "अनावृत्ति" शब्द ही आप ने अपने पक्ष का पोषक समझा होगा, परन्तु अनावृत्ति=न लौटने का अर्थ वही है जो हम पृष्ठ ३०८। ३०९ तथा इस ३२१ में ऊपर लिख चुके हैं ॥

३-पं० ११-सत्यार्थप्रकाश संन्यास प्रकरण में लिखा है कि मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। कहिये यहां अक्षय शब्द का क्या अर्थ है ॥

प्रत्युत्तर-हां, अक्षय शब्द का अर्थ सुनिये-क्षय शब्द का अर्थ अन्त नहीं है, जिस का अर्थ अक्षय कहने से आप अनन्त समझे। किन्तु क्षय का अर्थ क्षीणता, कमी वा न्यूनता है, इस के विरुद्ध अक्षय का अर्थ क्षीण, कम, वा न्यून न होना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक पदार्थ से जो सुख पहले दिन प्रतीत होता है, दूसरे दिन उसी पदार्थ से कुछ कम सुख प्रतीत होने लगता है। क्योंकि वह

पदार्थ एकरस न होने से अगले दिन बल्कि अगले क्षण में ही कुछ जीर्ण या पुराना हो जाता है, इस लिये पूर्व क्षण या पूर्वदिन के सा आनन्द नहीं देता, इस लिये सांसारिक सुख सक्षय कहाते हैं परन्तु मोक्ष इस लिये अक्षय कहाता है कि उस का आनन्द प्रतिक्षण वा प्रतिदिन क्षीण नहीं होता रहता किन्तु मोक्ष की अवधि पर्यन्त एकरस बना रहता है ॥

४-पं० १८ में-(सोऽसिं निःशान०) इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ लिख कर यह दिखलाया है कि (कस्य नूनं०) इत्यादि दोनों मन्त्रों का मोक्षविषयक तात्पर्य नहीं है किन्तु अजीगर्त्त नाम राजा जब पुत्र शुनःशेप पर खड्ग लेकर चढ़ आया तब शुनःशेप ने इन दोनों मन्त्रों में से पहला मन्त्र पढ़ा और फिर प्रजापति ने उस से कहा कि दूसरे मन्त्र के अनुसार अग्नि ही देवताओं के मध्य में समीप है इस कारण अग्नि को स्मरण कर। तब वह शुनःशेप (अग्नेर्वयं०) दूसरे मन्त्र से अग्नि की प्रार्थना करने लगा। इस लिये इन मन्त्रों में शुनःशेप की कथा है, मुक्तजीवों की नहीं ॥

प्रत्युत्तर-निःसन्देह इन मन्त्रों का शुनःशेप ऋषि है। परन्तु जिस मन्त्र का जो ऋषि होता है उस मन्त्र में उस ऋषि का वर्णन नहीं होता किन्तु (ऋषयो मन्त्रद्रष्टयः) इस निरुक्त के अनुसार ऋषि केवल मन्त्र का द्रष्टा होता है, मन्त्र का विषय नहीं। हां, (या तेनोच्यते सा देवता) इस निरुक्तानुसार मन्त्र का जो देवता होता है वह उस मन्त्र का विषय होता है। तदनुसार इन दोनों मन्त्रों में से पहले का "प्रजापति" और दूसरे का "अग्नि" देवता है और ये दोनों नाम परमेश्वर के हैं। इस लिये यथार्थ में इन दोनों मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन है, पहले में प्रश्न और दूसरे में उत्तर है। अब दोनों मन्त्रों का क्रमशः पदार्थ सुनिये-

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑ना॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑। को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥ ऋ० १।२४।१

अर्थ-(अमृतानाम्) हम मुक्तों के मध्य में (नूनम्) निश्चय करके (कस्य कतमस्य देवस्य) किस और कौन से देवता के (नाम) नाम को (चारु मनामहे) अच्छा जानते हैं (च) और (नः) हम को (अदितये मह्यै) अखण्ड पृथिवी=मृत्युलोक के लिये (कः) कौन (पुनःदात्) फिर देवे=भेजेगा (पितरञ्च दृशेयम्मातरञ्च) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥ १॥

अगले मन्त्र में वे मुक्त जीव अपने प्रश्न का आप ही उत्तर पाते हैं कि—

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥२॥

अर्थ—(अमृतानाम्) मुक्तों के मध्य में (प्रथमस्य) प्रथम ही से मुक्त अर्थात् सदा मुक्त (अग्नेः) परमात्मा (देवस्य) देवता के (नाम) नामको (वयं चारु मनामहे) हम अच्छा मानते हैं । (सः) वह (नः) हम को (अदितये मह्यै) अखण्ड पृथिवी=मृत्युलोक के लिये (पुनर्दात्) फिर देवे=भेजेगा (पितरञ्च दृशेयम्मातरञ्च) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥

कोई लोग यह कहा करते हैं कि इन मन्त्रों में मुक्तजीवों का वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु उन को जानना चाहिये कि "अमृतानाम्" पद मुक्तार्थक है । जो बहुवचन होने से अकेले परमेश्वर का वाचक भी नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्माओं का वाचक ही हो सकता है । दूसरे, पृथिवी के निवासी शुनःशेप का वर्णन इन मन्त्रों में इस लिये भी नहीं हो सकता कि (अखण्ड पृथिवी के लिये हमें फिर भेजेगा) मन्त्र के इस कथन से यह स्पष्ट पाया जाता है कि कहने वाले आत्मा पृथिवीनिवासी नहीं हैं । तीसरे (मनामहे) क्रियापद बहुवचनान्त है और शुनःशेप ऋषि एक था, जो बहुवचनान्त क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्मा ही बहुवचनान्तक्रिया के कर्त्ता हो सकते हैं । चौथे, जब कि वेद में किसी भी ऋषि का इतिहास नहीं है तो शुनःशेप का इतिहास भी नहीं हो सकता । पांचवें, शुनःशेप का नाम भी इन दोनों मन्त्रों में नहीं आया है । छठे, मन्त्र का देवता भी शुनःशेप नहीं है ॥

अब उस बात का उत्तर सुनिये जो कि अजीगर्त्त शुनःशेप का पिता खड्ग लेकर शुनःशेप को मारने लगा, तब शुनःशेप घबराया और उस ने विचारा कि मैं किसी देवता की शरण जाऊं जो मुझे मृत्यु से बचावे । यह विचार कर उस ने सोचा कि कोई भौतिक देवता अजर अमर नहीं है । केवल परमेश्वर अजर अमर है, जो कि प्रजापति=प्रजा का रक्षक है और मेरी रक्षा करेगा और अग्नि=प्रकाशस्वरूप है, जो मुझे प्रकाश अर्थात् ज्ञान देगा और अमर है, जो कि मुझे मृत्यु से बचावेगा । यह कथा मूलमन्त्र में नहीं, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में है, जिस का आप ने पाठ लिखा है, परन्तु जानना चाहिये कि जिस प्रकार जब किसी सनातनधर्मी हिन्दू पर मृत्यु वा विपत्ति का समय आता है तब वह मृत्युञ्जय मन्त्र—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० ७ । ५९ । १२॥

का जप करता वा कराता है । अथवा प्रह्लादभक्त को सङ्कट से बचाने वाले नृसिंह का स्मरण करता है । अथवा गजेन्द्रमोक्ष नाम स्तोत्र का पाठ करता वा कराता है । तब क्या गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र वा प्रह्लाद की कथा वा मृत्युञ्जय मन्त्र में उस सनातनधर्मी हिन्दू की कथा थोड़ा ही लिखी रहती है ? किन्तु मृत्यु और विपत्ति के समय में मृत्यु और विपत्ति से बचने के मन्त्र, इतिहास, श्लोक, स्तोत्र और भजन आदि याद आया ही करते हैं । तदनुसार शुनःशेप को भी जब अपने पिता से मृत्यु का भय हुवा, तब मृत्यु से बचने अर्थात् अमर होने के वर्णन का प्रश्न और उत्तरयुक्त मन्त्र याद आया और उस मन्त्र से उस ने उस समय प्रभु का स्मरण किया और अमर होने की प्रार्थना की और इसी से उस दिन से उस मन्त्र का वह शुनःशेप ऋषि द्रष्टा कहलाया तो क्या इस से यह समझा जा सकता है कि शुनःशेप का ही वर्णन उन मन्त्रों में है ? कभी नहीं ॥

५-पृष्ठ २७६ पं० २०-और भी अगले मन्त्र में शुनःशेप का संवाद है-(शुनःशेपो०) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-इस मन्त्र को आप अगला मन्त्र न बतलावें, किन्तु जिन दो मन्त्रों की व्याख्या की गई और जिन में भ्रम से आप ने शुनःशेप की कथा समझी वे दोनों मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ मन्त्र १ और २ हैं । और आप जिस मन्त्र को लिखते हैं और मिलाकर अर्थ करते हैं, वह मन्त्र मण्डल १ सूक्त २४ का १३ तेरहवां मन्त्र है । २-और वह मन्त्र ऐसा भी नहीं है कि जिस की स्मृति आप के लिखे ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेप की कथा में उपस्थित हो, ३-और इस मन्त्र में आये हुवे "शुनःशेप" शब्द का ऋषिविशेषपरक अर्थ मानना निरुक्त के भी विरुद्ध है जो कि हम आगे अर्थ में लिखेंगे । ४-तथा इस मन्त्र का शुनःशेप देवता भी नहीं है, जिस से शुनःशेप का वर्णन इस मन्त्र में समझा जावे, किन्तु वरुण देवता है जो सायणाचार्यादि ने भी माना है । अब उस मन्त्र का अर्थ सुनिये—

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः । अवैनं राजा वरुणःससृज्याद्विद्वाँअदब्धो विमुमोक्तुपाशान् ॥ ऋ० १।२४।१३॥

अर्थ-जैसे(शुनःशेपः)शुनो विज्ञानवतइव शेपो विद्यास्पर्शो यस्यसः । श्वाशुयायी शवतेर्वास्याद्गतिकर्मणः निरु०३।१८ शेपः शेपतेःस्पृशति कर्मणः निरु०३।२१

विज्ञानवान् पुरुष (त्रिषु) कर्म उपासना और ज्ञान में (आदित्यम्) अवि-नाशी परमेश्वर का (अह्वत्) आह्वान करता है वैसे हम लोगों ने (गृभीतः) स्वीकार किया हुआ उक्त तीनों कर्म उपासना और ज्ञान को प्रकाशित कराता है और जो (द्रुपदेषु) द्रूणां वृक्षादीनां पदानि फलादिप्राप्तिनिमित्तानि येषु तेषु=जिन विज्ञानों में वृक्षादिकों के फलादिकों की प्राप्ति के निमित्त वर्त्तमान हैं (बद्धः) उन में नियत (अदब्धः) अहिंसनीय (वरुणः) अतिश्रेष्ठ (राजा) प्रकाशमान परमेश्वर (अवससृज्यात्) वारवार सिद्ध करे । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नियमात् । रुग्रिकौ च लुकि ७ । ४ । ९१ इत्यभ्यासस्य रुग्रिगागमौ,दीर्घोऽकितः ७ । ४ । ८३ इति दीर्घश्च न । (हि) निश्चय (एनम्) इस विद्वान् को (विद्वान्) सर्वज्ञ परमेश्वर (पाशान् विमुमोक्तु) पापाचरण जन्य बन्धनों से विशेष करके छुटावे ॥ १३ ॥

द० ति० भा० पृ० २७७ पं० ८—मुक्तजीवों पर क्या विपत्ति पड़ी और कैसे अज्ञानी हो गये जो सर्वानन्द सर्वोत्तम पद से दुःखरूप संसार में आने की इच्छा करने लगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप तौ अवतारवादी और अद्वैतवादी हैं, आपके अद्वैत ब्रह्म पर क्या विपत्ति पड़ी है जो अज्ञान हो गया और दुःखरूप संसार में आपड़ा है ? यदि इस का उत्तर अनादिस्वभाव है तौ हमारा उत्तर भी यही है कि अनादिकाल से परमात्मा का यह स्वभाव ही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षा-वधि समाप्त होने पर संसार देवे और आप जो मुक्ति से पुनरावृत्ति को बहुत ही बुरा समझते हैं और बराबर उस का उलाहना देते हैं, सो यह तौ बत-लाइये कि जब आप के मत में शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अनादिकाल से अनन्त-काल तक सदामुक्त परमात्मा ही अवतार लेते समय जन्म मरण में आप-ड़ता है तौ बेचारे मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति में आप को क्यों शङ्का होती है जो कि अनेक जन्मों तक श्रम करते हुवे श्रौतस्मार्त्त कर्मों के सान्त अनुष्ठान सान्त उपासना और सान्त ज्ञान के बल से कठिन से सान्त मुक्ति को प्राप्त होते हैं ? । यदि कहो कि परमात्मा तौ भक्तों के ऊपर दया करके संसार में आपड़ता है, तौ क्या आप के ब्रह्म ही को दया है ? और आप के मतानुसार ब्रह्मभूत मुक्तात्माओं को क्या निर्दयता व्यापजाती है कि कभी किसी भक्त पर दया करके जन्म नहीं लेते । महात्मा जी ! कदाचित् यही सच हो, कि जिन को आप अवतार बतलाते हैं, समय २ पर वे सब अवतार मुक्त जीवात्माओं के ही होते हों । क्योंकि परमात्मा तौ सर्वव्यापक होने से किसी देहविशेष के बन्धन में नहीं आता । हम समझते हैं कि अब आप मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति का उलाहना कभी न दिया करेंगे ॥

द० ति० भा० पृ० २७८ पं० १० से–

अब यह भी विचारना है कि जन्ममरण का कारण क्या है, इस विषय में सब विद्वानों का यही मत है कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों से जन्म होता है। मुक्त जीव के शुभाशुभ कर्मों का सर्वथा नाश होजाता है। यथाहि–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ यदा यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥ तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्ड० ॥ ३ ॥ एषआत्माऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥४॥ न जरा न मृत्युर्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ॥ छां० अपहतपाप्माऽभयंरूपम् ॥ बृहदारण्यके ॥५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेताश्वतरे ॥ ७ ॥

प्रत्युत्तर–प्रथम तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब कि आप विना शुभाऽशुभ कर्मों के भी परमात्मा का अवतार (जन्म मरण) मानते हैं तो विना शुभाऽशुभ कर्मों के ही मुक्तात्माओं का भी मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म मानने में आप को क्या शङ्का हो सकती है? दूसरे जब कि आप शुभाशुभ कर्मरहित ब्रह्म को ही अज्ञान से जीव बन जाना मानते हैं, तो मुक्तात्माओं के जन्म में क्या शङ्का हो सकती है? यह तो आप के मतानुसार उत्तर हुआ। अब हमारे मतानुसार सुनिये–आप ने जो ऊपर उपनिषदों के प्रमाण लिखे हैं उन का अर्थ यह है:–" परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की ग्रन्थि भिन्न, सर्वसंशय छिन्न और कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥१॥ जब जो पुरुष ज्योतिःस्वरूप, जगत्कर्त्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगन्निमित्तकारण ब्रह्म को साक्षात् करता है तब वह विद्वान् पुरुष, अविद्यारहित, पुण्य पापों से छूट कर अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ अमृतपुरुष शोक और पाप, हृदय की ग्रन्थियों से छूट जाता है ॥ ३ ॥ यह मुक्तात्मा पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास से रहित हो जाता है। और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प हो जाता है ॥ ४ ॥ मुक्तात्मा को न बुढ़ापा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य, न पाप

होते हैं सब पाप उस से पृथक् हो जाते हैं ॥ वह पापरहित अभय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥ परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥ ६ ॥ परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर होजाते हैं ॥ ७ ॥

प्रथम तो इन प्रमाणों में १, २, ३, ४, ५ केवल इन संख्याओं में ही पापों या पाप पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है। शेष दो प्रमाणों में पाप पुण्यों से पृथक् होने का वर्णन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य से पृथक् होने का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावस्थापर्यन्त पाप पुण्य अपना फल नहीं कर सकते। तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की "क्षीणता" का अर्थ पाप पुण्यों का "अभाव" नहीं है। यदि आप क्षीण और अभाव का एक ही अर्थ मानते हैं तो क्या जब एक पुरुष को कहा जाता है कि उस का धातु "क्षीण" है तब क्या यह समझा जाता है कि उस का धातु "नहीं" है ? किन्तु यही समझा जाता है कि उस का धातु "निर्बल" है। इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी "क्षीण" अर्थात् ज्ञान और उपासना की अपेक्षा से "निर्बल" होजाते हैं। परन्तु जब जीवात्मा की सान्त उपासना और सान्त ज्ञान का फल मोक्ष अपनी अवधि को पहुंच जाता है और समाप्त हो जाता है, तब वेही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपासना के बल से दूर हट गये थे, मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सकते हैं। और कर्मों के "नाश" का तात्पर्य भी "अभाव" नहीं है, क्योंकि नाश शब्द "णश अदर्शने" धातु से बना है, इस लिये "नाश" का अर्थ 'तिरोभावमात्र" है। और पुण्य पापों से दूर होजाने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का "अभाव" नहीं है, किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का प्रभाव मुक्तात्मा पर नहीं होता। पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का "अभाव" नहीं है, जैसे कि कारागार से छूटने का तात्पर्य कारागार का "अभाव" नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २७९ में भी एक मन्त्र यजुर्वेद का और आठ उपनिषदों के वचन लिखे हैं। जिन सब का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्मा मृत्यु से छूट जाता है॥

प्रत्युत्तर—इन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि मुक्तात्मा जन्म मरण से छूट जाता है, परन्तु आप को तो ऐसा प्रमाण देना चाहिये था कि जिस में अनन्तकाल के लिये छूटना लिखा होता॥ पुनरावृत्ति न होने का अर्थ पृष्ठ ३०८। ३०९। ३२१ में लिख ही चुके हैं इस लिये पृष्ठ २८० के लिखे प्रमाणों का भी उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २८२ पं० १४–स्वामी जी ने यह श्रुति बदली है तौ भी इस का यह अर्थ नहीं बनता जो वह करते हैं। फिर पङ्क्ति २२–यहां जो ब्रह्मा का महाकल्प माना है तौ वह ब्रह्मा देवता है मनुष्य है वा ईश्वर का विशेष विग्रह है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–श्रुति बदली नहीं है, किन्तु (ब्रह्मलोके) और (परामृतात्) ये दो पाठ अशुद्ध छप गये थे, जो अब पांचवीं बार के छपे सत्यार्थप्रकाश में ठीक शुद्ध (ब्रह्मलोकेषु परामृताः) छाप दिये गये हैं और इस का अर्थ भी अशुद्ध नहीं है। आगे आप के लिखे मुण्डकोपनिषद् के तीनों वचनों का अर्थ करते हुवे हम यह दिखलायंगे कि स्वामी जी का तात्पर्य इस के पदार्थ से भले प्रकार निकलता है। स्वामी जी ने जो मोक्ष की अवस्था महाकल्प तक मानी है और महाकल्प ब्रह्मा के १०० वर्षों का नाम लिखा है वहां ब्रह्मा शब्द जगत्कर्त्ता, निराकार, परमेश्वर का ही वाचक है, किसी अन्य देवता वा मनुष्य का नहीं। जब तक एकवार की उत्पन्न हुई सृष्टि रहती है, तब तक को परमेश्वर का एक दिन कल्पना कर लिया है। जैसा कि मनु १। ७२–

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥

तदनुसार गणना करके १०० वर्षों का एक ब्राह्म महाकल्प माना है॥

द० ति० भा० पृ० २८२ पं० २६–अब श्रुति लिखते हैं–

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ १ ॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥२॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ३ ॥ मुण्ड० ॥

इन का अर्थ लिखने के पश्चात् पृ० २८३ पं० १८–इस से भी मुक्ति से लौटना सिद्ध नहीं होता॥

प्रत्युत्तर–आपने जो अर्थ करते हुवे उपाधि लगाई है, यदि उस उपाधि को छोड़ कर सरलार्थ किया जावे तौ स्वामी जी के तात्पर्य से कुछ विरुद्ध नहीं होता। और उपाधि लगाना व्यर्थ है। सुनिये–

अर्थ-(वेदान्त०) वेदान्त के सिद्धान्त से जिन्हों ने तत्वार्थ जान लिया ऐसे (शुद्धसत्वाः) रजोगुण और तमोगुण से वर्जित (यतयः) यती लोग (संन्यासयोगात्) संन्यास के योग बल से (परामृताः) मोक्ष को प्राप्त हुवे (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुक्तावस्थाओं में [निवास करते हैं] । (ते सर्वे) और वे सब मुक्तात्मा (परान्तकाले) ब्राह्म महाकल्प पर (परिमुच्यन्ति) वर्ज दिये जाते हैं । पाणिनि के ८ । १ । ५ सूत्र (परेर्वर्जने) पर-

* परेर्वर्जने वा वचनम् *

यह वार्तिक किया है । सूत्र और वार्तिक दोनों से " परि " उपसर्ग का "वर्जन" अर्थ स्पष्ट पाया जाता है । और वार्तिककार ने द्विर्वचन का भी विकल्प कर दिया है इस लिये यह शङ्का भी जाती रही कि "वर्जन" अर्थ में यहां "परि" शब्द को द्विर्वचन क्यों नहीं हुवा ॥१॥ (गताः कलाः०) मुक्ति को प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि १५ कलायें और इन्द्रियां सब अपनी २ अधिष्ठातृदेवताओं में लीन होजाती हैं, अर्थात् कार्य शरीर का कारण में लय हो जाता है । और (कर्माणि) क्षीण हुवे कर्म (एकीभवन्ति) इकट्ठे होजाते है, अर्थात् उपासना और ज्ञान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलोन्मुख तो नहीं हो सकते, किन्तु "इकट्ठे" रहते हैं अर्थात् परमात्मा के यहां (डिपाज़िट= अमानत) धरोहर=निक्षेप में रहते हैं, जिन के अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म होवेगा । (विज्ञानमयश्च आत्मा) और मन भी (परे अव्यये) अविनाशी परम कारण में लीन होजाता है । (सर्वे) इस प्रकार सब कारण में लीन होजाते हैं ॥ २ ॥ (यथानद्यः०) जिस प्रकार नदियें चलती २ अपने २ भिन्न २ गङ्गादि नामों और श्वेतकृष्णादि रूपों को छोड़ कर समुद्र में (अस्तं गच्छन्ति) छिप जाती हैं । इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष देवदत्तादि नाम और गौर कृष्णादि रूप से छूट कर (परात्परम्) पर=प्रकृति से भी पर (दिव्यं पुरुषम्) दिव्य परमात्मा के (उपैति) समीप चला जाता है ॥३॥

कोई २ लोग ऐसा भ्रम करते हैं कि जैसे नदी समुद्र में मिल कर समुद्र होजाती हैं तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म होजाता है । परन्तु दृष्टान्त का एक देश ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नाम और रूप समुद्र में मिलने पर भिन्न नहीं रहते, वैसे ही जीवात्माओं के भी देह के साथ से जो नाम और रूप पूर्व थे, वे मुक्ति में नहीं रहते । इस दृष्टान्त को सर्वदेशीय मानना असंगत है । क्योंकि यदि सर्वदेशीय दृष्टान्त

मानें तौ जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानना पड़े। तथा जैसे समुद्र से नदियें मिलने से पहले भिन्न देश में थीं ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्मकी व्यापकता से बाहर मानना पड़े, जो कि सर्वथा असंगत है॥

द० ति० भा० पृ० २८३ जीवों के (मुक्तों के) संसार में न आने से उच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव असंख्य हैं। फिर पङ्क्ति २५-जैसे अज्ञात काल के स्रोत नदियों के चले आते हैं और समुद्र में मिल जाते हैं, परन्तु उन स्रोतों का उच्छेद नहीं होता॥

प्रत्युत्तर-असंख्य का तात्पर्य यह है कि उन की संख्या नहीं जानी जा सकी, न कि वास्तविक अनन्त हैं। क्योंकि जब एक जीवात्मा अन्तःकरणोपाधि से घिर जाता है और स्पष्ट है कि उस का स्वरूप सान्त है, तौ जीवात्माओं का समुदाय भी वास्तव में सान्त ही हो सक्ता है। जैसे एक गोधूम सान्त है तौ गोधूमराशि भी सान्त ही होगी॥

सत्यार्थप्रकाश में पुनरावृत्ति न मानने पर एक यह दोष दिया गया है कि मुक्ति में भीड़ हो जायगी। इस पर-द०ति०भा० ने पृ० २८४ में यह उत्तर दिया है कि ब्रह्म अनन्त है और उसी में मुक्त पुरुष रहते हैं इस लिये भीड़ नहीं हो सक्ती॥

प्रत्युत्तर-"भीड़" का तात्पर्य "अनवकाश" नहीं है किन्तु "एकान्ताऽभाव" है। और आप के मतानुसार जीवों को अनन्त माना जावे तौ अनन्तों का मोक्ष होने पर "भीड़" होने में संदेह ही नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २८४ और २८५ में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु छोटे २ मिथ्या तर्क हैं जिन का उत्तर देना हरएक आर्य को सुगम है। इस लिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २८६ पं० १२ से-

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥सांख्य १।१॥

तीन प्रकार के दुःख की जो अत्यन्त निवृत्ति नाम स्थूल सूक्ष्म रूप से सर्वथा निवृत्ति सो अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है॥

प्रत्युत्तर-जब कि आपने ही अत्यन्तनिवृत्ति का अर्थ 'अनन्तकाल के लिये निवृत्ति' नहीं किया किन्तु 'स्थूल सूक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति' कहा है तौ फिर इस से आप का पक्ष ही क्या सिद्ध हुवा?

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासमण्डने, द०ति०भास्करस्य च खण्डने मुक्तिप्रकरणं नाम
नवमः समुल्लासः ॥९॥

ओ३म्

अथ दशमसमुल्लासमण्डनम्

आचाराऽनाचारप्रकरणम्

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि अति उष्णदेश में शिखा न रक्खे, इस पर द० ति० भा० पृ० २८७ पं० १८ से बहुत कुछ उपहास करके, फिर पृष्ठ २८८ पं० ८ में लिखा है कि इन की बात माननी ठीक नहीं संन्यास को छोड़ कर और किसी समय में भी शिखा का त्याग करना नहीं चाहिये, यही वेद की आज्ञा है ॥

प्रत्युत्तर—१—अतिउष्णदेश आर्यावर्त्तदेश को नहीं कह सक्के, किन्तु अफ्रीक़ा आदि के अत्युष्ण भागों को कहते हैं। इसलिये आर्यावर्त्तीय आर्यों को शिखाच्छेदन स्वामी जी के लेख से आवश्यक नहीं। २—शिखा उतरवाने से स्वामी जी का तात्पर्य कदाचित् समस्त शिर के केश अर्थात् जटाजूट न रखने के लिये हो। ३—आप का यह कहना भी ठीक नहीं कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य कोई शिखा का त्याग न करे। क्योंकि गोभिलगृह्यसूत्र में उपनयनसंस्कार से पहिले भी शिखासहित मुण्डन लिखा है, और उस के टीकाकार ने भी वही अर्थ लिखा है और मनु २।६५ में भी लिखा है कि—

केशान्तः षोडशे वर्षे

जिस से १६ वें वर्ष में समस्त केशों का उतरवाना पाया जाता है। और आप ने जो यह लिखा है कि "यही वेद की आज्ञा है" सो कोई वेद का मन्त्र लिखा होता। जिस में यह लिखा होता कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा नहीं कटानी। यद्यपि हम यह नहीं कहते और न स्वामी जी ने यह लिखा है कि आर्यवर्त्तीय आर्यों को चोटी नहीं रखनी चाहिये। परन्तु आप भी इस पर ज़ोर नहीं दे सक्के कि संन्यासियों को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा उतरवा देना धर्मशास्त्रोक्त कोई प्रायश्चित्त का काम है। और प्रत्यक्ष में सारे सनातनधर्मियों के यहां भी बालकों के मुण्डन समय समस्त केश उतारे जाते हैं ॥

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि—

आर्य्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ॥ प्रपाठक २ पटल २ खण्ड २ सूत्र ४

इस पर द० ति० भा० पृ० २८८ में इतने तर्क किये हैं कि १-शूद्र अर्थात् मूर्ख लोग धनियों के घर में विविध प्रकार के व्यञ्जन नहीं बना सक्ते क्योंकि वे सूपशास्त्र नहीं पढ़े। २-जो ब्राह्मण वेदादि शास्त्र नहीं जानते थे और सूपशास्त्र ही जानते थे, वे रसोई का काम करते थे। ३-सूत्रार्थ तुम्हारी ही प्रकार से करें तौ यह अर्थ होगा कि आर्यों के यहां शूद्र संस्कार करने वाले अर्थात् बुहारी देना चौका बरतन मांजना टहल सेवा आदि संशोधन के कार्य शूद्र करते थे॥

प्रत्युत्तर-१-सूत्र का अर्थ यह है कि (आर्याधिष्ठिताः०) आर्य जिन के अधिष्ठाता हों, ऐसे (शूद्राः०) शूद्र भी पाक संस्कार करें। इस लिये जब मूर्खों के अधिष्ठाता आर्य हों तो मूर्खों से भले प्रकार काम ले सकते हैं। क्योंकि अधिष्ठाता लोग तौ सूपशास्त्र जानते हैं। २-वेदादि न जान कर ही तौ ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। जैसा कि मनु ने लिखा है-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ २। १६८॥

अर्थात् जो द्विज वेद न पढ़े, अन्यत्र (सूपादि शास्त्र में) श्रम करता है, वह जीवता हुवा ही (इसी जन्म में) शूद्र हो जाता है॥ ३-सूत्र में संस्कार का अर्थ पाकसंस्कार है, बुहारी चौका ही नहीं, जैसा कि प्रकरण से स्पष्ट होगा। और जब कि आप के लेखानुसार बर्तनमांजना, धोना, जल भरना आदि शूद्र का काम है तौ शूद्र के हाथ के जल की रसोई और उस के धोये बर्तनों में पाक तौ आपने भी मान ही लिया तौ फिर जल की ही सारी शुद्धता है, इस लिये मिठाई, जलेबी, पूरी, परांवठे; आदि पाक में ही शूद्र के हाथ से क्या बिगड़ जायगा ? हम इस प्रकरण के कई सूत्र लिखते हैं, जिन से स्पष्ट है कि पात्रों के संस्कार का ही यहां वर्णन नहीं, किन्तु पाकसंस्कार का वर्णन है-

आर्य्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः॥ ४॥ अधिकमहरहः केशश्मश्रुलोम्नां वापनम्॥५॥ उदकोपस्पर्शनं च सह वाससा॥६॥ अपि वाष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपेरन्॥७॥ परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्रित्याद्भिः प्रोक्षेत॥ ८॥ तद्देव पवित्रमित्याचक्षते॥ ९॥

अर्थ-चतुर्थ सूत्र का अर्थ ऊपर लिख चुके हैं। पांचवें का अर्थ यह है कि पाककर्त्ता शूद्रों में इतना "अधिक" है कि प्रतिदिन केश मूंछ आदि आठ

मुंडवाये जावें" ६-वस्त्रों समेत जल से स्नान कराया जावे। अर्थात् नित्य वस्त्र धोये जावें और स्नान कराया जावे। ७-अथवा अष्टमी तिथियों में वा अमावास्यादि पर्व दिनों में ही उन के बाल मुंडवाये जावें। ८—यदि शूद्र ने द्विजों के परोक्ष (बिना देखे) में अन्न पकाया हो तौ उस अन्न को अग्नि से सेक कर जल से छिड़क ले॥ ९॥ वह पवित्र कहा जाता है॥ अब तौ आप नहीं कह सकते कि बर्तन मांजना ही शूद्र का कार्य है॥

द० ति० भा० पृ० २८९ और २९० में इतने तर्क हैं। १-यदि मद्य मांसाहारी म्लेच्छ के हाथ का भोजन वर्जित है तौ शूद्रों का भी वर्जित होना चाहिये क्योंकि वे भी मांस खाते हैं॥ २-स्वामी जी ने जिन पशु वा मनुष्यों को राजपुरुषों द्वारा प्राणदण्ड होने पर उन के मांस का फेंक देना वा कुत्ते आदि किसी मांसाहारी को देदेना वा जला देना लिखा है उस पर यह तर्क किया है कि यहां स्वामी जी ने मानो फांसी दिये हुवे मनुष्यों का मांस भी मांसाहारियों को खिलादेना लिखा है॥ ३-जब अन्यों के साथ खाने में प्रकृतिभेद से बिगाड़ है तौ अन्यों के हाथ का बना खाने में बिगाड़ क्यों न होगा॥ ४-जब पृष्ठ २८८ में यह लिखा है कि ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों का शरीर शुद्ध रज वीर्य आदि से शुद्ध बनता है और चण्डालादि का अशुद्ध, इस लिये चण्डालादि के हाथ का न खाना, तौ फिर अशुद्ध शरीर वाले शूद्र के हाथ के खाने में परस्परविरोध क्यों नहीं॥

प्रत्युत्तर-१-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शास्त्रानुसार मांसाहारी नहीं हैं इस लिये शूद्रों का पाक वर्जित नहीं और म्लेच्छ शास्त्र को नहीं मानते, इस लिये उन का पाक वर्जित है॥ २-स्वामी जी ने वधदण्ड वाले मनुष्यों और पशुओं के मांसविषय में जलाना, फेंकना, कुत्ते आदि मांसाहारियों को देदेना, इत्यादि कई पक्ष लिखे हैं। इस लिये उन का तात्पर्य यथायोग्य समझना चाहिये कि वधदण्ड वाले मनुष्यों का मांस जलाया जावे और पशुओं का फेंका जावे वा मांसाहारियों को देदिया जावे, इस में भी वर्णाश्रमरहित चण्डालादि जो मनुष्य उस मांस को खावें उन के स्वभाव बिगड़ने का दोष तौ स्वामी जी ने लिखा ही है। इस लिये आप का कहना ठीक नहीं है॥ ३-अन्यों के साथ खाने में उच्छिष्ट थूक आदि मिल कर प्रकृतिभेद से जैसा बिगाड़ होना सम्भव है वैसा अन्यों के हाथ का बनाया वा छुवा खाने में नहीं। और यदि किसी का बनाया वा छुवा कभी कुछ भी न खाया जावे

की देहयात्रा भी असम्भव है ॥ ४-जैसा भेद-ब्राह्मण वा चण्डाल में है वैसा भेद ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चार वर्णों में आपस में नहीं, इस लिये शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चण्डालादि के का वर्जित करना परस्परविरोध नहीं है। किन्तु शूद्र चारों वर्णों के अन्तर्गत होने, शास्त्र की मर्यादा को मानने और द्विजों का सेवक होने से, उन में मिल कर रहने और मांसादि अभक्ष्यभक्षण न करने से जल और पाक आदि में वर्जित नहीं हो सकता, और चण्डालादि इस के विपरीत होने से वर्जित हैं॥

———:※:———

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य दशमसमुल्लासमण्डने, द० ति० भास्करस्य च खण्डने आचारानाचारप्रकरणं नाम दशमःसमुल्लासः ॥ १० ॥

———※:०:※———

ओ३म्

अथ एकादशसमुल्लासमण्डनम्

अनुभूमिका

विदित हो कि महाभारत के पश्चात् प्रचलित हुए पौराणिक, जैनी, मुहम्मदी, ईसाई इन ४ चार सम्प्रदायों ने जो २ सत्य वेदोक्त धर्म के विरुद्ध अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासों द्वारा जगत् को भ्रमाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग से विमुख बना दिया था और जिस से मद्य मांसादि दुर्व्यसनों के प्रचार तथा परमेश्वर के स्थान में इतर पदार्थों की पूजा, गङ्गादि के स्वच्छ पवित्र जलों का यथार्थ माहात्म्य छिपा कर अपनी जीविका का द्वारमात्र बनाय जगत् को ऐहिक और पारमार्थिक सुखों से वञ्चित होना पड़ा। स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज को इस दुर्दशा के मिटाने को दया आई और और उन्होंने सत्य वस्तु के प्रकाशार्थ "सत्यार्थप्रकाश" नामक ग्रन्थ बनाया, जिस के प्रथम दश समुल्लासों में प्रायः वैदिकधर्म का निरूपण किया, उस के ऊपर अल्पज्ञता से हुई शङ्काओं का यथार्थ प्रत्युत्तर हम इस भास्करप्रकाश के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित कर चुके हैं। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने जिस प्रकार गत दश समुल्लासों पर यथा तथा जोड़ तोड़ करके अपने को कृतकृत्य किया है इसी प्रकार इस ग्यारहवें समुल्लास पर भी। स्वामी जी ने वेदविरुद्ध मतों के खण्डनार्थ सत्यार्थप्रकाश के ११। १२। १३। १४ इन ४ समुल्लासों में ऊपर लिखे पौराणिक आदि ४ सम्प्रदायों के मतस्थ वेदविरुद्धांश का खण्डन किया है। उस में से ११ वें समुल्लास में जो २ पौराणिक लोगों के मतों का खण्डन किया है इस पर अपने कल्पित मत की रक्षार्थ पं० ज्वालाप्रसाद जी पौराणिक ने जो कुछ लिखा है, उन के तथा सर्वसाधारण के भ्रमनिवारणार्थ सत्यार्थप्रकाश मण्डन में यह उत्तरार्ध का आरम्भ है। स्वामी जी महाराज का वा हमारा यह अभीष्ट नहीं है कि जैनी, कुरानी किरानी आदि जो वेद के अत्यन्त विरुद्ध मत हैं उन के समान पौराणिक लोगों को भी वेदविरुद्ध समझ कर उन को निर्मूल करने का उद्योग किया जावे। नहीं २ किन्तु पौराणिक लोग वेदों के नाम को मानते हैं और वेदों में विहित बहुत से धर्मानुकूल अनुष्ठान भी करते हैं, किन्तु उन को जो यह भ्रम है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है सो वेदों के अनुकूल ही है, इस को मिटाने और पुराणों के प्रचार को जो वेदों के प्रचार से बढ़ा रक्खा है उस की जगह वेदों के प्रचार बढ़ाने और अन्य वेद विरुद्ध मतों के हटाने में तात्पर्य था और है॥

तुलसीराम स्वामी

द० ति० भा० भूमिका पृष्ठ २९२

यह वार्ता सब पर विदित है कि महाभारत से पूर्व इस देश में वेदमत से भिन्न और कोई मत नहीं था जब महाभारत के पश्चात् अविद्या फैली तब जहां तहां अनेक मत दृष्टिगोचर होने लगे और जिस के मन में जो आया सो मत चलाया इसी कारण इस देश की एकता नष्ट होगई और विविध क्लेशों से भारतवर्ष पूर्ण हो धनहीन हो अधोगति को प्राप्त हुआ और जब बहुत से मत प्रचलित हुए तो इस अन्धाधुन्ध में स्वामी दयानन्द जी ने भी एक मत अपना नवीन खड़ा किया जिस में सम्पूर्णतः वेदविरुद्ध ही वार्ता प्रचलित की है और वेदमन्त्रों के अर्थ बदलकर अपने प्रयोजनानुसार कल्पना कर लिये हैं तथा पुराण मूर्त्तिपूजन तीर्थ श्राद्धादिक सब ही को वृथा कथन किया है इस मत का मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश है जिस के दश समुल्लासों का खण्डन इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कर चुके हैं यह एकादश समुल्लास का खण्डन इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लिखते हैं ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी जी ने पुराण तीर्थ मूर्त्तिपूजन का खण्डन किया है तथा अन्य मतों का भी खण्डन किया है जो इस समय प्रचलित हो रहे हैं परन्तु मेरा तात्पर्य उन मतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है । इस बात को सम्पूर्ण आर्यगण मानते हैं और मुझे भी निर्भ्रान्त स्वीकार है कि जो कुछ वेदादि शास्त्रों में आज्ञा है उसे मानना परम धर्म है और जो उन ग्रन्थों के विपरीत है वह अधर्म है इस कारण मैं इस स्थान में केवल उन्हीं बातों की चर्चा करूंगा जिन का वेद से सम्बन्ध है और मतवालों को यदि अपना मत सत्य सिद्ध करना हो तो वह अपना जवाब दे लेंगे मैं उन की ओर से उत्तरदाता नहीं क्योंकि मैं तो सनातन वैदिकमत को ही श्रेष्ठ मानता हूं और वास्तव में यही मत श्रेष्ठ भी है इस पुस्तक के लिखने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी का चित्त दुःखी हो किन्तु मेरा आशय यह है कि इस ग्रन्थ को विचार कर सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करें यही इस संसार में मनुष्य जन्म का फल है कि श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान कर मोक्ष के भागी बनें ॥

प्रत्युत्तर—यह सत्य है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् नाना मत खड़े हुए और उन मतों को नाना पुराणों ने खड़ा किया जिस से भारतवर्ष की विद्या, धर्म, धन, ऐश्वर्य सब नष्ट हुए और भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी अनेक मतों की उत्पत्ति महाभारत से इस ओर के ५००० पांच सहस्र वर्षों के

भीतर ही हुई है, क्योंकि वेदोक्त धर्म के अतिरिक्त अन्य सब मतों को अपनी नवीनता और ५००० वर्ष से अधिक प्राचीन न होना स्वयं स्वीकृत है, परन्तु स्वामी जी ने अन्धाधुन्ध से अपना मत नहीं खड़ा किया, किन्तु नाना मतों को हटा कर एक वेदोक्त धर्म का प्रचार करने के लिये अन्य वेदभाष्यादि उद्योग भी किये तथा सत्यार्थप्रकाश भी रचा, परन्तु नाना मतवादियों के वेदविरुद्धांशों का खण्डन उन २ मतवादियों को बुरा लगा, इस कारण यदि वे स्वामी जी को नवीन मत चलाने वाला कहें तो कुछ आश्चर्य नहीं ॥

स्वामी जी ने अपने जाने हुवे वेदविरुद्ध एक मत का भी खण्डन करने से नहीं छोड़ा और आप कहते हैं कि "मेरा तात्पर्य उन मतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है" इत्यादि । तो फिर आर्यसमाज के धर्म को अच्छा बुरा कहने पर क्यों उतारू हुवे । यदि कहो कि वैदिकधर्म की रक्षार्थ, तो क्या अन्य जैनादि मतों ने वैदिकधर्म की निन्दा और निज कल्पित मत के प्रचार में न्यून परिश्रम किया है वा करते हैं ? फिर आप यह स्वीकार करके भी कि महाभारत पश्चात् अविद्यावश अनेक मत चल पड़े, फिर उन का मतों खण्डन न करके केवल आप के वैदिकधर्म को फैलाने वाले, राम कृष्णादि महात्माओं की निन्दा करने वालों को निरुत्तर करके आप के पूर्वजों के नाम और यश तथा धर्म की मर्यादा के रक्षक आर्यसमाज के ही खण्डन पर आप उतरे हैं सो क्या सन्निपात रोगी के सी अवस्था नहीं है ? जो आप अपने हितेच्छु को विद्वेषी और अन्य जैनादि विरोधियों को हितेच्छु समझ कर भ्रम कर रहे हैं ॥

स्वामी जी का और हमारा भी ग्यारहवें समुल्लास को लिखने और उस के ऊपर उठी शङ्काओं के निवारण से यह तात्पर्य नहीं है कि उस प्रकार के मानने वालों का चित्त दुखाया जावे, किन्तु यह कि उन २ मतों की भूल सुधर कर धर्म, जो वेदोक्त है, उस का प्रचार हो ॥

द० ति० भा० पृ० २९३ पं० १२ से—

अश्वत्थामा ने पाण्डववंश निर्वंश करने को अस्त्र त्यागन किया था तो वह उत्तरा के गर्भ में भी मारने को प्रविष्ट हुआ तो क्या वहां उत्तरा के गर्भ में विचार वा सलाह से बाण छोड़ा था जो परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया । यह मन्त्र ही का तो प्रभाव था ॥

प्रत्युत्तर-जिस प्रकार मन्त्र का प्रभाव आप का साध्य है, उसी प्रकार इस कथा का सत्य होना भी आप का साध्य है, बस साध्यके समान हेतु देना "साध्यसमहेत्वाभास" नाम निग्रहस्थान है । जैसा कि—

साध्याऽविशिष्टःसाध्यत्वात् साध्यसमः । न्यायदर्शन१।४९॥

अर्थात् साध्य से विशेषता न रखने वाला हेतु भी साध्य होने से 'साध्य सम' नामक चतुर्थ हेत्वाभास है ॥

इसी प्रकार के असम्भव विश्वासों को हटाने के निमित्त तौ स्वामीजीने 'मन्त्र' का अर्थ 'विचार' किया है और आप पौराणिक होकर ऐसी बात लिखते हैं कि परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया । क्या आप गर्भ में ही परीक्षित का मर जाना किसी पुराण में दिखायेंगे ? क्या वह मरकर ईसामसीह के समान फिर (जीवित)ज़िन्दा हो गया और क्या यह किसी पुराणमें लिखा है ? यदि नहीं तौ क्या आप परीक्षित का जन्म और राज्य करना, जनमेजय पुत्र होना, उस को सर्प के काटने से सर्प होम के लिये जनमेजय को क्रोध आना और श्रीकृष्ण के सुदर्शनचक्र द्वारा परीक्षित की रक्षा का विश्वास आप को नहीं है ? यदि ऐसा है तौ क्या आप भी महाभारतादि के इतिहासों को पूर्ण सत्य नहीं मानते ? यदि नहीं मानते तौ इसी पृष्ठ में तक्षक के सिंहासन उड़ाने आदि अत्युक्ति (मुबालग़े) को क्यों लिखते हैं ?

द० ति० भा० पृ० २९३ पं० २१ से-

स्वामी जी ने कहा है कि शब्दमय मन्त्र होता है, उस से द्रव्य उत्पन्न नहीं होता । यह भी असत्य है, फिर वेदवाक्य तौ कहते हैं 'स्वर्गकामो यजेत' यदि केवल मन्त्र शब्दमय है तौ स्वर्ग कैसे हो सकता है ?

प्रत्युत्तर-'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ यह है कि स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे तो क्या स्वर्ग उत्पन्न हो जाने से तात्पर्य है ? प्रत्युत यह है कि यज्ञ करनेका फल स्वर्ग है और यह वाक्य वेदवाक्य भी नहीं है, चारों वेदों की ४ संहिताओं में कहीं नहीं है। सर्प, बीछू मन्त्रों को नहीं मानते, यदि मानते तो धुने, जुलाहे, स्याने, दिवाने किसी सर्प के काटे को न मरने देते और औषध भी न देते। एक बाण छोड़ने से पत्थर नहीं वर्ष सकते, किन्तु किसी विचार (गुप्त) से ऐसा हो सकता है । सर्प पकड़ २ कर फूंकना तौ ठीक है, जैसा कि अब भी भेड़िये, शेर, बाघ, काले सर्पादि को गवर्नमेंट मरवा डालने की प्रेरणा करतीहै, परन्तु मन्त्र पढ़ने मात्र से ही यह सब असम्भव है । तथा जैसे छारछबीला, बालछड़ आदि बिल्लीलोटन दवाओं पर बिल्ली स्वयं दौड़ कर

आती है । इसी प्रकार सर्प भी कहीं औषधों के होम में आकर गिरने लगें यह संभव है । " आग्नेयास्त्र " ऐसे विचार (मन्त्र) पूर्वक छोड़ना कुछ असम्भव नहीं कि जहां चाहें वहीं अग्नि बर्षे । प्राचीन ऋषि मन्त्र द्वारा देवतों को बुलाते थे सो अब भी जहां हवन होता है वहां वायु और उस के अन्तर्गत अन्य देवता आते और आहुति लेकर मनुष्यों के अनुकूल सुख-दायक हो जाते हैं । यथार्थ में शब्दमय मन्त्र गुण हैं और गुण से द्रव्यो-त्पत्ति नहीं हो सक्ती । जैसा कि–

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥

वैशेषिकदर्शन अध्याय १ सूत्र ९ ॥

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

अर्थात् द्रव्य और गुण अपने सजातीय को उत्पन्न करते हैं यही इन में साधर्म्य (समान धर्म) है ॥ ९ ॥ अर्थात् द्रव्य से अन्य द्रव्य तथा गुण से अन्य गुण उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥ तब आप का गुण (शब्दमय) मन्त्र से द्रव्यों-त्पत्ति मानना शास्त्रानुकूल नहीं है ॥

वर और शाप देने के फल उस २ के कर्मवश होते हैं जिस २ कर्म के कारण कोई महात्मा वर वा शाप देता है । वैद्य ने वृक्ष को जीवित किया सो सर्वथा भस्म हुवे को नहीं, किन्तु अर्द्धदग्ध को हरा भरा करदेना औषध प्रभाव से संभव है । जर्मनी का कोई गुणग्राही सहस्रों धन से अस्त्रविद्या का पुस्तक लेगया सो प्राचीन पदार्थविद्या के खोजने को, न कि जादूगरी के लिये । तथा अन्य देशीय भी भारतवर्ष से जिस प्रकार कभी विद्यासीखते थे ऐसे अब अविद्या भी विद्या की भूल में शिर चढ़ा लेवें तौ आश्चर्य नहीं कितने ही थियासोफ़िष्टों को भूत चुड़ैल रूप अविद्या चिपटती जाती है ॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० ४ से–

ब्रह्मवाक्यम्–वेदवाक्य जो हैं सो जनार्दन हैं, अर्थात् वेद ईश्वरवाक्य होने से उस से पृथक् नहीं ॥

प्रत्युत्तर–प्रथम तौ आप ने स्वामी जी के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना करके:–

अविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्॥

न्यायदर्शन १ । ५३ ॥

सामान्य कहे अर्थ में वक्ता के तात्पर्य से भिन्न दूसरा अर्थ कल्पित करना वाक्छल कहाता है ॥

सो स्वामी जी ने तो यह तात्पर्य समझ कर लिखा है कि ब्राह्मण लोग अपने वचन को परमेश्वर के बराबर बताने के लिये कहते हैं कि–"ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः" । आप दूसरा अर्थ करके " वेदवाक्य जनार्दन है " यह अर्थ करते हैं । अस्तु परमेश्वर ने आप पर बड़ी कृपा की जो आप ने ब्राह्मणों के वृथाभिमान वाले अर्थ को छोड़ दूसरा ही अर्थ खड़ा किया । परन्तु वेद वाक्य को साक्षात् परमेश्वर जानना भी ठीक नहीं क्योंकि वेद केवल मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित हैं और वचन को वक्ता मानना वा जानना अज्ञान है । वेद परमेश्वर का वाक्य भी नहीं किन्तु परमेश्वर का दिया ज्ञान है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २९४ पं० १६ से–

वास्तव में यह पोप शब्द का कल्पित अर्थ तुम्हीं में घट सकता है कि (अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्) इत्यादि वेदमन्त्रों का जहां तहां अर्थ बदल दिया है । अपना मत चलाने के लिये चन्दा बटोरना तथा पुस्तकों की क़ीमत चौगुणी करके रजिस्टरी कराना इत्यादि यह ठगई नहीं तो और क्या है ?

प्रत्युत्तर–यह आप सत्यार्थप्रकाश का उत्तर देते हैं वा स्वामी जी के कार्यों की समालोचना करते हैं ? सच है चिड़ में गाली ही दीजाती हैं। स्वामी जी ने चन्दा करके पुस्तकों की रजिस्टरी कराके वैदिकयन्त्रालय की उन्नति की सो स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु पुस्तकप्रचार द्वारा जगत के कल्याणार्थ । सहजानन्दादि के वर्णन से हम को सम्बन्ध नहीं है और मतविषयक खण्डन मण्डन में व्यक्तिविशेष के आचरणों को बीच में डालना आवश्यक बात भी नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० २७ से–

शङ्कराचार्य ने शैवमत का खण्डन नहीं किया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–शैवमत का ही नहीं किन्तु शाक्त वैष्णवादि को भी उन्होंने परास्त किया था । शङ्करदिग्विजय सर्ग १५ श्लोक ६५ को देखिये–

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै,
रप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम् ।
मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्,
सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति संमानग्रहग्रस्तता ॥

अर्थात् शाक्त पाशुपत क्षपणक कापालिक और वैष्णव तथा अन्य अखिल दुर्वादी खलों से वैदिकधर्म की रक्षा के निमित्त इन उग्रवादियों का शङ्कराचार्य ने विजय किया। किन्तु अपने मान के निमित्त नहीं, क्योंकि उन में मान रूपी ग्रह से ग्रस्त होना सम्भव नहीं॥ इस से यह भी सिद्ध है कि शिवापराधभञ्जनादि स्तोत्र शङ्कराचार्य के नाम से दूसरों ने बनाये वा जैसे आज कल शङ्कराचार्य द्वारिका की गद्दी पर हैं वैसे अन्य अनेक शङ्कराचार्य नामधारी हुवे हों उन में से किन्हीं ने यह कार्य किये हों॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० २९-शङ्कराचार्य को विषयली वस्तु दी गई विषयली वस्तु से क्षुधा मन्द होगई यह कहां का लेख है सब कुछ असत्य है और यदि विचारा जाय तौ यह सब कुछ आपही के ऊपर हुवा है आप को विष दिया गया। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-जब आप स्वीकार करते हैं कि आप (दयानन्द सर०) को विष दिया गया। तौ जिस विरुद्ध मत वाले ने निज मत की पोल खोलने के भय से अन्य कुछ शास्त्रीय बल न चला तब स्वामी जी को विष दिया, उसी के साथी अभिनिवेगित और अभिनिवेश नामक नास्तिकों ने केदारनाथ में स्वामी शङ्कराचार्य को भी शास्त्र में प्रबल पाय छल से विष देकर मारा हो तौ क्या आश्चर्य है॥ (देखो ऐतिहासिकनिरीक्षण भाग २ शङ्कराचार्य का इतिहास प्रकरण)

अभी पं० लेखराम को उन के धर्मशत्रु ने छुरे से मार डाला और अनेक धर्मप्रचारकों की यही दशा हुई है और जब कि सत्यार्थप्रकाश में यह नहीं लिखा कि किसी पौराणिक ने शङ्कराचार्य को विष दिया। किन्तु नास्तिकों ने दिया, लिखा है। तब इस का उत्तर नास्तिक लोग दे लेंगे, आप क्यों सफ़ाई पेश करते हैं। तथा आप के समीप ही स्वामी दयानन्द को विष दिये जाने का आर्यों के कहने के अतिरिक्त क्या प्रमाण है, किन्तु अनेक जनश्रुति भी यदि सम्भव हों तौ मानी जाती हैं, सो ही प्रमाण है॥

द० ति० भा० पृ० २९५ पं० ९ से-

समीक्षा-स्वामी जी की बुद्धि की कहांतक ठीक लगाई जाय पहले लिखा कि युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित रहा अब कहते हैं कि जो शङ्कराचार्य का निजमत था तौ अच्छा नहीं। भलाजी जो वोह सप्रमाण और युक्तियुक्त था तौ निजमत कैसा और अच्छा क्यों नहीं और जब कि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को यह मत स्वीकार किया तौ वोह

तो छल किया और वैदिकमत में हीनता आगई कारण कि सन्मत से तो न जीत सके बनावट से जीता तो यह सिद्ध हुआ कि स्वामी शङ्कराचार्य ने छल से जीता तो वैदिकमत कच्चा प्रतीत होता है फिर शङ्कराचार्य को आप विद्वान् भी बतलाते हैं जब विद्वान् थे तो सत्य शास्त्रानुसार ही जय पाई बनावट नहीं की किन्तु यह बात स्वामी जी ने ही की है कि ईसाई यवनों के शास्त्रार्थ को अर्थ ही बदल दिये तथा जब श्राद्धतर्पण मूर्तिपूजन में यवनादिकों का आग्रह देखा तो इसे छोड़कर वेद में रेलतार बिजुली ही भर दी इस से यह बात दयानन्द जी में ही प्रतीत होती है शङ्कराचार्य ने कुछ बनावट नहीं की फिर आगे इस के स्वामी जी ने अद्वैतवाद लिखा है जो अटकलपच्चू है उत्तर उस का पूर्व लिख चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी के लिखने का यह तात्पर्य है कि नास्तिकों के युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित तथा शङ्कराचार्य के दिये प्रमाणों से नास्तिकों का मत खण्डित रहा। यदि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को अद्वैत मत खड़ा किया तो छल का दोष उस में अवश्य है। इसी लिये स्वामी जी उस को " कुछ अच्छा " लिखते हैं किन्तु " पूर्ण अच्छा " नहीं। कुछ अच्छा इस लिये कि नास्तिकों को के सर्वथा वेदविरोधी मत से अद्वैतमत का एक अंश मात्र वेदविरोध अल्पविरोध है। महान् विरोध से अल्प विरोध अवश्य कुछ अच्छा है। किन्तु सर्वथा अच्छा नहीं। शङ्कराचार्य को विद्वान् इस लिये माना है कि उन्हीं की विद्वत्ता का यह फल है कि नास्तिकों के घोर सङ्ग्राम में उन्हों ने उन्हें परास्त किया। क्या नास्तिकों का परास्त करना ठट्ठा है ? विद्वत्ता नहीं है ? परन्तु किसी विद्वान् से किसी अंश में कोई भूल होजाय तो असम्भव नहीं। पर आप यदि शङ्कराचार्य के अद्वैत मत को सच्चा समझते हैं तो उस पर वादानुवाद करना ठीक होगा। इस से क्या लाभ कि स्वामी जी ने ऐसा क्यों लिखा ? और वैसा क्यों लिखा॥

स्वामी जी ने ईसाई यवनों को जैसे कुछ उत्तर दिये हैं उस की आप क्या कृतज्ञता मानेंगे आप का देश भर, आप की सन्तान, और आप के समुदायस्थ समझदार लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। श्राद्ध को यवन बेचारे क्या कहेंगे जब कि वे स्वयं मृतक निमित्त पाठ दान आदि करते हैं। तथा क़बरों पर रोटी धरते हैं। जब ऐसा है तो स्वामी जी को उन का दबाव ही क्या था जो उन के शास्त्रार्थ में भय से वे श्राद्ध तर्पण का खण्डन करने लगते। यदि उन्हें दबाव में आना होता तो हिन्दुओं ही का दबाव न मानते जिस से आज दिन शङ्कराचार्य के समान शिव का अवतार कहाते।

उन्हों ने किसी के दबाव से नहीं किन्तु सत्य और परमात्मा के दबाव से सब कुछ रेल तार आदि वैदिकविद्या का विकाश कर योरप के विद्याऽभिमानियों को वैदिकसूर्य की किरणें दिखलाईं। अद्वैतवाद का उत्तर देखिये॥

द० ति० भा० पृ० २९७ पं० ५ से-स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ "नेतरोनुपपत्तेः" इत्यादि वेदान्तसूत्रों पर पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि-

अब इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ दिखलाते हैं कि यह सूत्र कौन से प्रकरण के हैं और कौन से स्थल के हैं॥

"आनन्दमयाधिकरण। नेतरोनुपपत्तेः अ० १ पा० १ सू० १६" आनन्दमय के प्रकरण से सुना है कि एक ने बहुत की इच्छा की इच्छा से विश्व सृजा है सो यह काम जीव का नहीं है तिस से जीव आनन्दमय नहीं है अथवा आनन्दमय का मुख्य वर्णन नहीं है क्योंकि ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो ब्रह्म असत् जानता सो असत् ऐसे आगे पीछे के संदर्भ के विरोध से संसारी जीव या प्रधान आनन्दमय नहीं है किन्तु ईश्वर ही है। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति सतपोतप्यत सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चेति, जो कुछ कार्य है सो सब ईश्वर ने देख के रचा है॥ १६॥

प्रत्युत्तर-शारीरक भाष्य का समझना कठिन है, आप यथार्थ और अयथार्थ कुछ भी इस विषय में नहीं समझे और इन सूत्रों पर जो अर्थ आप लिखते हैं वह भी आप का लिखा वा समझा हुआ नहीं है। इस अर्थ की भाषा भी मुरादाबादी भाषा नहीं है और न वैसी हिन्दी भाषा है जैसी कि समस्त तिमिर० ग्रन्थ की भाषा है। स्पष्ट है कि आप ने व्याससूत्रों के ताराचन्द्र क्षत्रियकृत काशी आर्ययन्त्रालय के छपे भाषानुवाद को उठा कर यहां रख दिया है। यदि आप इन सूत्रों को कुछ भी समझते तो स्वामी जी के लिखे अर्थ में दूषण बताते हुवे अपने अर्थ की पुष्टि करते। केवल अधिकरणों के नाम छाप देने से (जो भाषानुवाद से उठा लिये हैं) आप का वेदान्तज्ञ होना और स्वामी जी को अज्ञानी बताना आकाश में थूकने के समान है (जो थूकने वाले ही के मुख पर पड़ता है) यदि आप ने सूत्रों के अक्षरार्थ को समझा होता तो कुछ तो अपनी भाषा में लिखते, न कि "तिस से जीव आनन्दमय नहीं है, ऋक्सामउकृथयजु जे ब्रह्मधर्म है" यह अनोखी भाषा। जिन को यह पोल जाननी हो वे ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अक्षर २ मिला देखें। इस लिये यदि आप अद्वैतवादी हैं तो प्रत्येक सूत्र पर स्वामी जी के

किये अर्थों में दोषारोपण करके अपने पक्ष के दोष हटाइये, तब हम आप का वेदान्तीपना समझेंगे और आप को उत्तर दिये जाने की आवश्यकता होगी। स्वामी जी ने सूत्रों के प्रमाणपूर्वक आप के अद्वैतवाद पर इस प्रकार दोष दिये हैं जिन का परिहार आप एक भी नहीं कर सके:-

१-नेतरोनुपपत्तेः । १ । १ । १६

(अनुपपत्तेः) उपपन्न न होने से (इतरः) ब्रह्म से इतर जीवात्मा (न) जन्मस्थितिप्रलयकारक नहीं, क्योंकि "जन्माद्यस्य यतः" १ । १ । २ सूत्र की अनुवृत्ति है। स्वामी जी ने ग्रन्थ बढ़ने के भय से प्रकरणानुकूल भाषानुवाद मात्र कर दिया है, वे जानते थे कि जो लोग वेदान्त पढ़े हैं वे तो इतने से ही समझ जांयगे और कुपढ़ों को सम्पूर्ण प्रकरण समझाया जावे तो सत्यार्थप्रकाश में ही वेदान्तभाष्य का पोथा बन जायगा। आप बतलाइये कि आप ने ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अधिक एक अक्षर भी कौन सा लिखा है जो स्वामी जी के दिये अद्वैत पक्ष में आरोपित दोष को हटा कर आप का पक्ष सिद्ध करता हो॥ १६॥

द० ति० पृ० २९७ से-

"भेदव्यपदेशाच्च १७। रसो वै रसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति" (अर्थ) जीव ब्रह्म के लाभ से आनन्द होता है यहां प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीव है यह भेद का कहना है अविद्याकल्पित देह कर्त्ता भोक्ता विज्ञानात्मा से ईश्वर अन्य है जैसे खड्गधारी मायावी सूत्र पर चढ़कर आकाश को जाता सा दिखाई देता है और वास्तव में वोह मायावी भूमि पर ही खड़ा है जैसे व्योम घटादि उपाधि से भिन्न अनुपाधि अन्य है तैसे ही जीव ब्रह्म का भेद है। वास्तव नहीं॥

प्रत्युत्तर-२-भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १७

इस सूत्र पर "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" यही विषयवाक्य स्वामी जी ने लिखा है और आप भी ताराचन्द्र की नक़ल करते हुवे यही वाक्य लिखते हैं, न यह बतलाते हैं कि भेद शब्द का परिहार क्या है और न यह कि कल्पित भेद मानने में क्या ज्ञापक है॥ १७॥

फिर-द० ति० भा० पृ० २९७ से-

"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति १९" इस आनन्दमय के प्रकरण में जीव का

योग आनन्दमय ब्रह्म के साथ वेद उपदेश करता है उस से उपचार की इच्छा से भी आनन्दमयवाक्य का अर्थ प्रधान या जीव नहीं है यथा—ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठतां विन्दतेऽथ सोऽभयङ्गतो भवति तदा वै ह्येष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवतीति। अर्थ—तादात्म्य से ईश्वर को देखे सो देखना परमात्मा के ग्रहण से बनता है न जीव या प्रधान के ग्रहण में तिस से आनन्दमय परमात्मा है न कि विज्ञानात्मा। श्रुति—सवाएष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयस्तस्मादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमय इति। अर्थ—यहां पर भी विकारार्थ की परम्परा से आत्मा अर्द्धजरतीय है च हेतु में है जिस से आनन्दमय को आनन्दमय का सम्बन्ध वेद ने उपदेश किया है तिस से उपासना के लिये भी आनन्दमय प्राधान्य नहीं है और आनन्द प्रचुर कहने से दुःख अल्प भी मत समझे अद्वितीय से "श्रुति" रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति॥ १९॥

प्रत्युत्तर—भला इस सूत्र और ताराचन्द्र के भाषानुवाद का यहां क्या प्रयोजन है? स्वामी जी के त्रैत सिद्धान्त से विरुद्ध इस में कौनसा पद है? तथा अद्वैत खण्डन का कौनसा पद है? जब नहीं है तो आप की कुछ इष्टसिद्धि नहीं, सिवाय पुस्तक बड़ा करने के। स्वामी जी ने जो इस सूत्र को अपने पक्ष का पोषक जान कर सत्यार्थप्रकाश में लिखा है और अर्थ किया है कि "ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं" और "तादात्म्य से ईश्वर को देखे" यह आप का अर्थ मूल से किसी प्रकार नहीं निकलता, न ध्वनि से॥ १९॥

द० ति० भा० पृ० २९८ से—

"हिरण्यमयाधिकरण—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् २०" परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिश्यन्त इति सौत्रोनुवादः। छान्दोग्य के प्रथमाध्याय में उद्गीथ उपासनाओं के बीच गौण उपास्यों का उपदेश किया है वोह यह कि सूर्य के बीच में हिरण्यमय पुरुष है और ऋक्साम उक्थ यजुः जे ब्रह्म धर्म है और ब्रह्म सब पापों से मुक्त अद्वितीय ईश्वर कहा है यह अर्थ इन श्रुतियों से लिया है "सैवर्क्तत्साम तदुक्थन्तद्यजुस्तद्ब्रह्मेति उदेति हवैसर्वेभ्यः पाप्मभ्य इति अथ यएषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इत्यादि से (यह) संशय है कि विद्या कर्म की अतिशय से बड़ा होके सूर्यादि प्राप्त उपास्य कहा है या नित्य सिद्ध ईश्वर है फिर रूपी सुनने से संसारी है न कि ईश्वर नीरूप से निरूपका

रूप उपासना के लिये मान लिया है "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इस श्रुति से और ईश्वर अपनी सत्ता से ही निराधार ठहरा है "सभगव कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति" इस वाकोवाक्यरूप श्रुति से निर्विकार अनन्त है "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इस श्रुति से कभी २ विकारों से भी कहा है "सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस" इत्यादि श्रुति से तात्पर्य यह है कि जो बाहर गन्ध रसादि देखते हैं सो सब ईश्वर की सत्ता ही है और न कि मृदुद्रुत कठिनादि वस्तु कुछ ही है तिस से ईश्वर ही सूर्य और नेत्रके बीच उपदिष्ट है "सोसावहम्" वो मैं हूं ॥ २० ॥

प्रत्युत्तर-अन्तस्तद्धर्म० अर्थात् इस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। इस स्वामी जी के अर्थ में आप ने क्या दूषण दिया ? और आप के लिखे हिरण्मयाधिकरण से भी स्वामी जी के सिद्धान्त पर क्या दोष आया और आप के ताराचन्द्री अर्थ में "सैवर्क् तत्साम०" का स्वामीजी के विरुद्ध क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत (बल्कि)—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्

इस आप ही के लिखे वाक्य से परमात्मा का शब्दस्पर्शादि रहित निराकार होना साकार जगत् से उस के भिन्न होने को जताता है इस लिये आप "स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः" का काम करते हैं ॥

स भगव कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति

इस आप के लिखे वाक्य का भी यह अर्थ हुवा कि हे भगवन् ! वह (ब्रह्म) किस में स्थित है ? उत्तर-अपनी महिमा में । भला इस से भी स्वामी जी के किस पक्ष का निराकरण हुवा ? किसी का नहीं। बल्किआप ने ही "निर्विकार अनन्त" लिखा है सो विकारी जगत् से निर्विकार परमात्मा भिन्न हुवा। और—

सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः

का अर्थ यदि यह मानेंगे कि परमात्मा में ही समस्त काम गन्ध और रस हैं। तौ आप ही की पूर्वोद्धृत "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इस उपनिषद् से विरोध आवेगा। इस लिये परमात्मा में सर्वगन्धादि निज के नहीं किन्तु व्यापकता से पृथिव्यादि भिन्न जगत् के गन्धादि गुण उस परमेश्वर से बाहर नहीं किन्तु उसी में है, यह तात्पर्य समझना चाहिये ॥ २० ॥

द० ति० भा० पृ० २९८ से—

"भेदव्यपदेशाच्चान्यः २१" जो सूर्यमें है इससे ईश्वर अन्य है इस भेदसे सूर्य आधार और ईश्वर आधेय जानपड़ता है यह अर्थ इस श्रुतिसे लिया है यआदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोय आदित्योन वेदयस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरोयमयत्येषते आत्मान्तर्याम्यमृत इति। इससे यह सिद्ध हुआ कि हिरण्मय ईश्वरही है न कि देवतादि इसका अर्थ भी स्वामी जीने गड़बड़में लिखा है।

प्रत्युत्तर—आप भी तो "जो सूर्य में है" यह लिखते हैं। जिस से स्पष्ट है कि सूर्य ब्रह्म नहीं किन्तु सूर्य में ब्रह्म है। तब ब्रह्म से सूर्य भिन्न ही हुआ। और

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः

जो आदित्य में स्थित है और आदित्य से भिन्न है॥

यमादित्यो न वेद

जिस को आदित्य नहीं जानता। जड़ होने से कि मुझ में ईश्वर व्यापक है। यह सूर्यादि जड़ लोक नहीं जानते। इस में स्वामी जी ने गड़ बड़ क्या की? किन्तु आप इस का उत्तर क्यों नहीं देते कि इस प्रकार सूर्य ही ब्रह्म है, सूर्य्य से भिन्न नहीं। महात्मा जी! यह नियोग की धमकी नहीं है, ये वेदान्त के ब्रह्मविद्या के सूत्र हैं, ज़रा सम्भल कर बैठिये॥२१॥

द० ति० भा० पृ० २९९—

"मनोमयाधिकरण—अनुपपत्तेस्तु न शारीरः अ० १ पा० २ सू० ३" मनोमय ब्रह्म है और जीवमें सत्यसंकल्पादि गुणोंका असम्भव है तिस्से मनोमयादि धर्मोंसे उपास्य नहीं है यहां कईएक शंका सूत्र देकर पीछे सिद्धान्त सूत्र लिखा है किः—

"अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्ननिचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥७॥ अर्भकं बाल्यं अल्पं वा ओको नीडं हृत्स्थानं निचाय्यत्वादेव हृत्पुण्डरीके द्रष्टव्यः वा उपास्यःव्योमवत् यथा सर्वगतमपिसत् व्योम शूचीपाशाद्यपेक्षया अर्भकौके अणीयश्च व्यपदिश्यते इति एवमेव ब्रह्मापि" धान यवसे भी छोटा कहा है अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वेति आराग्रमात्र इति। ईश्वरही जीव यहां कहा है जैसे सब पृथ्वीका पति अधिपति कहाता है बालकके हृदयसा, और धान जैसे छोटा इत्यादि उपाधियोंके भेदसे ब्रह्म उपासनाके लिये कहा है न कि स्वरूपसे जैसा अनन्त व्योम घटाकाश मठाकाशादिकोंसे छोटा कहा है इसीसे

एषमआत्मान्तर्हृदय इति ॥

प्रत्युत्तर–कई सूत्रों में शङ्का नहीं की है किन्तु इस सूत्र पर हेतु दिये हैं। इन सूत्र का स्वामी जी यह अर्थ करते हैं कि शारीर अर्थात् "शरीरधारी" जीव ब्रह्म नहीं. क्योंकि (अनुपपत्तेः) ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव जीव में नहीं। इसी की पुष्टि में अगला सूत्र हेतु देता है कि–

कर्त्तृकर्मव्यपदेशाच्च १ । २ । ४

जीव परमेश्वर की प्राप्ति का कर्त्ता है और ब्रह्म कर्म है क्योंकि " एत-मितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि " में कहा है कि जीवात्मा कहता है कि इस परमात्मा को यहां से मर कर प्राप्त होऊंगा ।

यह वाक्य आप के उसी ताराचन्द्री भाषानुवाद में भी उपस्थित है देख लीजिये । तब जीव ब्रह्म को प्राप्त करने वाला होने से कर्त्ता और ब्रह्म प्राप्य होने से कर्म है। इस से दोनों भिन्न हैं ॥ तथा–

शब्दविशेषात् १ । २ । ५

अयमन्तरात्मन् पुरुषः । इस वाक्य में आत्मा के भीतर पुरुष परमात्मा कहा है इस शब्दविशेष से और "उस में वह" ऐसा कहने से सप्तमी विभक्ति इस जीव ब्रह्म के भेद को जताती है। यह वाक्य भी आप ही के माने और उद्धृत किये ताराचन्द्री अनुवाद में उपस्थित है । तथा—

स्मृतेश्च १ । २ । ६

इस पर भी ताराचन्द्र ने गीता को स्मृति मान कर शाङ्करभाष्यानुकूल–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति

इस गीतावाक्य के प्रमाण से लिखा है । जिस का यह तात्पर्य है कि उपनिषद्वाक्य ही नहीं किन्तु स्मृतिवाक्य में भी जीवात्माओं के हृदय में परमात्मा का स्थित होना कहा है, जिस से भेद सिद्ध है ॥

यदि आप अपने लेखानुसार इन सूत्रों को लिख देते तो सब भेद खुल जाता कि स्वामी जी ने पूर्वपक्ष का उत्तरपक्ष किया है वा शङ्कराचार्य ने। अब कृपाकरके यह तो बतलाइये कि यदि ये शङ्कासूत्र हैं और " अर्भकौ० " यह सिद्धान्त सूत्र है तो इन पूर्वसूत्रों में प्रतिपादित जीव ब्रह्म की भिन्नता का आप के अभिमत सिद्धान्त सूत्र में उत्तर क्या है ? कुछ भी नहीं । जब इन ४ सूत्रों में कहे हेतुओं का अगले सूत्र में खण्डन नहीं तब इस को सिद्धा-न्तसूत्र और इन पिछलों को शङ्कासूत्र बतलाना भ्रम नहीं तो क्या है ? हम

आप का सिद्धान्तसूत्र और आप का लिखा अर्थ ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। कृपया बतलाइये इस में क्या उत्तर है। प्रत्युत इस सूत्र के दो भाग हैं:—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेत्

यदि पूर्व हेतुओं को बालकों का घरवा होने से व्यपदेश मात्र मानो तो—

न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च

नहीं बनता, क्योंकि ज्ञेय वा प्राप्य होने से। जैसे आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर है, परन्तु भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है, इसी प्रकार परमात्मा केवल हृदयों के भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है। जैसे कि—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतः। यजु० ४० | ४

वह इस सब के भीतर और वही बाहर भी है। जीव हृदय के भीतर ही है, बाहर नहीं। इस लिये जीव ही ब्रह्म नहीं है, किन्तु भिन्न है॥

द० ति० भा० पृ० २९९

"संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ८" सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चेतनरूप से और एकत्व से और शारीर के अभेद से सुख दुःखादि की प्राप्ति सम्यक् हो अन्य संसारी के न होने से "नान्यतोस्ति विसतीति" इससे फिर सोपाधिक मानने से उपाधि धर्म दुःखादि की प्राप्ति न होगी क्योंकि उपाधि बिम्ब में नहीं होती है इस से ब्रह्म में भोग की गन्धि भी नहीं है जीव ब्रह्म का भेद मिथ्याज्ञानसे है और ज्ञानसे अभेद है इससे "अनश्नन्न्योभिचाकशीति" कर्त्ताभोक्ता धर्माधर्म साधन सुखदुःखादि मान एक है और दूसरा अपहतपाप्मादि मान है इस विशेष अर्थात् भेदसे जो सम्बन्ध मात्रही कार्य होता है तो व्योमादिकोभी दाहादि होना चाहिये सर्वगताने-कात्मवादीकोभी उक्त चोद्यपरिहार समान है और जो शास्त्र जीवपरकी एकता कहते हैं ते एकताके द्वारा संयोगकी निवृत्ति भी कहते हैं जैसे "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मीति" इत्यादि जैसे किसी ने व्योमको मलिन कहा तो क्या वोह मलिन हो सक्ता है तिस्से वेदमें जीव उपास्य नहीं कहा किन्तु ब्रह्म हो तैसे मिथ्या ज्ञानसे योग और सम्यक् ज्ञानसे ऐक्यहै यही विशेषहै तिस्से ईश्वरमें भोगगन्धभी नहीं कल्प सक्ते हैं इत्यादि॥ यहां मनोमयादि प्रकरण है जीव ईश्वरभिन्न अधिकरण नहीं है॥

प्रत्युत्तर—पूर्व सूत्र में ब्रह्म को "व्योमवत्" आकाश के तुल्य व्यापक होना लिखा है। उस से यह शङ्का किसी को न हो कि आकाशवत् व्यापक है तो

उस को सम्भोगप्राप्ति हो सकती है ? अर्थात् क्या ब्रह्म को भोग प्राप्त होता है ? "उत्तर-"न वैशेष्यात"नहीं, क्योंकि विशेषता है । और आप ने विशेषता का वाक्य स्वयं लिखा है कि " अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति "

अर्थात् जीव से अन्य ब्रह्म है जो भोगरहित साक्षी मात्र है । इस लिये यह सूत्र भी स्वामी जी के स्वीकृत भेदपक्ष का पोषक है । "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इन वाक्यों का इस (संभोगप्रा०) सूत्र से सम्बन्ध ही नहीं, यह वेदान्त के न समझने वाले वा आग्रही अद्वैतवादियों का ढंग है कि जिस वाक्य में स्पष्ट द्वैत आया और उस का अर्थ खैंचतान से भी अपने पक्ष में न हुआ वहां झट "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" को ले दौड़ते हैं । यदि मनोमयाधिकरण होने से भेद सिद्ध नहीं होता तो अभेद भी सिद्ध न होवे । क्योंकि अभेदप्रकरण भी तो नहीं है । परन्तु इन अधिकरणों का भेद जानना साधारण बात नहीं है कि लिया उठाकर छाप दिया ॥८॥ फिर द०ति०भा०पृ०३००

"गुहाधिकरण-गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ११" कठवल्ली से सुना है कि सुकृत का फल नरदेह है और वही परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है विद्याशनादि के सम्भव से फिर देह में या हृदय में ब्रह्म जीव ठहरे हैं और कर्म फल को पाता है और न कि बुद्धि जीव हैं जड़ और अजड़ के विरोध से जड़ बुद्धि सुकृतपान नहीं कर सक्ती है चेतना क्षेत्रज्ञ कर सक्ता है एक क्षत्री अन्य अक्षत्री इन को देख कह सक्ते हैं कि क्षत्री चलते हैं उपचार से जैसे, तैसे जीव पाता और ईश अपाता दोनों संग से पाता कहे हैं तिस्से जीव ईश हैं, या जीव पीता ईश पिवाता है छाया और आतपकी नाईं जीव हृदयमें प्रत्यक्षमें और ब्रह्म श्रुतिसे दिखाताहै "गुहाहितङ्गह्वरेष्ठं पुराणं यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टमिति" जैसे लोकमें इस गौका दूसरा लाओ यह कहनेसे न घोड़ा न भैंसा लाता है किन्तु गौही लाता है तिसे चेतन जीव ब्रह्म समस्वभाववाले हैं और नकि विषम स्वभाववाले जड़ चेतन बुद्धि जीवहै और समान धर्म होनेसे एक है केवल उपाधिसे पृथक् भासते हैं (ऋतं पिबन्तौ) इस श्रुतिकी व्याख्या पूर्व कर चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-आप ने २ दो सूत्र बिच के जो छोड़ दिये हैं, उन्हें और मिला लीजिये, वे ये हैं—

अत्ता चराचरग्रहणात् १ । २ । ९ ॥ प्रकरणाच्च १ । २ । १०

चराऽचरमात्र का ग्रहण करने से परमात्मा सब का ग्राहक भी है तथा प्रकरण से भी यहां परमात्मा ही का ग्रहण है, मन आदि का नहीं । फिर तीसरा यह सूत्र है, आप ने जिसे अपना पक्षपोषक समझकर लिखा है (गुहां प्रविष्टावात्मानौ) इस में आत्मानौ इस द्विवचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि

दो आत्मा गुहा में प्रविष्ट हैं, एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। यह कहना कि समान धर्म (दोनों चेतन) होने से एक हैं, ठीक नहीं। यदि एक कहने का तात्पर्य चैतन्य साधर्म्यमात्र है तो ठीक है अर्थात् चेतनता में दोनो एक से हैं। जैसे मनुष्य मनुष्य एक इत्यादि परन्तु विशेष से दोनों भिन्न हैं, न कि उपाधि से। क्योंकि जीव एकदेशीय होने से उपाधियुक्त होता है, ब्रह्म तो सर्वदेशीय है उसे कोई उपाधि उपहित नहीं कर सकता। उपाधि घेरे को कहते हैं, ब्रह्म सब से बड़ा होने से घिर नहीं सकता इस लिये "उपाधि से ब्रह्म ही जीव बन गया" यह समझना भ्रम है ॥ ११ ॥

द० ति० भा० पृ० ३०० पं० २० से—

अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्

अन्तर्यामी परमात्मा अधिदेवादिषु पृथिव्यादिषु भवितुमर्हति कुतः तत् तस्य परमात्मनः धर्माणां गुणानां व्यपदेशनात्। भावार्थः। बृहदारण्य के पांचवें अध्याय में याज्ञवल्क्यने उद्दालक से कहा कि पृथिव्यादि में अन्तर्यामी ईश्वर है क्योंकि पृथिवी में रहता है पर उस को पृथिवी नहीं जानती है फिर ज्ञान और अमृतादि गुणों का उसी में संभव है इस से "यइमंच लोकं परंच लोकं सर्वाणि भूतानि योन्तरोयमिति" फिर कहा कि "पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोप्ययं पृथिवीं न वेद यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्यादि ऐसा वाक्यों में न कि अधिदेवादिका अभिमानी देवता या योगी या अपूर्व संज्ञा है किन्तु परमात्मा है अन्तर्यामी अमृतत्वगुण से॥

प्रत्युत्तर—सूत्रार्थ यह है कि (अधिदेवादिषु) पृथिव्यादि देवों में (तद्धर्मव्यपदेशात्) उस परमात्मा के धर्मों का व्यपदेश होने से (अन्तर्यामी) परमात्मा अन्तर्यामी है॥

इतने से स्वामी जी के पक्ष भेदवाद का खण्डन कुछ भी नहीं होता प्रत्युत आप ही के उद्धृत किये हुवे उपनिषद्वाक्यों से उस का पृथिव्यादि देवों से भिन्न पृथिव्यादि का अन्तर्यामी होना पाया जाता है। यथा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद। इत्यादि

अर्थात् जो परमात्मा पृथिवी में ठहरा है, पृथिवी के भीतर भी है, जिसे पृथिवी नहीं जानती । इत्यादि ॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० १ से–

शारीरश्चोभयेपिहिभेदेनैनमधीयते २०

कराव और माध्यन्दिन जे दोनों जीव से अलग ईश्वरको पढ़ते हैं तिस से जीव भी अन्तर्यामी नहीं है और न प्रधान है किन्तु अन्तर्यामी ईश्वर है काग्वः " यो विज्ञाने तिष्ठन् " इति माध्यन्दिनः " यआत्मनि तिष्ठन्नात्मा नमन्तरो भवति" अणु से अणु और महान् से महान् पृथिवी व्योमादि सब वस्तु में अन्तर्यामी को कहने से परमात्मा ही सर्वव्यापक है अन्तर्यामी और विज्ञानमय शारीर है इत्यादि सब कुछ ब्रह्म ही है यह अधिकरण ब्रह्म ही को कहते हैं जाते हैं जीव अज्ञानतक है जब यथार्थ अनुभव हुआ तौ सब कुछ वो ही है अब आगे का सूत्र भूतयोनि प्रकरण का है ॥

प्रत्युत्तर–इस सूत्र में भी इस से पूर्वले सूत्र (न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् । २ । १९) में से " न " की अनुवृत्ति है । और अर्थ यह है कि (शारीरश्च न) शरीरधारी जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है । क्योंकि (उभयेऽपिहि) दोनों काराव और माध्यन्दिन शाखा वाले आचार्य (एनम्) इस जीवात्मा को (भेदेन) ब्रह्म से भिन्न भाव से (अधीयते) पढ़ते हैं॥

इस में भी भेद ही सिद्ध हुआ, अभेद नहीं । आप ने भी अपने अर्थ में उपनिषद्वाक्य लिखा है कि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, इत्यादि

जो जीवात्मा के भीतर रहता और उस का अन्तर्यामी है ॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० ९ में सूत्र है कि–

अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः ॥ २ । २१ ॥

प्रत्युत्तर–यह सूत्र भी अद्वैतवाद को नहीं कहता । इस का सरलार्थ यह है कि–परमात्मा अदृश्यत्व आदि गुणवाला है क्योंकि अदृश्यत्वादि धर्म उपनिषद् में कहे हैं जैसा कि आप के ही शाङ्करभाष्य में उपनिषद् का वाक्य उद्धृत है कि:–

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

अर्थात् वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, वर्णरहित, आंख कान हाथ

पांव से रहित है इत्यादि । वही प्राणिमात्र का स्रष्टा है । बस इस से भी किसी प्रकार स्वामी जी के पक्ष पर कोई दूषण नहीं आता ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मा-
देतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते इति ॥

इस का न आप ने पता दिया, न अर्थ लिखा, न यह लिखा है कि इस से हमारे पक्ष की यह सिद्धि और विपक्ष की यह हानि है । पाठकों के अवलोकनार्थ हम इस का अर्थ लिखते हैं—

"जो सर्वज्ञ और सब कुछ प्राप्त किये हुवे हैं, जिस का ज्ञान ही तप है, वह ब्रह्म है । उस के तप अर्थात् ज्ञान वा सङ्कल्प से नाम रूप और अन्न उत्पन्न हो जाता है अर्थात् जब वह चाहता है, तब ही नाम रूप और अन्न को उत्पन्न कर लेता है" ॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० १७ से—

"विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांनेतरौ २२

इतश्चपरेशएव भूतयोनिर्नशारीरः प्रधानं चेति

जीव भूतोंका कारण नहीं हो सक्ता है क्योंकि अमूर्तपुरुष बाहरभीतर इत्यादि विशेषणोंसे व्यापकब्रह्मही कहा है नकि परिच्छिन्न जीव इससे "दिव्यो-ह्यमूर्तयः" इत्यादि और प्रधान भी भूतों का कारण नहीं हो सकताहै क्योंकि प्रधान से भूतों का कारण अलग कहाहै, इससे "अक्षरात्परतः पर इति अक्षरं अव्याकृतंनामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयंतस्यैवोपाधिभूतंसर्वस्मात् विकारात्परो य अविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमिह विवक्षितन्दर्शयतीति"

प्रत्युत्तर—भला इस से आप का पक्ष क्या सिद्ध हुवा ? जब कि आप ही लिखते हैं कि—जीवात्मा परिच्छिन्न एकदेशीय होने से जगत्कर्त्ता नहीं हो सकता और प्रधान वा प्रकृति भी जगत्कर्त्ता नहीं है । क्योंकि—

दिव्योह्यमूर्तःपुरुषस्सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि ॥

परमात्मा के ही ये विशेषण हो सकते हैं कि दिव्य है, मूर्त्तिरहित है, पुरुष है, बाहर भीतर व्यापक है, अजन्मा है, प्राणादि वा मन आदि से रहित है ॥ और प्रकृति इस लिये स्वयं जगत् नहीं रच सकती कि—

अक्षरात् परतः परः

आत्मा अविनाशी प्रधान प्रकृति से भी पर अर्थात् सूक्ष्म है। ये वाक्य आप ने ही अपने अर्थ में उद्धृत किये हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० २५ में-रूपोपन्यासाच्च इत्यादि सूत्र से अद्वैत वाद सिद्ध किया है॥

प्रत्युत्तर-आप के ही उद्धृत उपनिषदादि वाक्यों की सङ्गति और व्याससूत्रों की पूर्वाऽपर सङ्गतिसहित इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है-

रूपोपन्यासाच्च। २। २३॥

अर्थात् परमात्मा की व्यापकता में ही रूपों का उपन्यास वर्णन किया गया है, न कि जीव वा प्रकृति में। इस लिये पूर्व सूत्र में कहा (नेतरौ) ठीक है कि जीव वा प्रकृति जगत् के कर्त्ता नहीं हैं। रूप वाले पदार्थों को इस प्रकार परमात्मा में उपन्यस्त किया है कि-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा इति॥

अर्थात् परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है क्योंकि अग्नि उस के मूर्धा (मस्तक) के तुल्य है, चन्द्र सूर्य आंखों के, दिशायें कान, वाणी वेद, वायु प्राण, हृदय जगत् और पृथिवी पांव के तुल्य है। इस प्रकार परमात्मा में ही इन सब अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि नामरूप वाले पदार्थों का उपन्यास कहा है, जीव वा प्रकृति में नहीं। इस से भी भेद सिद्ध है क्योंकि जिस प्रकार आंख, कान, हाथ, पांव, प्राण आदि से जीवात्मा भिन्न है, इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि से इन का अन्तरात्मा भिन्न है॥

---*---

वाममार्गप्रकरणम्

पं० ज्वालाप्रसाद जी महाराज! आप के भाई बलदेवप्रसाद जी तो तन्त्रशास्त्र के आचार्य हैं, फिर आप ने क्या तन्त्र नहीं पढ़े? जो तन्त्रविषयक सत्यार्थप्रकाशस्थ निम्नलिखित वाक्यों का कुछ भी समाधान न किया-

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥

कालीतन्त्रादि में

प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

कुलार्णवतन्त्र

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

महानिर्वाणतन्त्र

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।

ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ॥
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता ।

रुद्रयामल तन्त्र

आप को तौ चाहिये था कि इन महानिन्दित सम्प्रदायी कार्यों का भी पक्ष लेकर पुष्टि करते । वा इन श्लोकों के अर्थ फेरते वा अमान्य बताते ॥

कालिदासप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०२ पं० ११ से–

समीक्षा–यही तौ दयानन्द जी ने निधड़क ही लेखनी चलाई है भला कौनसी पुस्तक इतिहास भोजप्रबन्धादि में यह लिखा है कि कालीदास गडरिया था और स्वामी जी नेशत्रुता से कालिदास को गडरिया बताया है क्यों कि इन महाकवि के ग्रन्थों को "जिस का नाम इग्लेंडीय मान्यपुरुष भी गौरव के साथ लेते हैं" पढ़ने का निषेध किया है और भोजप्रबन्ध में कहीं भी कालिदास को गडरिया नहीं लिखा है किन्तु राजा की सभा में नवरत्नों में यह भी था और स्वामी जी तौ जाति कर्म से मानते हैं तौ उन के मतानु-

सार पण्डित होने से वह गडरिया नहीं रहा और जो पण्डित हो कर भी गडरिया जाति रही तो स्वामी जी के ही ग्रन्थों से स्वामी जी का खण्डन हो गया

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने कालिदास को गडरिया कहीं नहीं लिखा, आप के हृदय में संस्कार होगा, आप ने कहीं अन्यत्र सुना होगा। स्वामी जी ने तो भोज विक्रम कालिदासादि की अपने समय में कुछ प्रशंसा की है कि इन के समय में संस्कृत का प्रचार हुआ। उन के काव्यों का पढ़ना इस लिये वर्जित किया है कि अनार्ष ग्रन्थों के पाठ से आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और पाठ में बाधा पड़ती है। तथा काव्य प्रायः कामासक्ति के उद्बोधक होते हैं। और यदि वह गडरिया हो कर भी भोज की सभा के नवरत्नों में था तो स्वामी जी का गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण मानना दूषित नहीं हुवा प्रत्युत भोज भी जन्म से निकृष्ट जाति तक को उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त पाय उस की प्रतिष्ठा करता था और अपनी सभा के विद्वान् पुरुषों में लेलेता था, जिस से सब कोई विद्वान् होने का प्रयत्न करता था। आज कल के समान निरक्षर पुरोहितों की लीक बन्धी न थी और न हरिद्वार प्रयाग गया के पण्डे आदि के समान निरक्षरों को लक्षों रुपयों का दान मिलता था, और न आज कल के काशी के पण्डितों के सा आत्यभिमान था कि एक धाराप्रवाह संस्कृत भाषण करने वाले प्रतिष्ठित रईस सदाचारी कायस्थ को केवल कायस्थ कुल में जन्म लेने मात्र से वेदपाठ सभा में बैठने तक का अनधिकारी समझा॥

रुद्राक्षप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०३ पं० १ से—रुद्राक्षधारण को शैवों का ऐसा ही चिह्न बताया है, जैसा संन्यासी लोगों का वेष पृथक् होता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—यदि ऐसा है तो केवल शैवों के लिये विधान होता। परन्तु उस में तो रुद्राक्षहीन पुरुषों को धिक्कार (लानत) लिखी है। फिर वैष्णवादि सब अन्य संप्रदायियों को गाली ही क्यों न हुई?

द० ति० भा० पृ० ३०३ पं० १९ से—

समीक्षा—राजा भोज के बनाये संजीवक ग्रन्थ का पता और उन मनुष्यों का वृत्तान्त कहांतक लिखें हम ने कई रजिस्टरी चिट्ठी भिण्डस्थान को ब्राह्मणों के पास भेजी थीं जिस में ऊपर लिखा व्यौरा स्पष्ट लिख दिया था उस में से दो स्थानों से उत्तर आया है कि यह सब बात मिथ्या है यहां कोई ऐसी पुस्तक

हमारे पास नहीं जिस में ऐसी बातें लिखी हों इस कारण स्वामी जी का कहना और चौबेजी के कहना दोनों अप्रमाण हैं भोज के समय जितने ग्रन्थ बने हैं वह अद्यावधि उन्हीं के नाम से विख्यात हैं जो उन के कर्त्ता हैं सहस्त्रों श्लोकों को व्यासजी के नाम से रचने से उन्हें क्या लाभ था पहले स्वयं दयानन्द जी कहते थे व्यास जी ने २४,००० सहस्त्र श्लोक का महाभारत बनाया अब चार सहस्त्र ही का वर्णन किया है फिर व्यासजी ने प्रतिज्ञा की है कि मैं इस ग्रन्थ में ८८०० कूट श्लोक कहूंगा " अष्टौ श्लोकसहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि चेति " जिन्हे मैं और शुकदेव जानता हूं संजय अर्थ कर सक्ता है या नहीं जिस के अर्थ में क्षणमात्र गणेशजी विचार करते थे इस अवसर में व्यासजी बहुत श्लोक बना लेते थे वैशम्पायन ने इस की प्रशंसा की है जो इस में है वह अन्यस्थान में मिलसक्ता है जो इस में नहीं है वह और कहीं नहीं मिलेगा। यह ग्रन्थ लक्षश्लोक से पूर्ण है स्वर्गारोहणपर्व के अन्त में लेख है कि इस के पाठ से अष्टादश पुराण को श्रवण का फल होता है तथा अनुक्रमणिका में प्रत्येक पर्व का वृत्तान्त और उस के अध्याय श्लोकों की संख्या लिखी है चार सहस्त्र में तो इस का युद्ध भी नहीं समा सक्ता और इस के बिना इतिहास कहां से आवेंगे क्या सत्यार्थप्रकाश में से निकलेंगे और देखिये प्रत्येक पुराणों में अष्टादश पुराणों का वर्णन है और उस के श्लोकों की संख्या है इससे स्पष्ट विदित है कि यह सब एक समय के बने हैं राजा भोज के समय पुराण बना किसी प्रकार से सम्भव नहीं ॥

प्रत्युत्तर—क्या आप ने लखुना के रावसाहब वा रामदयालु जी का कोई पत्र पाया है ? यदि नहीं पाया तो वृथा एक स्वर्गवासी महात्मा को मिथ्यावादी लिखना ठीक नहीं । महाभारत में स्वयं आदिपर्व में २४००० सहस्त्र श्लोक होना लिखा है । वह भी साध्य है । तथा नीचे लिखे आदिपर्व अध्याय २ के भारत सूचीपत्र रूप श्लोकों को पढ़ने और तदनुसारी नीचे के (नक़शे) चक्र को देखने से ज्ञात होगा कि भोज के समय से अब तक भी बराबर लोग श्लोक बना कर मिलाते रहे और कितने ही श्लोक घटा भी दिये । जैसा कि—

१—आदि पर्व—

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥ १३१ ॥

२-सभा पर्व

अध्यायास्सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ॥ १४२॥

३-वन पर्व

अत्राध्यायशते द्वे तु संख्याया: परिकीर्त्तिते ॥२०४॥
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्याया: प्रकीर्त्तिता: ॥

४-विराट् पर्व

अत्रापि परिसंख्याता अध्याया: परमर्षिणा ।
सप्तषष्टिरथोपूर्णा: श्लोकानामपि मे शृणु ॥ २१६ ॥

५-उद्योग पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥ २४२ ॥

६-भीष्म पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशाऽपरे ॥ २५२॥

७-द्रोण पर्व

अत्राध्यायशतं प्रोक्तन्तथाध्यायाश्च सप्तति: ॥ २६७ ॥

८-कर्ण पर्व

एकोनसप्तति: प्रोक्ता अध्याया: कर्णपर्वणि ॥ २७६॥

९-शल्य पर्व

एकोनषष्टिरध्याया: पर्वण्यत्र प्रकीर्त्तिता: ॥ २८७ ॥

१०-सौप्तिक पर्व

अष्टादशास्मिन्नध्याया: पर्वण्युक्तामहात्मना ॥३०८॥

११-स्त्रीपर्व

सप्तविंशतिरध्याया: पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्त्तिता: ॥ ३२१ ॥

१२-शान्ति पर्व

अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥ ३२७ ॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधना: ॥

१३-अनुशासन पर्व

अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥ ३३५ ॥

१४ अश्वमेध पर्व–

अध्यायानां शतं चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्त्तिताः ॥ ३४१ ॥

१५ आश्रमवासि पर्व—

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ॥ ३५० ॥

१६ मौसल पर्व–

अष्टाध्यायाः समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६१॥

१७ महाप्रस्थान पर्व–

अत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६७॥

१८ स्वर्गारोहण पर्व–

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ॥३७७॥

नाम पर्व	किस श्लोकानुसार	कितने अध्याय होने चाहियें	कलकत्ते की पुस्तक में कितने हैं		
१ आदि पर्व	१३१	२२७	२३६	९	बढ़े
२ सभा	१४२	७८	८१	३	,,
३ वन	२०४	२६९	३१४	४५	,,
४ विराट्	२१६	६७	७२	५	,,
५ उद्योग	२४२	१८६	१९७	११	,,
६ भीष्म	२५२	११७	१२४	७	,,
७ द्रोण	२६७	१७०	२०४	३४	,,
८ कर्ण	२७६	६९	९६	२१	,,
९ शल्य	२८७	५९	६५	६	,,
१० सौप्तिक	३०८	१८	१८		
११ स्त्री	३२१	२७	२७		
१२ शान्ति	३२७	३३९	३६५	२६	बढ़े
१३ अनुशासन	३३५	१४६	१६८	२२	,,
१४ अश्वमेध	३४१	१०३	९२	११	घटे
१५ आश्रमवासी	३५०	४२	३९	३	,,
१६ मौसल	३६१	८	८		
१७ महाप्रास्थानिक	३६७	३	२	१	घटा
१८ स्वर्गारोहण	३७७	५	६	१	बढ़ा

देखिये वर्तमान प्रतापचन्द्र राय के छपाये कलकत्ते के महाभारत में ही १९७ अध्याय भारतलिखित सूचीपत्र से अधिक हैं और १५ अध्याय न्यून हैं। तब न जाने क्या २ मिलाया गया और क्या २ उत्तम विषय निकाल दिया गया और मुम्बई के छापे में तो और भी अधिक श्लोक हैं और सूचीपत्र बननेसे पहले जाने कितने मिलाये और कितने घटाये गयेहैं क्योंकि सूचीपत्र भी स्वयं व्यास जी ने नहीं बनाया, प्रत्युत सूतजीके पश्चात् बनाहै॥

द० ति० भा० पृ० ३०४ पं० ९ से पृ० ३०५ पं० ५ तक यह आशय है कि १-जैनियों से पौराणिकों ने मूर्त्तिपूजा नहीं ली किन्तु पौराणिकोंसे जैनीलोगों ने ली २-मुसलमानोंके दीबायचे देखकर स्वामीजी ने वेदभाष्यभूमिका रची। ३-तर्कसङ्ग्रह देख कर सत्यार्थप्रकाश में सूत्रावली बनाई ४-देवीभागवतादि में जो भिन्न २ देवतों से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी है सो सब देवता भिन्न २ नहीं किन्तु परमेश्वर ही के नाम हैं॥

प्रत्युत्तर-१—जैनियों से पुराणों ने अवतार न लिये होते तो १० मुख्य अवतारों में बौद्ध जैनों के अवतार बुद्ध देव को नवां अवतार क्यों माना जाता॥ २-क्या सायणाचार्य्य ने भी ऋग्वेदभाष्य का उपोद्घात (दीबायचा) मुसलमानों से लिया था? ३-तर्कसङ्ग्रह के समान सत्यार्थप्रकाश में कहीं कोई सूत्रावलि संस्कृत में स्वामी जी की बनाई नहीं है॥ ४-देवीभागवतादि सब पुराणों में अविरोधभाव से एक ही परमेश्वरके अनेक नामोंकी व्याख्या होती तो लिङ्गपुराण छपा लखनौ सन् १८९७ अध्याय ९६ में शिव जी ने शरभ पक्षी का रूप धारण करके नृसिंह जी को मार डालना क्यों लिखा है? नृसिंह जी तो पुराणानुसार अवतार थे। और शिव भी, जैसा कि-

श्री भगवानुवाच-

अकाले भयमुत्पन्नं देवानामपि भैरव। ज्वलितः स नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम्॥१२॥ सान्त्वयन् बोधयादौ तं तेन किं नोपशाम्यति। ततो मत्परमं भावं भैरवं सम्प्रदर्शय॥१३॥ सूक्ष्मं सूक्ष्मेन संहृत्य स्थूलं स्थूलेन तेजसा। वक्त्रमानय कृत्तं च वीरभद्र! ममाज्ञया॥१४॥ इत्यादिष्टो गणाध्यक्षः प्रशान्तवपुरास्थितः। जगाम रंहसा

तत्र यत्रास्ते नरकेशरी ॥१५॥ ततस्तं बोधयामास वीरभद्रो हरी हरिम्। उवाच वाक्यमीशानः पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६॥

महादेव जी बोले कि-

हे वीरभद्र ! इस समय देवताओं को बड़ा भय हो रहा है इस कारण उस नृसिंह रूप अग्नि को शीघ्र ही जाय शान्त करो । पहले तो मीठे वचनों से उन को समझाओ जो न शान्त हों तो भैरव रूप दिखाओ । सूक्ष्म को सूक्ष्म और स्थूल को स्थूल तेज से संहार कर "हमारी आज्ञा से नृसिंह का * मुख और चर्म हमारे लिये लाओ"। यह शिव जी की आज्ञा पाय शान्ति से वीरभद्र जी नृसिंह के समीप गये और उन को अपने औरस पुत्र की भांति समझाने लगे किः-

वीरभद्र उवाच-

जगत्सुखाय भगवन्नवतीर्णोसि माधव । स्थित्यर्थं च नियुक्तोसि परेण परमेष्ठिना ॥१७॥ बिभर्षि कूर्मरूपेण वाराहेणोद्धृता मही। अनेन हरिरूपेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१९॥ अत्यन्तघोरं भगवन् नरसिंहवपुस्तव । उपसंहर विश्वात्मंस्त्वमेव मम सन्निधौ ॥ २४ ॥

हे नृसिंह जी ! आप ने जगत् के सुख के लिये अवतार लिया है और परमेश्वर ने भी जगत् की रक्षा का ही अधिकार आप को दे रक्खा है ॥१७॥ मत्स्य रूप धर के आप ने इस जगत् की रक्षा की, कूर्म और बाराह रूप से पृथिवी को धारण किया, इस नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु का संहार किया, वामन रूप धर राजा बलि को बांधा । अब तुम हमारे कहने से इस अति घोर रूप का संहार करो जगत् को बहुत त्रास हो रहा है ॥ २४ ॥

सूत उवाच-

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा ।
ततोऽधिकं महाघोरं कोपं प्राज्वालयद्धरिः ॥२५॥

सूत जी बोले-

हे मुनीश्वरो ! इस भांति वीरभद्र जी ने बहुत शान्त वचनों से नृसिंह जी

* आप लोग कहते हैं कि शिव विष्णु एक हैं, परन्तु शिव-नृसिंह का शिर कटवाता और खाल खिंचवाता है ॥

को समझाया परन्तु वे न माने और इन के वचन सुन बड़ा क्रोध कर बोले कि-२५

नृसिंह उवाच-

आगतोऽसि यतस्तत्र गच्छ त्वं मा हितं वद । इदानीं संहरिष्यामि जगदेतच्चराचरम् ॥ २६ ॥ मन्नाभिपङ्कजाज्जातः पुरा ब्रह्मा चतुर्मुखः । तल्ललाटसमुत्पन्नो भगवान् वृषभध्वजः ॥३१॥ कालोऽस्म्यहं कालविनाशहेतुर्लोकान्समाहर्त्तुमहं प्रवृत्तः । मृत्योर्मृत्युं विद्धि मां वीरभद्र जीवन्त्येते मत्प्रसादेन देवाः ॥ ३५ ॥

वीरभद्र ! जहां से तू आया है वहां ही चला जा । इस चराचर जगत् का अभी मैं संहार करता हूं ॥२६॥ चतुर्मुख * ब्रह्मा मेरे नाभिकमल से उत्पन्न हुआ और ब्रह्मा के ललाट से शिव की उत्पत्ति हुई है ॥ इस जगत् का नाश करने के अर्थ मुझे साक्षात् काल ही जान, मृत्यु का भी मृत्यु मैं हूं, हे वीरभद्र ! सब देवता मेरी कृपा से जीते हैं ॥ ३५ ॥

सूत उवाच-

साहंकारमिदं श्रुत्वा हरेरमितविक्रमः ।
विहस्योवाच सावज्ञं ततो विस्फुरिताधरः ॥ ३६ ॥

सूत जी बोले कि हे मुनिश्वरो ! यह नृसिंह जी का अभिमान युक्त वचन सुन कुछ कोप कर हंस के वीरभद्र कहने लगे—

वीरभद्र उवाच-

किं न जानासि विश्वेशं संहर्त्तारं पिनाकिनम् । असद्वादो विवादश्च विनाशस्त्वयि केवलः ॥ ३७ ॥ तवान्योन्याऽवताराणि कानि शेषाणि साम्प्रतम् । कृतानि येन केनापि कथा शेषो भविष्यति ॥ ३८ ॥ दोषं त्वं पश्य एतत् त्वमवस्थामीदृशीं गतः । तेन संहारदक्षेण क्षणात्संक्षय-

* धन्य है पुराणों को, कहीं ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति किसीप्रकार, कहीं किसी प्रकार ॥

मेष्यसि ॥ ३९ ॥ प्रकृतिस्त्वं पुमान्रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहितम् । त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः ॥४०॥ न त्वं स्रष्टा न संहर्त्ता न स्वतन्त्रो हि कुत्रचित् । कुलालचक्रवच्छक्त्या प्रेरितोसि पिनाकिना ॥ ४५ ॥ अद्यापि तव निक्षिप्तं कपालं कूर्मरूपिणः । हरहारलतामध्ये मुग्ध ! कस्मान्न बुध्यसे ॥ ४६ ॥ विस्मृतं किं तदंशेन दंष्ट्रोत्पातेन पीडितः । वाराहविग्रहस्तेद्य साक्रोशं तारकारिणा ॥ ४७ ॥ दग्धोसि यस्य शूलाग्रे विष्वक्सेनच्छलाद्भवान् । दक्षयज्ञे शिरश्छिन्नं मया ते यज्ञरूपिणः ॥ ४८ ॥ निर्जितस्त्वं दधीचेन सङ्ग्रामे समरुद्गणः । कण्डूयमाने शिरसि कथं तद्विस्मृतं त्वया ॥ ५० ॥ चक्रं विक्रमतो यस्य चक्रपाणे तव प्रियम् । कुतः प्राप्तं कृतं केन त्वया तदपि विस्मृतम् ॥५१॥ ते मया सकला लोका गृहीतास्त्वं पयोनिधौ । निद्रापरवशः शेते स कथं सात्विको भवान् ॥ ५२॥ शास्ताऽशेषस्य जगतो न त्वं नैव चतुर्मुखः । इत्थं सर्वं समालोक्य संहरात्मानमात्मना ॥ ५८ ॥ नो चेदिदानीं क्रोधस्य महाभैरवरूपिणः । वज्राशनिरिव स्थाणोस्त्वैवं मृत्युः पतिष्यति ॥ ५९ ॥

वीरभद्र बोले कि–

हे नृसिंह ! जगत् के संहार करने हारे श्री शिव जी को क्या तुम नहीं जानते, यह तुम्हारा "अस्त व्यस्त बोलना केवल तुम्हारे नाश का हेतु है" पहिले जो २ अवतार तुम ने लिये वे अब कहां हैं । इस लिये तुम भी कथा शेष हो जाओगे अर्थात् न रहोगे । इस क्रूरता के कारण बहुत शीघ्र तुम्हारा संहार किया जावेगा । तुम प्रकृति हो और शिवजी पुरुष हैं उन्हों ने तुम में वीर्य का निषेक किया तब तुम्हारे नाभिकमल से पञ्चमुख * ब्रह्मा उत्पन्न हुए । हे नृसिंह जी ! जो शिव को तुम अपना पौत्र समझते हो तो न तो तुम

* धन्य ! ब्रह्मा के चार मुख से ५ मुख भी वर्णन कर दिये ॥

संहार करने हारे न पालन करने हारे हो "केवल अज्ञान से" अपने स्वरूप को भूल रहे हो, कुम्हार के चाक की भांति शिव जी की शक्ति से घूमते फिरते हो। हे मूढ! "तेरे कूर्म अवतार का कपाल अब तक शिवजी ने" हार में पिरो रक्खा है और बाराह अवतार की डाढ़ रुद्र ने उखाड़ी और तुझे अति पीड़ा दी, तेरे विष्वक्सेन रूप को शिवजी ने अपने त्रिशूल के अग्र से दग्ध किया। दक्ष के यज्ञ में तेरे यज्ञरूप का शिर मैंने काटा। तेरे पुत्र ब्रह्मा का पांचवां मस्तक अब तक कटा ही पड़ा है, शिवभक्त दधीचि ने तेरा पराजय किया" परन्तु ये सब बातें भूल गया और फिर "तेरे शिर में खुजली चली"। यह सुदर्शनचक्र जिस के बल से तू पराक्रमी हो रहा है, कहां से पाया और किस ने बनाया यह भी भूल गया। प्रलय के समय सब लोकों का संहार मैंने किया तू तो निद्रावश हो समुद्र में जा सोया इसी से जान ले कि जैसा तू सात्विक है॥ न तू शास्ता है और न ब्रह्मा, यह सब मन में विचार कर इस क्रूर रूप का संहार कर, नहीं तो महाभैरवरूप शिव के क्रोध का वज्र अब तेरे मस्तक पर गिरेगा॥

सूत उवाच—

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः क्रोधविह्वलः। ननाद तनुवेगेन तं गृहीतुं प्रचक्रमे॥ ६०॥ अत्रान्तरे महाघोरं विपक्षभयकारणम्। गगनव्यापि दुर्धर्षं शैवतेजःसमुद्भवम्॥६१॥ सहस्रबाहुर्जटिलश्चन्द्रार्धकृतशेखरः। समृगार्धशरीरेण पक्षाभ्यां चञ्चुना द्विजाः॥ ६६॥ स्पष्टदंष्ट्रोऽधरोष्ठश्च हुङ्कारेण युतोहरः। हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः॥ ६९॥ बिभ्रद्दौर्म्यसहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम्। अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादेभ्युदारयन्॥ ७०॥ पादावाबध्य पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम्। भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम्॥ ७१॥ ततो जगाम गगनं देवैः सह महर्षिभिः। सहसैव भयाद्विष्णुं विहगश्च यथोरगम्॥७२॥ उत्क्षिप्योत्क्षिप्य

संगृह्य निपात्य च निपात्य च । उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षाघातविमोहितम् ॥ ७३ ॥ नीयमानः परवशो दीनवक्त्रः कृताञ्जलिः । तुष्टाव परमेशानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥ ७५ ॥

नृसिंह उवाच–

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रासाय विष्णवे । नम उग्राय भीमाय नमः क्रोधाय मन्यवे ॥ ७६ ॥

सूत उवाच–

नाम्नामष्टशतेनैवं स्तुत्वामृतमयेन तु । पुनस्तु प्रार्थयामास नृसिंहः शरभेश्वरम् ॥ ९५ ॥ यदा यदा ममाज्ञानमत्यहङ्कारदूषितम् । तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥९६॥ एवं विज्ञापयन् प्रीतिं शङ्करं नरकेशरी । नन्वशक्तोभवान् विष्णो जीवितान्तं पराजितः ॥ ९७ ॥ तद्वक्त्रशेषमात्रान्तं कृत्वा सर्वस्य विग्रहम् । शुक्तिशित्यं तदा भङ्गं वीरभद्रः क्षणात्ततः ॥ ९८ ॥

देवा ऊचुः–

अथ ब्रह्मादयः सर्वे वीरभद्र त्वया दृशा । जीविताः स्मोवयं देवाः पर्जन्येनेव पादपाः ॥ ९९ ॥ एतावदुक्त्वा भगवान् वीरभद्रो महाबलः । पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ११४ ॥ नृसिंहकृत्तिवसनस्तदा प्रभृति शङ्करः । वक्त्रं तन्मुण्डमालायां नायकत्वेन कल्पितम् ॥ ११५ ॥

इति श्री लिङ्गपुराणान्तर्गते षण्णवतितमेऽध्याये नृसिंहवधाख्यं प्रकरणं समाप्तम्

सूतजी बोले कि-

हे मुनीश्वरो ! इतना सुनते ही नृसिंह जी क्रोध की अग्नि से जल उठे और बड़ा घोर शब्द करके वीरभद्र जी को पकड़ना चाहा । इसी अवसर में महाघोर शत्रुओं को भय देने हारा शिवतेज से उत्पन्न अतिदुर्धर्ष आकाश तक व्याप्त बड़ा भयङ्कर रूप वीरभद्र का हो गया । सहस्र भुजा धारे और मस्तक पर चन्द्र से शोभित था । जिस रूप का आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का । बड़े २ पङ्ख, तीखी चोंच, वज्र के तुल्य नख, बड़ी २ और अतितीक्ष्ण डाढ, नीलकण्ठ, चार पाद, प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान देह, अतिकुपित और बड़े क्रूर तीन नेत्र और प्रलय के मेघों के समान जिस का गम्भीर शब्द था । उस अति दारुण हुङ्कार शब्द को करते हुवे रुद्ररूप को देखते ही नृसिंह जी का सब बल, पराक्रम नष्ट हो गया और जैसे सूर्य के आगे खद्योत हो जाय, ऐसे निस्तेज हो गये । शरभरूप शिव भी अपने पुच्छ से नृसिंह के पांव लपेट हाथों से हाथ पकड़ छाती में चोंच के प्रहार देते हुवे जैसे सर्प को गरुड़ ले उड़े, ऐसे ही भयभीत नृसिंह जी को अपने पक्षों के घात से मोहित कर आकाश को ले उड़े और आकाशमें जाय फिर नृसिंह जी को भूमि पर गिराया और फिर उठाया । इस भांति बहुत वार उठाय २ पटका और जब नृसिंह जी बहुत व्याकुल हो गये, तब लेकर उड़ चले । सब देवता स्तुति करते हुवे उन के पीछे चले । नृसिंह जी परवश और दीनमुख हुवे २ आकाश में अपने को उठाये ले जाते शिव जी को देख हाथ जोड़ स्तुति करने लगे । सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! एक सौ आठ नामों से परमेश्वर की स्तुति कर नृसिंह जी शुद्ध अन्तःकरण से प्रार्थना करने लगे कि महाराज ! जब २ मुझे अहङ्कार से अज्ञान हो तब २ आप शासन करें । वीरभद्र भगवान् उन की प्रार्थना सुन प्रसन्न भये और कहा कि हे विष्णो ! अब तू अशक्त हुवा और तेरा प्राणों तक पराजय हुवा । इतना कह नृसिंह जी का चर्म वीरभद्र जी ने उतार लिया और शरीर के शुक्लवर्ण अस्थि निकल आये और शिर भी काट लिया । यह सब चरित्र देख ब्रह्मा आदि देवता स्तुति करने लगे । पुनः सब देवताओं के देखते ही वीरभद्र भगवान् अन्तर्ध्यान हो गये । उसी दिन से नृसिंह जी का चर्म शिव जी ने ओढ़ा और उन का मुख अपनी मुण्डमाला का मध्यमणि बनाया ॥

यह लिङ्गपुराण के ९६ अध्याय में नृसिंहवध समाप्त हुवा

द० ति० भा० पृ० ३०५ पं० ६ से पृ० ३०६ पं० २६ तक परमेश्वर के नाम स्मरण का माहात्म्य लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—परमात्मा का नामस्मरण निःसन्देह पुण्यजनक और पाप से बचाने वाला है। परन्तु नाममात्र से स्वामी जी ने निष्फलता लिखी है किन्तु नाम के साथ काम भी उत्तम किये जायं तो निष्फलता नहीं लिखी। केवल मुख से "राम २ जपना, पराया माल अपना" करने वालों का खण्डन है, ईश्वरभक्तों का नहीं। पापों से छूटने का तात्पर्य भविष्यत् में पाप न करना है॥

---*---

अथ मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०८ पं० ३ में—

मा असि। प्रमा असि। प्रतिमा असि॥

तै० आर० ४। ५॥ हे महावीर! तुम ईश्वर की प्रतिमा हो इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—इस में महावीर और ईश्वर कहां से आगये?। पिछले प्रकरण में तो हैं नहीं। सायणाचार्य ने इस का अर्थ यह किया है कि—

हे परिधे! प्रागग्रत्वेन दक्षिणदिग्वर्त्ती उदग्दिग्वर्त्ती वा त्वम् (मा असि) महावीरस्थानं मातुमियत्तया परिच्छेत्तुं समर्थोसि, तथा हे परिधे! उदगग्रत्वेन प्राग्दिग्वर्ती उदग्दिग्वर्त्ती वा त्वम् (प्रमा असि) प्रकर्षेण मातुं समर्थोसि॥

अर्थात् हे यज्ञवेदी की परिधि! पूर्व दिशा में अग्रभाग होने से दक्षिण वा उत्तरवर्ती तू (मा असि) महावीर स्थान को मापने और "इतना है" यह परिच्छिन्नता बताने को समर्थ है। तथा हे परिधि! उत्तर को अग्रभाग होने से पूर्व वा उत्तरवर्त्ती तू (प्रमा असि) अत्यन्त करके मापने को समर्थ है॥

अब विचारना चाहिये कि सायणाचार्य तो मा प्रमा प्रतिमा शब्दों का अर्थ मापने का साधन करते हैं, आप मूर्त्ति अर्थ करते हैं। सायणाचार्य "हे परिधे!" कहते हैं और आप प्रकरणविरुद्ध "हे महावीर!" कहते हैं" ईश्वर का तो यहां वर्णन ही नहीं, न सायणाचार्य ने लिखा, न पीछे से अनुवृत्ति। तात्पर्य तो यह है कि यज्ञवेदि की परिधि नाप कर बनाई जाती है, इस लिये वह नपैना है जिस से उस के पूर्वादि दिशाओं में रक्खे हुवे

महावीरादि पदार्थों का परिमाण ज्ञात हो सकता है। भला इस कतर ब्योंत से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है?

द० ति० पृ० ३०८ पं० ९-स ऐक्षत प्रजापतिः। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर--

स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति। तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनोहैवास्यैष प्रतिमा॥ ११। १। ६। १३॥

प्रजापति ने विचार किया कि इस को अपनी प्रतिमा (नपैना) बनाऊं जो कि संवत्सर है। इसी लिये संवत्सर (वर्ष) को प्रजापति भी कहते हैं। यह उस ने अपना नपैना बनाया है। जैसे ४ अक्षर का प्रजापति शब्द है, वैसे ही ४ अक्षर का संवत्सर शब्द है। इस से भी वह उस का (माप साधन) नपैना है॥

इस में यह कहा है कि ईश्वर जिस से जगत् की आयु आदि को मापता है वह वर्ष (संवत्) है। यह परमेश्वर का नपैना है। परमेश्वर जैसे सब का स्वामी है वैसे इस नपैने का भी स्वामी है। इसी लिये (का) यह षष्ठी का अर्थ स्वस्वामिभाव (मालिक और मिलकियत) सम्बन्ध है। परमेश्वर स्वामी और संवत्सर स्व है। जैसे कपड़े को नापने का गज़ बज़ाज़ का गज़ कहाता है। वा भूमि को मापने का फ़ीता, इञ्जीनियर का फ़ीता कहाता है। इसी प्रकार सृष्टि को मापने का साधन संवत्सर परमेश्वर का नपैना (प्रतिमा) कहा गया। जैसे बज़ाज़ और गज़ में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अर्थात् बज़ाज़ स्वयं गज़ नहीं बनगया। इसी प्रकार परमेश्वर और संवत्सर में भी कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अर्थात् परमेश्वर ही स्वयं संवत्सर रूप नहीं बन गया। वेद वा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रतिमा शब्द मात्र के आने से ईश्वर की साकारता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तौ वेद में प्रतिमा शब्द से आकाशादि की भी प्रतिमा सिद्ध होजावे॥

ईश्वर निराकार है और निर्विकार है वह जगदाकार स्वयं नहीं बनता जैसा कि--

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेताश्वतर

न उस का कोई कार्य है, न करण है । अर्थात् वह किसी पदार्थ का उपादान कारण नहीं है । प्रकृति जड़ है परन्तु उस में चेतन परमात्मा व्यापक होने से उस से जगत् रचा जाता है । परमात्मा आकाश से भी सूक्ष्म कहने में आकाश शब्द केवल जगह मात्र का वाचक नहीं किन्तु वायु से सूक्ष्मस्वरूप वाले तत्त्व का नाम आकाश है । आप ने आकाश को शून्य का पर्याय समझा इसी से भूल हुई । आकाश से वायु की उत्पत्तिः—

आकाशाद्वायुः । तैत्ति०

फिर कैसे सम्भव हो जब कि आकाश स्वयं अवस्तु हो । सगुण और निर्गुण का अर्थ यदि आप यही मानते हों कि सत्त्व, रजः, तमः ३ गुण (जो यथार्थ में प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं) परमात्मा के गुण हैं। तौ भी हम कह सकते हैं कि एक मनुष्य एक काल में धनी, दूसरे काल में निर्धन हो तौ क्या मनुष्य के स्वरूप में भेद पड़ता है ? नहीं, किन्तु उस के स्व (मिलकियत) में धन होता है और नहीं होता, परन्तु पुरुष का स्वरूप धन होने और न होने पर भी पुरुष के सा ही रहता है । ऐसे ही प्रकृति से विकृति होने पर ३ गुण भिन्न होते हैं तब उन का स्वामी होने से परमात्मा सगुण और प्रलय काल में तीनों गुणों की साम्यावस्था होजाती है कोई गुण भिन्न अपने स्वरूप में नहीं रहता, इस से उस समय परमात्मा निर्गुण कहावे तौ भी परमात्मा के निज के दो स्वरूप सगुण और निर्गुण नहीं बनते किन्तु प्रकृतिसहित के हैं । तब उस के निराकार साकार दो रूपों का होना तौ सर्वथा ही असङ्गत है ॥

द० ति० भा० पृ० ३७९ पं० १३—तदेवाग्निस्तदादित्यः ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ । तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्र॒ह्म ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः । यजुः । ३२ ॥ १ ॥

इस का अर्थ तौ यह है कि सब का प्रकाशक होने से अग्नि, सब को पकड़ने वाला होने से आदित्य, सर्वधारकता से वायु, आह्लादकारकता से चन्द्रमा, शीघ्रकारी होने से शुक्र, बड़ा होने से ब्रह्म, विभु होने से आप्

और प्रजा के पालन से वही ब्रह्म प्रजापति भी कहाता है । यह नहीं कहा गया कि वही स्वरूप बदल कर अग्नि, वायु आदि तत्स्वरूप बन गया । ऐसा हो तौ ऊपर कहे (न तस्य कार्य्यम्०) इत्यादि एकरसत्वप्रतिपादक वाक्यों से विरोध आवेगा । तथा सब वस्तु ब्रह्म होने से भी किसी पदार्थ विशेष में ब्रह्मबुद्धि से पूजा करना भी ठीक नहीं । उस अवस्था में सब वस्तु ब्रह्म हैं तौ प्रतिमा भी ब्रह्म, पुष्प भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म । बस जो पुष्प, जल, गन्धादि जहां पड़ा है वहां ब्रह्म पर ही चढ़ा है और ब्रह्म ही है । फिर मूर्त्तिपूजा कैसी ?

द० ति० भा० पृ० ३०९ पं० २१ से-तं यज्ञं बर्हिषि० । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये । यजुः ३१ । ९ ॥

अर्थ-(तम्) उस (यज्ञम्) पूजनीय (अग्रतः जातम्) सृष्टि से पूर्व प्रसिद्ध (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (ये) जिन (साध्याः) योगाभ्यासादि साधन करते हुवे (च) और (ऋषयः) मन्त्रार्थ के ज्ञाताओं ने और (देवाः) देवतों ने (बर्हिषि) जपयज्ञादि में (प्रौक्षन्) सत्कृत किया और (तेन) उस यज्ञ से (अयजन्त) पूजा वा पूजते हैं ॥

इस पर आप का ही लिखा शतपथ यह है:-

अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । श० ११ । १ । ८ । ३

तब इस यज्ञ को उस ने अपना ज्ञानसाधन बनाया, इस से प्रजापति यज्ञ कहाया क्योंकि यज्ञ जपादि से प्रजापति का ज्ञान होता है ॥

इस में भी यज्ञ यजन उपासना जपादि को परमेश्वर की प्राप्ति का साधन (प्रतिमा) कहा है । किन्तु काष्ठ पाषाणादि निर्मित प्रचलित मूर्त्तियों को उस के ज्ञान का साधन नहीं बताया, तब मूर्त्तिपूजा विषय में इस का प्रमाण देना व्यर्थ है ॥

द० ति० भा० पृ० ३१० पं० ५ से-देवा ह वै० इत्यादि-

प्रत्युत्तर-

शतपथ का लम्बा चौड़ा पाठ और फिर मनमाना अर्थ लिखा है परन्तु उसमें

विष्णु सूर्य का नाम है, परमेश्वर का नहीं। जैसा कि उसी में आया है कि-

स विष्णुर्यज्ञः स यज्ञोसौ स आदित्यः ॥

विष्णु नाम यज्ञ का और यज्ञ नाम आदित्य अर्थात् सूर्य का है। यहां परमेश्वर का वर्णन न होने और मूर्त्ति का वर्णन न होने से इस का यहां लिखना व्यर्थ है। तथा--

द० ति० भा० पृ० ३११ पं० १९ में-तस्य सिञ्चियाणस्य। इत्यादि

प्रत्युत्तर-तैत्ति० के पाठ को ऊपर के शतपथ में जोड़ दिया है। सो न शतपथ और तैत्तिरीय ग्रन्थों की एकता, न विषय की एकवाक्यता, फिर लिखना ग्रन्थ बढ़ाना मात्र है। तात्पर्य उस का यह है कि सूर्य का तेज ओषधियों में गिर कर उन्हें उगाता, बढ़ाता और पकाता है॥

द० ति० भा० पृ० ३१२ पं० ५ से-देवतों के आकार कैसे होते हैं? (उत्तर) निरुक्त में लिखा है कि पुरुषों के से आकार होते हैं। देखिये-

अथाकारचिन्तनं देवातानां पुरुषविधाः। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-निरुक्त अध्याय ७ खण्ड ६।७ का पाठ उद्धृत करके हम ठीक२ अर्थ किये देते हैं:—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते॥

ऋष्वा तं इन्द्र स्थविरस्य बाहू॥"

अर्थात् अब देवताओं के आकार का विचार करते हैं। इस प्रकार देवतों का मनुष्याकार है क्योंकि चेतन के समान स्तुतियां हैं और नाम भी और मनुष्यों के अङ्गों का वर्णन भी पाया जाता है। (जैसा कि-)

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वा तं इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता।

(ऋ० ६।४७।८)

अर्थ-(इन्द्र) हे राजन् ! (स्थविरस्य) जिस विद्याविनयवृद्ध (ते) आप के (शरणा) शत्रुनाशक (वृहन्ता) बड़ी (ऋष्वौ) श्रेष्ठ (बाहू) भुजाओं को हम (उपस्थेयाम) उपस्थित होवें (विद्वान्) वह आप विद्वान् जिस से (नः) हम को (उरुम्) बहुत (स्वर्वत्) सुखयुक्त (ज्योतिः) प्रकाश और (अभयम्) भयरहित (स्वस्ति) सुख और (लोकम्) दर्शन को (अनु नेषि) प्राप्त कराते हो ॥

इस में राजा को मनुष्याकार देवता मान कर प्रशंसा (स्तुति) की है। इस लिये इस से मूर्त्तिपूजा की सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरा उदाहरण निरुक्तकार ने देवता मनुष्याकार होने का यह दिया है कि-

"यत्संगृभ्णा मंघवन्काशिरित्ते"

इस का अर्थ यह है कि हे (मघवन्) धनवन् ! राजन् ! (यत्) जो कि (ते) आप की (काशिः) मुट्ठी है वह (संगृभ्णा) संग्रह करने वाली हो। काशिर्मुष्टिः । निरु० ६ । १ । इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि परमात्मा की मूर्त्ति बनानी वा पूजनी चाहिये। फिर निरुक्तकार कहते हैं कि:-

" अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि । कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते॥

अर्थात् मनुष्यों के से द्रव्यों का भी वर्णन देवतों में पाया जाता है। जैसा कि नीचे के मन्त्र में है-

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥
(ऋ० २ । १८ । ४)

अर्थ-(इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त राजन् ! (हूयमानः) बुलाये हुवे आप (द्वाभ्यां हरिभ्याम्) दो हरणशील पदार्थों से युक्त यान द्वारा (आयाहि) आइये (चतुर्भिः) चार से (आ) आइये (षड्भिः) छः से (आ) आइये (अष्टाभिः) आठ से (आ) आइये (दशभिः) दश हरणशील पदार्थों से युक्त यान के द्वारा आइये (अयम्) इस (सुतः) उत्पन्न किये रस के (सोमपेयम्) सोमपानार्थ आइये (सुमख) हे सुन्दर यज्ञ वाले (मृधः) (संग्रामों को (माकः) न कीजिये ॥

अर्थात् राजा को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों से संपादित यन्त्रादि निर्मित यानों द्वारा जावे आवे। सज्जनों से सोमपानादि आदर सत्कार ग्रहण करले, संग्राम न करे॥ इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से ईश्वर की प्रतिमापूजा सिद्ध नहीं होती॥ फिर निरुक्त ने दूसरा प्रतीक नीचे लिखे मन्त्र का दिया है:—

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्॥

ऋ० ३।५३।६॥

अर्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (यत्र) जिस गृह में (बृहतः) बड़े (रथस्य) विमान रथ और (वाजिनः) अग्निजन्य घोड़े का (निधानम्) स्थापन और (विमोचनम्) खोलने का (दक्षिणावत्) दक्षिणा के तुल्य है (गृहे) जिस आप के गृह में (कल्याणीः) सुखदायिका (जाया) स्त्री है उस (अस्तम्) गृह को (निघं० ३।४) (प्रयाहि) आइये जाइये और (सोमम्) सोमरस को (अपाः) पीजिये जिस से (सुरणम्) अच्छे प्रकार संग्राम हो॥ तथा निरुक्त—

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः। अद्धीन्द्र
पिब च प्रस्थितस्य। आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के से काम भी देवतों के वेद में पाये जाते हैं। जैसा कि (इन्द्र) हे राजन्! (अद्धि) भोजन कीजिये और (पिब च) पान कीजिये। इत्यादि। और (श्रुत्कर्ण) सुनने की शक्ति रूप कान वाले! (हवम्) पुकार को (आ श्रुधि) सब ओर से श्रवण कीजिये॥

यहां तक निरुक्तकार ने यह बताया है कि मनुष्यों के से कर्म, मनुष्यों के से वाहनादि और मनुष्यों के से अङ्ग देवतों के वेद ने वर्णन किये प्रतीत होते हैं। इस से मनुष्य भी दान, दीपन, द्योतनादि गुणों से इन्द्रादि पद-वाच्य देवता हैं। इस से आगे निरुक्तकार यह बतलाते हैं कि वायु, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थ जो मनुष्याकार नहीं हैं, वे भी देवता हैं। यथा—

अपुरुषविधाःस्युरित्यपरमपि तु यद्दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्य-थाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमाइति। [यथो एतच्चेतनाव-द्विस्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते। यथाक्षप्रभृतीन्यो-

षधिपर्यन्तानि । यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतद्भवति । अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः इतिग्रावस्तुतिः। यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव । सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनमिति नदीस्तुतिः । यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव।होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशतेति ग्रावस्तुतिरेव ।] अपि वोभयविधाः स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः । निरुक्त ७ । ७ ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि बहुत से देवता मनुष्याकार नहीं भी हैं जैसे देखा जाता है कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी चन्द्रमा ये देवता हैं । [जिस प्रकार चेतनों की प्रशंसा पाई जाती है वैसी जड़ (अचेतन) देवतों की भी पाई जाती हैं । जैसे कि अक्ष से लेकर ओषधि पर्यन्त हैं । और जिस प्रकार मनुष्याकार अङ्गों से स्तुति पाई जाती हैं, ऐसी ही अचेतन जड़ पदार्थोंकी भी प्रशंसा पाई जाती हैं। "पत्थरों के हरे मुख" (हरे मसाले पीसने से) कहे गये हैं । और जिस प्रकार चेतनों के वाहनादि द्रव्यों का वर्णन है इसी प्रकार जड़ पदार्थों के भी वाहनादि का वर्णन देखा जाता है जैसा कि "नदी ने सुखदायक रथ जोड़ा" (प्रवाह से अभिप्राय है) । और जिस प्रकार मनुष्याकार देवतों के कर्म पाये जाते हैं इसी प्रकार अचेतनों के भी । जैसा कि "होता से पहले सिल बट्टों ने मसाला चाट लिया" यहां देखा जाता है । इस से या तो देवता दोनों प्रकार के हों, अथवा मनुष्याकारों के ही कर्म रूप देवता निराकार हों, जैसे यजमान मनुष्याकार देवता और उस का कर्म 'यज्ञ" निराकार देवता है । और यह आख्यान का समय है"

यहां तक निरुक्त का भावार्थ हुवा । विचारना चाहिये कि द० ति० भा० पृ० ३१६ में [ ] इस कोष्ठक में लिखे बीच के निरुक्त के पाठ को क्यों छोड़ दिया गया ? जिस में जड़ और चेतन दोनों पदार्थों की देवता संज्ञा व्यावहारिक मानी है और स्पष्ट कहा है कि जड़ पदार्थ पत्थर, बट्टे, नदी आदि में मुख, रथ आदि अङ्गों की कल्पना करके वर्णन पाया जाता है । इस से

निरुक्तकार ने स्पष्ट बतलाया है कि ऐसे नमूने (निदर्शन) देखकर मनुष्यों को जान लेना चाहिये कि वेद की ऐसी शैली है जो जड़ पदार्थों का वर्णन चेतन की तरह लालित्य के लिये काव्यवत् किया गया है। आज कल कवि लोग भी नदी, बग़ीचा, पुष्प, मकान, तालाब आदि को रूपक में वर्णन किया करते हैं, सो प्रथम २ यह विद्या वेद से ही निकली है। यदि पं० ज्वालाप्रसाद जी ऊपर लिखे मध्यस्थ पाठ को न छोड़ते तो उन के ही पुस्तक से सिद्ध हो जाता कि वेद का तात्पर्य देवता शब्द से केवल उपास्य ब्रह्म ही नहीं है किन्तु निरुक्त के अनुसार—

या तेनोच्यते सा देवता

जिस वस्तु का वर्णन मन्त्र में होता है, वही पृथिवी, जल, वायु, बिजुली आदि पदार्थ देवता कहाते हैं जो निराकार और साकार भेद से दो प्रकार के हैं ? और उन में से कुछ जड़ और कुछ चेतन हैं। तथा जड़ों के वर्णन भी चेतन की भांति किये गये हैं। पृथिवी का गौ रूप धरना मानना भ्रान्ति है और निघण्टु वा निरुक्त १।१ में " गौः " पद पृथिवी का नाम है। जैसे अर्जुन वृक्ष का नाम भी है और पाण्डव का भी। तो क्या अर्जुन वृक्ष ही पाण्डवार्जुन रूप में प्रकट हुवा मानियेगा ? कृष्ण का उस जगह प्रकरण में (निरुक्त मूल में) नाम तक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ३१६। ३१७ और ३१८ में मूर्त्तिपूजा के पक्ष में ये उपपत्ति (दलीलें) दी हैं। १—पृथिवी आदि के देखने से परमात्मा का ऐसा स्मरण नहीं होता जैसा मूर्त्ति के। २-आकाशादि को तुम नित्य मानते हो, वे ईश्वर के रचे ही नहीं तो उन के द्वारा ईश्वर का स्मरण कैसे होगा। ३—पत्थर से प्रार्थना आदि कोई नहीं करता किन्तु पत्थर एक परमेश्वर का चिन्ह है। ४-तीन काल प्रति दिन मूर्त्ति के दर्शन से सदा पाप का डर रहता है। ५-भावना मूर्त्ति में भी करते हैं और सर्वत्र भी। ६-महारानी की मूर्त्ति के एकदेशीय हो जाने से क्या उस का राज घट जाता है ?। ७-चन्दनादि चढ़ाना आदरसूचक है। ८-क्या रोटी में व्यापक होने से ईश्वर भी रोटी के साथ भक्षित होता है ? ९-अवतार न लेवे तो यह एक बन्धन है। १०-यदि दो वस्तु समान हों तो उन में एक दूसरे की भावना हो सकती है, सुख दुःख असमान हैं, अतः दुःख में सुखादि की भावना नहीं

होती। ११-सर्वज्ञ की भावना सर्वत्र हो सकती है। १२-आवाहन से देवता आते हैं परन्तु अदृश्य हैं। १३-पितर भी आवाहन से आते हैं। १४-जनमेजय के यज्ञ में मन्त्रों से सर्प और इन्द्र तक चले आये। १५-मूर्त्ति में आवाहन विसर्जन नहीं करते किन्तु प्राणप्रतिष्ठा करते हैं। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-१-मूर्त्ति के देखने से बढ़ई का ज्ञान होता है, पृथिव्यादि देखने से ईश्वर का। २-आकाशादि कारणों को हम नित्य मानते हैं, कार्यों को नहीं, बस कार्यरूप पृथिव्यादि के देखने से ईश्वर का स्मरण हो सकता है। ३-पत्थर में परमेश्वर का विशेष क्या चिह्न है? ४-मूर्त्ति के दर्शन पाप से बचावें तौ अदर्शन समय में निर्भयता होवे? ५-भावना सर्वत्र ही करते हो तौ पुष्पादि को तोड़ कर मूर्त्ति पर क्यों चढ़ाते हो। ६-महाराणी की मूर्त्ति ही एकदेशीय नहीं है, किन्तु वह साक्षात् भी एकदेशीय है। परमेश्वर सर्वव्यापक है। ७-पुष्पादि चढ़ाना अनादर हुआ, क्योंकि वृक्षस्थ परमेश्वर से छीन कर मूर्त्तिस्थ पर चढ़ाते हो। ८-सर्वग अचल होने से वह रोटी आदि के साथ चलायमान नहीं होसकता। ९-तौ कुकर्म न कर सकना भी परमेश्वर को बन्धन है?। १०-यदि समानों में ही एक दूसरे की भावना होती है, विषमों में नहीं, तौ परमेश्वर के समान कोई नहीं, अतः उस की भावना किसी पदार्थ में नहीं होसकती, फिर मूर्त्ति में कैसे हो सकती है? यहां तौ आप कहते २ लकड़ी भूल गये हैं। ११-सर्वज्ञ का अर्थ आप सर्वव्यापक समझे! धन्य! वह शब्द सर्वग है, सर्वज्ञ नहीं। १२-हां, अग्न्यादि देवता अग्निस्थापना से आसकते हैं, परन्तु मृत राम, कृष्ण आदि आप के अभिमत नहीं आसकते। १३-पितर तो जीते जी सब ही जानते हैं कि आते जाते हैं। १४-जनमेजय के यज्ञ में जैसे बिल्ली लोटन (छारछबीला, वा बालछड़) पर बिल्ली आपड़ती है, ऐसे ही हवन की सामग्री पर सर्प भी आपड़े होंगे। और जनमेजय की कथा की मन्त्रसाध्यता तौ साध्यकोटि में है। जब सभी पौराणिक कथा संशययुक्त हैं तब यह क्या स्वतः प्रमाण है। १५-प्राणप्रतिष्ठा और आवाहन में आप के मत में क्या भेद है?। एक जड़ पदार्थ में देवता का आवाहन ही करते हुवे तौ प्राणप्रतिष्ठा किया करते हो॥

द० ति० भा० पृ० ३१८ के नीचे और ३१९ में षड्विंशब्राह्मण का प्रमाण-

यदा देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा

प्रायश्चित्तं भवतीदंविष्णुर्विचक्रम इति स्थालीपाकꣳ हुत्वा पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति;विष्णवे स्वाहा,सर्वभूताधिपतये स्वाहा, चक्रपाणये स्वाहेश्वराय स्वाहा, सर्वपापशमनाय स्वाहेति; व्याहृतिभिर्हुत्वाथ साम गायेत ॥

जब देवताओं के स्थान कांपते हैं, देवताओंकी प्रतिमा रोती हैं, हंसती हैं, नाचती हैं, एकदेशसे स्फुटनको प्राप्त होती हैं, पसीने युक्त होती हैं, नेत्र खोलती हैं, मीचती हैं, तब प्रायश्चित्त होता है "इदं विष्णुर्विचक्रमेति" इस मन्त्र से हवन कर पांच व्याहृतियों का हवन करै इस में चक्रपाणि आदि शब्द से ईश्वर साकार सिद्ध होता है इससे यही सिद्ध है कि जब तक यह मूर्त्ति स्थिर रहती है तभी तक शान्ति है चलायमान होते ही वैकारिक गुणयुक्त होती है ईश्वर की अवतारों की मूर्त्ति वेदानुसार प्रतिष्ठा करके पूजन करते हैं परन्तु ईश्वर को आने जाने वाला किसी ने नहीं कहा ईश्वर सर्व व्यापक होने से आता जाता नहीं और मूर्त्तिप्रतिष्ठा करने से क्यों चलायमान हो यह मूर्त्ति तो एक घर समझिये जैसे कोई मनुष्य घर में बैठा है तो क्या वह घर चलने लगेगा कभी नहीं और "स्था गतिनिवृत्तौ" धातु से प्रतिष्ठा शब्द सिद्ध होता है जो चलायमान न हो अचल रहै वोही प्रतिष्ठा की जाती है और जो चलै तो हाला चाला होजाय यह तो एक देवताओं के विग्रह हैं उन में देवता आन कर प्रविष्ट होजाते हैं जैसे एकस्थान टूट जाने से मनुष्य और स्थान में चले जाते हैं इसी प्रकार जब मूर्त्ति अशुद्ध हो जाती है या टूट जाती है तो देवता और मूर्त्ति में प्रवेश कर जाते हैं महाभाग्य होने से एक अनेक होजाते हैं, यवनादि के स्पर्श से देवता नहीं रहते उन का निवास बड़े पवित्र स्थान में होता है जैसा घर हालने से बड़ा उत्पात होता है उसी प्रकार मूर्त्ति आदि में विकार होने से प्रायश्चित्त है। पुत्रादिकों में प्राण डालने का विधान नहीं है उन का आत्मा सर्वज्ञ नहीं एक अनेक नहीं होसकता मृतक होने पर कर्मानुसार दूसरे तनु को प्राप्त होता है जो पितर आदि किसी योनि को प्राप्त होता ही है फिर कैसे प्राण आवें और वोह कैसे रहैं पिता पुत्र की आत्माकू बुलावे और उस को और बुलावे तो जगत् की व्यवस्था नष्ट होजावे यह सामर्थ्य देवताओं को

ही है प्रत्येक मूर्त्ति में अपना आत्मा प्रवेश कर सकते हैं ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तौ षड्विंश के पाठ की प्राचीनता भी साध्य है। दूसरे इस में देवतों की प्रतिमाओं का हंसना, रोना, नांचना, फटना आदि लिखा है, पूजने का नाम नहीं। तथापि इस का अर्थ यह है कि-

" जब सूर्यादि देवों के लोक कांपते हैं और उन के स्वरूप हंसते वा रोते वा नांचते वा फटते वा पसीना लेते वा चिमचिमाते जान पड़ें, तब यह प्रायश्चित्त है कि (इदं विष्णुर्वि०) इस मन्त्र से स्थालीपाक का होम करके, ये ५ आहुति करे १—विष्णवे स्वाहा २-सर्वभूताधिपतये स्वाहा ३—चक्रपाणये स्वाहा ४-ईश्वराय स्वाहा ५-सर्वपापशमनाय स्वाहा। फिर व्याहृतियों से (भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा) ये आहुति देवे और सामगान करे ॥ "

तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य पाप बहुत करते हैं तौ विष्णु की व्यवस्थानुसार वायुमण्डल (एटमासफ़ियर) में कुछ विकार उत्पन्न होता है और हलचल मचती है, रोगादि का बड़ा भय होता है और देवता अर्थात् तारागणों के आकार उसी वायुविकार के कारण बहुत अनोखे २ (विलक्षण २) दृष्टि पड़ने लगते हैं। तब मनुष्यों को अपने पापों का स्मरण करके विष्णु यज्ञ करना चाहिये, जिस से वायुमण्डल में शान्ति हो, रोगादि का भय दूर हो। विष्णु सब जगत् का आधार है इस लिये उसी के नाम की भिन्न २ विशेषणों से आहुति लिखी हैं। इस में देवता शब्द से पाषाणादि निर्मित प्रतिमा अर्थ लेने में कोई प्रमाण नहीं। किन्तु आठ वसुओं के अन्तर्गत होने से शतपथ ब्राह्मणानुसार नक्षत्र, तारागण की देवता संज्ञा तौ सप्रमाण है। और प्रत्यक्ष में प्रायः देखा भी जाता है कि जब वायु में कोई बड़ा भारी विकार होता है तब रोग अनावृष्टि आदिक चिन्ह तारों के बहुतायत से टूटने, हंसने रोने आदि दिखाई देने लगते हैं। आपने ५ व्याहृति लिखी हैं सो भूल है। चक्रपाणि शब्द यहां इस लिये प्रयोग किया है कि चक्र अर्थात् तारागण और वायु आदि का चक्र, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वाधार परमेश्वर के हाथ में है अर्थात् वह चाहे जैसा घुमावे। किन्तु इस से ईश्वर को साकार मानना वा उस का पाञ्चभौतिक हाथ मानना भूल की बात है। क्या आपने नहीं देखा कि-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता। श्वेताश्वतरोप० ३। १९

वह हाथ पांव नहीं रखता पर हाथ पांव के काम सर्वव्यापकता से कर लेता है॥

इस के अतिरिक्त प्रकरण का भी विचार करना चाहिये। षड्विंशब्राह्मण के ५ वें प्रपाठक में १२ खण्ड हैं। ७ वें खण्ड में—

सपृथिवीमन्वावर्त्तते० इत्यादि।

पृथिवी लोक के विचित्र उत्पात की शान्ति का वर्णन है। और ८ वें खण्ड में—

सोन्तरिक्षमन्वावर्त्तते० इत्यादि।

अन्तरिक्ष लोक के पदार्थों के विकृत दर्शनादि सूचित रोगादि शान्ति का प्रायश्चित्त कहा है। फिर ९ वें खण्ड में—

सदिवमन्वावर्त्तेऽथ यदास्य तारावर्षाणि चोल्काः पतन्ति निपतन्ति धूमायन्ति दिशो दह्यन्ति० इत्यादि।

इस में द्युलोकगत उत्पात दर्शन का प्रायश्चित्त कह कर फिर १० वें खण्ड में—

स परं दिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति० इत्यादि॥

इस में परम द्युलोक गत पदार्थों के उत्पातदर्शन का प्रायश्चित्त होमादि कहा है। इस से भी स्पष्ट है कि द्युलोक के देवतों का ही वर्णन है, पृथिवीलोक के आधुनिक प्रचलित देवी भैरवादि की मूर्त्तियों का नहीं। यह वही प्रमाण है जो संवत् १९२६ में श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सामने स्वामी श्री विशुद्धानन्दादि पण्डितों ने दिया था। और जिस पराजय का नाम सुनते ही काशीस्थ महात्माओं के मुख से गाली के अतिरिक्त अब भी कुछ नहीं निकलता॥

यदि मूर्त्ति देह के स्थान में नहीं है, किन्तु घर के तुल्य है, इसी से चलती फिरती नहीं, तो भोजन, स्नान, शयन, आदि मूर्त्ति को क्यों कराया जाता है। क्या घर भी न्हिलाये, खिलाये और सुलाये जाते हैं। प्रति उप-

सर्ग पूर्वक "स्था" धातु का अर्थ अचल रहना आप ही के यह व्याकरण में होगा। जब परमेश्वर सर्वव्यापक है तो एक मूर्त्ति के यवनस्पर्श होने वा टूटने फूटने से उसे छोड़ दूसरी मूर्त्ति में कैसे जा आ सकता है। मरे हुवे पुत्रादि का आवाहन करके यदि इस कारण नहीं बुला सके कि उन का कर्मानुसार जन्मान्तर हो गया, तो जन्मान्तर में से भी मन्त्रबल से क्यों नहीं बुला लेते, जब आप के कथनानुसार स्वर्गलोक से जनमेजय के यज्ञ में इन्द्र का सिंहासन भी विचलित होना मानते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३२१ पं० २५ से—

समीक्षा, यह संपूर्ण स्वामी जी का लेख असंगत है यहां यह विचार कर्त्तव्य है कि इस यजुर्वेद के मन्त्रों की किसी पूर्व अथवा उत्तर मन्त्र से संगति है अथवा नहीं जो यह कहैं कि विना संगति ही कार्य कारण उपासना का निषेध किया है तो यह कहना चाहिये कि "ब्रह्म के स्थान में" यह अर्थ किस पद का है मन्त्र के अक्षरों से तो असंभूति उत्पत्ति रहित और संभूति उत्पत्तिमत् वस्तु की जो उपासना करता है सो नरक में पड़ता है यही अर्थ प्रतीत होता है तो यह निर्णय करना चाहिये कि ब्रह्म असंभूति पदार्थ है अथवा नहीं जो उत्पत्ति रहित होने से ब्रह्म भी असंभूति पदार्थ है तो उस की उपासना करने से भी नरक होगा और जो असंभूति पदार्थ ब्रह्म नहीं तो संभूति शब्द का अर्थ होगा इस में दो दोष हैं ब्रह्म को कार्यत्वापत्ति और ब्रह्म की उपासना से नरक भी होगा क्योंकि संभूति की उपासना में नरक रूप फल मन्त्रप्रतिपाद्य है जब पूर्व उत्तर संगति विना मन्त्र के अक्षरों के यह अर्थ कैसे करेंगे सो ईशावास्य इस मन्त्र से लेकर "अन्धन्तमः" इस मन्त्र तक कोई ऐसा पद नहीं कि जिस के अर्थ यह हैं कि "ब्रह्म के स्थान में" इस की संस्कृत ब्रह्मणः स्थाने अथवा ईश्वरस्य स्थाने यह कहीं भी नहीं। सज्जन पुरुष यजुर्वेद का ४० वां अध्याय देख कर विचार लेंगे कि क्या प्रकरण है कुछ मन्त्र पूर्व भी लिख आये हैं इस कारण उन का दुबारा लिखना ठीक नहीं ब्रह्म के स्थान में कारण प्रकृति और कार्य पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में गिरता है यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध है और यह भी विचारना चाहिये कि "ब्रह्म के स्थान में" इस का भावार्थ क्या है ब्रह्म का स्थान कौन है ब्रह्म की उपासना का स्थान वा ब्रह्म

का निवासस्थान वा ब्रह्मरूप स्थान यह अर्थ है। प्रथमपक्ष में तो ब्रह्म की उपासना स्थान कोई दूसरा पदार्थ स्वामी जी के मत में नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म की उपासना का स्थान कोई पदार्थ मानेंगे तो प्रतीक उपासना सिद्ध होगी क्योंकि ब्रह्मबुद्धि से किसी पदार्थ की उपासना ही प्रतीकोपासना है और यदि ब्रह्म के निवासस्थान को ब्रह्मस्थान मानें तो ब्रह्म को व्यापक होने से सर्व ही वस्तुमात्र ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस स्थान में कारण कार्य उपासना करता ही कौन है, जो नरक को प्राप्त होगा क्योंकि कारण प्रकृति और कार्य पृथिवी आदि भी तो ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस में कार्यकारण दृष्टि सब को प्राप्त है क्योंकि कारण को कारण और कार्य को कार्य सब ही जानते हैं, परिशेष तें ब्रह्मरूप स्थान में जो कारण प्रकृति की और कार्य पृथिवी पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है, यह अर्थ दयानन्द जी को विवक्षित होगा। आशय यह है जो कारण प्रकृतिबुद्धि से और कार्य पाषाणादि मूर्त्तिबुद्धि से ईश्वर की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है। जब यह अर्थ इष्ट हुवा तो विचारिये मूर्त्तिपूजक आचार्य ब्रह्म में मूर्त्तिबुद्धि करके पूजन, उपासना करते हैं अथवा मूर्त्ति में ब्रह्मबुद्धि करके पूजनादि करते हैं। प्रथमपक्ष तो कोई विचारशून्य भी ग्रहण न करेगा, दूसरा पूर्व आचार्य मार्गारूढ़ पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्म को वा भक्तवात्सल्यादि गुण विशिष्ट कैलासवासी, वैकुण्ठवासी देव को केवल मूर्त्तिरूप कैसे मानेगा, इस कारण मूर्त्ति में ही ब्रह्मबुद्धि दृढ़ करके पूजन करते हैं। स्वामी जी का यह विपरीत ज्ञान है, जो कहते हैं कि ब्रह्म के स्थान में कारण कार्य बुद्धिकर्त्ता को नरक होता है, ऐसी बुद्धि तो इन्हीं की है, प्रतिमापूजकों की नहीं। प्रतिमापूजक तो प्रतिरूप अधिष्ठान में ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का पूजन करते हैं। इसी अर्थ को व्यास जी सूत्र से कथन करते हैं॥

प्रत्युत्तर—"ब्रह्म के स्थान में" यह पद अध्याहार से लिये गये हैं, यदि न लिये जावें तो अर्थ ही नहीं बनता क्योंकि वैसे तो संभूति और असंभूति से भिन्न जगत् का कोई पदार्थ है ही नहीं, फिर क्या दोनों प्रकार के पदार्थों का जानना अन्धन्तम नरक का हेतु होगा?

यद्यपि ब्रह्म भी असंभूति पद का अर्थ हो सकता है, परन्तु उस ब्रह्म की उपासना—

निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।

इत्यादि वाक्यों में श्रेष्ठफलजनक कही है। इस से अपने अंश में वे वाक्य इस वाक्य के अपवाद हो जायंगे। उत्सर्ग की रीति है कि अपवाद के विषय को छोड़ कर प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मोपासना अन्य वाक्यों में विहित होने से इस वाक्य द्वारा निषिद्ध नहीं हो सकती। जैसे सरकारी कार्यालयों के द्वारों पर प्रायः लिखा रहता है (भीतर मत आओ) तौ क्या सरकारी कर्मचारी जिन का वहां बैठ कर काम करना विहित है, उन्हें भी वह निषेध लग सकता है? नहीं, किन्तु अन्यों को मनाई है। इसी प्रकार असम्भूति की उपासना के निषेध में ब्रह्मोपासना का निषेध वा निन्दा नहीं आ सकती। "ब्रह्म के स्थान में" इस का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य कार्य को वा कारण प्रकृति को ही ब्रह्म जान कर उपासना करना नरकप्रद है। ब्रह्म के निवासस्थानादि की कल्पना करना व्यर्थ है और वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थान्तरकल्पना वाक्छल नाम का छल है॥

अविशेषाऽभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनावाक्छलम् १।२।५४

तथा मूर्त्ति आदि में ब्रह्मबुद्धि करना ही तौ यहां निन्दित बताया है। पृष्ठ ३२३ में लिखे—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। शारी० ४।१।५

का अर्थ यह है कि "ब्रह्म के सर्वोत्तम होने से ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म ही रहता है"॥

जिस प्रकार बाज़ार में अनेक वस्तु यद्यपि रहती हैं, परन्तु जिस को जो अत्यन्त प्रिय और उत्तम जान पड़ता है वह उस के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता। इस में मूर्त्तिपूजा का पता भी नहीं॥

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति०" का वह अर्थ जो द० ति० भा० पृ० ३२३ में लिखा है, यह है—

"जो कारण जड़ प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्धन्तम में प्रवेश करते हैं और जो कार्य की उपासना करते हैं, वे तिस से भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं"

"जादू तौ वह जो सिर पै चढ़ के बोले" स्वामी जी भी तौ यही कहते हैं कि कारण प्रकृति और कार्य घट, पट, वृक्ष, मूर्त्ति आदि को पूजना नरकप्रद है। बस आप स्वयं ठिकाने आगये॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ यजुः४०।१०॥

इस प्रकरण का अन्यन्तमः प्रवि० से अगला मन्त्र है। जिस का अर्थ यह है कि सम्भव असम्भव पदों का यहां लौकिक अर्थ नहीं, किन्तु और ही है। अर्थात् सम्भव कार्य, असम्भव कारण इत्यादि। इस से अगला मन्त्र यह है-

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंᳬ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ४० । ११

अर्थात् कार्य और कारण को साथ २ जानना चाहिये। इन दोनों को जान कर मृत्यु को तरके अमर हो जाता है॥

अब बताइये प्रकरण से क्या विरोध आया?

द० ति० भा० पृ० ३२५ में "न तस्य प्रतिमा अस्ति०" इस मन्त्र का अर्थ करते हुवे ३ बात लिखी हैं। १-तत् पद का अर्थ साकार है, निराकार नहीं। २-इस से पिछले दो मन्त्रों में साकार का ही वर्णन है। ३-प्रतिमा का अर्थ मूर्त्ति नहीं, किन्तु तुल्यरूपान्तर है॥

प्रत्युत्तर-'तस्य' पद को आप परमात्मा के लिये मानते हैं, फिर साकारता कैसे? यदि साकार का वर्णन होता तो "प्रतिमा है" ऐसा कहा जाता, "प्रतिमा नहीं है" यह कभी न कहते। २-पूर्व मन्त्र यह है-

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ यजुः ३२ । २ ॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येषः । मा मा हिᳬसीदित्येषा । यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३२ । ३ ॥

हे मनुष्यो! (विद्युतः) विशेष करके प्रकाशमान (पुरुषात्) पूर्ण परमात्मा से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव (अधि) अधिकता से (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं (एनम्) इस परमात्मा को (न) न (ऊर्ध्वम्) ऊपर (न) न (तिर्यञ्चम्) तिरछा (न) न (मध्ये) मध्य में (परिजग्रभत्) सब ओर से कोई पकड़ सकता है। अर्थात् निराकार होने से वह ऊपर नीचे बीच में कहीं इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सक्ता॥

क्योंकि (तस्य) उस परमात्मा की (प्रतिमा) देह वा आकार वा मूर्त्ति (न अस्ति) नहीं है, इस से पकड़ा नहीं जासकता । (यस्य नाम महद्यशः) जिस का नामस्मरण बड़ा यश करने वाला है (हिरण्यगर्भ इत्येषः) जिस का वर्णन [हिरण्यगर्भः] २५ । १०-१३ इस अनुवाक में है और जिस का वर्णन वा यश "मा माहिंसीत्" १२ । १०२ ऋचा में है तथा जिस की कीर्त्ति " यस्मान्न जातः परो अन्यः " इत्यादि ८ । ३६, ३७ अनुवाक में है । उस की प्रतिमा नहीं है ॥ ३ ॥

प्रतिमा का अर्थ यहां मूर्त्ति ही है क्योंकि न पकड़ा जा सकने में यह हेतु दिया कि उस की मूर्त्ति नहीं है । मूर्त्तिमान् पदार्थ पकड़ने में आसकते हैं, अमूर्त्त नहीं ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३२५ में "कासीत् प्रमा प्रतिमा०" इत्यादि मन्त्र का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-इस से पूर्व ऋ० १० । १३० । १ में यह मन्त्र है कि-

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः० इत्यादि ।

जिस का तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ (सृष्टिरचनरूपयज्ञ) विश्वभर में फैला है ॥

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति० इत्यादि । ऋ० १० । १३० । २॥

परमात्मा इस सृष्टिरूप यज्ञ को रचता और उधेड़ता (प्रलय करता) है। फिर ऋ० १० । १३० । ३ मन्त्र यह है-

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीच्छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥

इस मन्त्र में यह प्रश्न किया है कि यदि सृष्टि को यज्ञस्वरूप में वर्णन करते हैं तो सृष्टिरूप यज्ञ का प्रमा, प्रतिमा, निदान, आज्य, परिधि, छन्द, प्रउग और उक्थ क्या २ वस्तु कल्पना करने चाहियें । इस में ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन नहीं है । आप न मानें तो सायणाचार्य के भाष्य को देख लीजिये-

विश्वसर्जनोपायत्वेन प्रजापतिना सृष्टे यज्ञे विश्वस्य स्रष्टारो विश्वसृजो देवाः विश्वसर्जनाय तं यज्ञमन्वतिष्ठन् तस्मिन् समये जगतोऽनुत्पत्तेः जगदन्तःपातिनो यागोप-

करणभूताः पदार्थाः कथमासन्नित्यनया प्रश्नःक्रियते—यद्वा विश्वे सर्वे साध्या देवा देवं प्रजापतिमयजन्त । तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथंभूतासीत् । तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य कासीत् । तथा निदानमादिकारणं यागे अप्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत् । तथा आज्यं घृतम् एतदुपलक्षितं हविर्वा तस्य यज्ञस्य किमासीत् । तथा परिधिः परितो धीयन्त इति त्रयःपरिधयो बाहुमात्राःपलाशादिवृक्षजन्याः परिपूर्वाद्धधातेः " उपसर्गे घोः किरिति " किप्रत्ययः के आसन्नित्यर्थः । तथा तस्य यज्ञस्य गायत्र्यादिकं छन्दः किमासीत् । प्रउगमुक्थम् उपलक्षणमेतत् आज्यप्रउगादीनि उक्थानि शस्त्राणि वा कान्यासन् । एतेषु प्रश्नेषु त्रयाणामुत्तरम्—

संसारोत्पादन के उपाय भूत, परमेश्वर के रचे यज्ञ में, संसार के उत्पादक (पृथिव्यादि सूक्ष्म भूत) देवतों ने उस यज्ञ का अनुष्ठान किया । परन्तु उस समय जगत् उत्पन्न नहीं हुवा था और जिन साधनों से यज्ञ किया जाता है वे पदार्थ जगत् के अन्तर्गत हैं इस लिये इस ऋचा में यह प्रश्न किया गया है कि यज्ञ के साधन तब किस प्रकार हुवे । उस सृष्टिरूप यज्ञ की "प्रमा" परिमाण क्या था ? उस की "प्रतिमा" हविः स्थानी पदार्थ जो हविः के स्थान में प्रतिनिधि था वह क्या था ? तथा " निदान " आदि कारण वा यज्ञ में अप्रवृत्त को प्रवृत्त कराने वाला फल क्या था ? और "आज्य" घृत और इस के साथी अन्य हव्यपदार्थ क्या थे? एवं "परिधि" जो बाहुमात्र पलाशादिवृक्षजनित ३ होती हैं और समीप में वेदी के रक्खी जाती हैं वे क्या थीं ? उस यज्ञ का गायत्र्यादि छन्द क्या था ? प्रउगउक्थादि स्तोत्र क्या थे ? इन में से ३ प्रश्नों का उत्तर—(अगले मन्त्र में वर्णित है)

अब " न तस्य० " मन्त्र में जो "मा मा हिꣳसीदित्येषा" यह प्रतीक है इस का पूरा मन्त्र और उस का अर्थ देखिये—

मा मा॑ हिꣳसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो॒वा दिवꣳ

सत्यधर्मा व्यानट् । यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम । यजुः ॥१२। १०२

अर्थः-(यः सत्यधर्मा) जो सत्य धर्म वाला परमेश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पादक (वा) और (यः) जो (दिवम्) द्युलोक को (च) और (अपः) जलों को और (चन्द्राः) चन्द्रमाओं को (जजान) उत्पन्न करता है उस (कस्मै) प्रजापति (देवाय) देव के लिये हम (हविषा विधेम) भक्तिपूर्वक सेवन करें॥ जिस से वह (मा) मुझे (मा हिंसीत्) न हिंसा करे ॥

" यस्मान्न जातः "-इस प्रतीक का पूरा मन्त्र यह है:-

यस्मान्न जातःपरो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिःप्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोड-
शी ॥ यजुः ८। ३८ ॥

(यस्मात्) जिस से (परः) उत्तम (न) नहीं (अन्यः) दूसरा (जातः) हुवा है। (यः) जो (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (आ विवेश) व्याप रहा है (सः प्रजापतिः) वह संसार का स्वामी (प्रजया) संसार के साथ (संरराणः) भले प्रकार दान करता हुवा (त्रीणि ज्योतींषि) तीन ज्योतियों को (षोडशी) प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम; इन प्रश्नोपनिषद् (६।४) में कही १६ कला वाला (सचते) समन्वित करता है ॥

इन मन्त्रों में भी कोई ऐसी बात नहीं आती जिस से परमात्मा की साकारता पाई जावे। न यह पाया जाता है कि सब जगत् ही परमात्मा है प्रत्युत सब जगत् में परमात्मा व्याप रहा है। यह पाया जाता है ॥

आगे द० ति० भा० पृष्ठ ३२६ से ३२८ तक में-(यद्वाचानभ्युदितम्) इत्यादि केनोपनिषद् के प्रमाण जो स्वामी जी ने मूर्त्तिपूजाखण्डन में दिये हैं उन का अर्थ करके लिखा है कि यह प्रतीकोपासना सिद्ध हुई ॥

प्रत्युत्तर-आप भी तो दृश्य की उपासना का निषेध करते हैं और द्रष्टा परमात्मा की उपासना का विधान करने वाला अर्थ करते हैं। बस जितने प्रतीक वा दृश्य पाषाणादि पदार्थ हैं वे पूजा उपासना योग्य नहीं और जो स्वयं अदृश्य तथा सब का द्रष्टा ब्रह्म है वही उपासनीय है। यह आप ही

के लेख से सिद्ध होता है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३२८ पं० २८ प्राप्तौ सत्यां निषेधः । प्राप्ति होने से निषेध होता है तौ मूर्त्तिपूजन वेद से भी पूर्व का सिद्ध हुआ ॥

प्रत्युत्तर–तौ वेदादि शास्त्रों में झूठ, छल, छिद्र, जाल, अभिचार, मद्य, मांसादि का जितना निषेध है आप के मतानुसार सब पूर्व का होने से त्याज्य नहीं ? धन्य हो। विहित का अनुष्ठान और निषिद्ध का त्याग ही कर्तव्य होता है, यह सब भूमण्डल का सिद्धान्त है। आप निषिद्धको पूर्वका होनेसे ग्राह्य समझते हैं, यह आप की जडोपासनाजटितबुद्धि का फल है ॥ धर्माधर्म दोनों ही सनातन हैं परन्तु धर्म करना और अधर्म न करना चाहिये। किन्तु आप का तौ जो सनातन है वही कर्त्तव्य है इस लिये आप निषिद्ध भी सनातन को ही मानेंगे सो मानिये ॥

स्वामी जी ने जो युक्तिपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में मूर्त्तिपूजा के १६ दोष दिखाये हैं उन के उत्तर में द० ति० भा० पृ० ३३१ से ३३७ तक १६ दोषों का उत्तर और मूर्त्तिपूजा के १६ लाभ बताये हैं जिन का उत्तर एक एक करके इस लिये आवश्यक नहीं कि साधारण आर्यलोग भी इस प्रकार के प्रश्नोत्तर कर लेते हैं। कोई शास्त्रसम्बन्धी प्रमाण नहीं, हां उस में जो मुख्य २ तर्क हैं उन का उत्तर दिया जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३७ पं० ३१ में—

नाम ही नामी को मिला देता है ॥

प्रत्युत्तर–तौ बस परमेश्वरादि नाम ही परमात्मा से मिला देंगे, मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३३ पं० १४ में—

जब उस के नाम और मूर्त्ति की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं तौ वह स्वयं उपस्थित हो तौ कितनी प्रतिष्ठा हो ॥

प्रत्युत्तर–आप तौ पूर्व सब जगत् को ही साकार ब्रह्म बता चुके हैं, फिर यहां यह क्यों लिखते हो कि " यदि वह स्वयं उपस्थित हो " इस से यह विदित होता है कि वास्तव में स्वयं मूर्त्ति को साक्षात् परमेश्वर नहीं मानते। इस से आप का " न तस्य प्रतिमा " के अर्थ में लिखा सब वस्तुमात्र साकार ब्रह्म है, लिखना ठीक नहीं, हां हां मैं भूल गया, वह आप का तौ लेख और भाषा नहीं किन्तु साधुसिंहादि की कृपा वा प्रसाद है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३३ पं० २२ में-

क्या इन मूर्त्तियों से महारानी और लाट प्रिन्सादि कुछ बुरा मानते हैं प्रत्युत प्रसन्न होते हैं ॥

प्रत्युत्तर-महाराणी आदि साकार हैं इन की मूर्त्ति उचित हैं इस लिये प्रसन्न होते हैं । निराकार शुद्ध परमात्मा में साकारत्वादि दोष कल्पना निसन्देह उस की अप्रसन्नता का कारण हो सकता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३१ पं० १६ से-

जहां मूर्त्तिपूजन नहीं होता उस देश की पृथिवी में अधिक सुगन्धित पुष्प नहीं होते यह इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर-धन्य हो ! जब अन्यदेशों में अविद्यावश बौद्धमत वा रोमन कैथोलिक लोग मूर्त्तिपूजा अधिक करते थे तब क्या वहां पुष्प सुगन्धि अधिक थी ? और अब नहीं रही ? प्रत्युत विद्या के प्रभाव से अब अन्य देशों में भी सुगन्धियुक्त पुष्प अधिक होने लगे हैं । विद्वान् मालियों ने अनेक युक्तियों से सुगन्धियुक्त पुष्प बोने आरम्भ कर दिये हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ३३८ पं० १३ से-

अब मूर्त्तिपूजन प्रतिष्ठादि वेदमन्त्रों से लिखते हैं-"यज्ञस्य शीर्षच्छिन्न-स्य रसो व्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यम्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चा-ऽपां च महावीराः कृता भवन्ति तस्मान्मूर्त्तिनिर्माणाय मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । इत्यादि । शतपथ १४ । १ । २ । ९

प्रत्युत्तर-इस से अधिक धर्मात्मापना क्या होगा कि शतपथ ब्राह्मण में न तौ इस क्रम से पाठ है, और पाठ में भी लिखते छपते कुछ भूल हो जावे यह संभव है । परन्तु शतपथ में " मूर्त्तिनिर्माणाय " यह पद भी नहीं है ! और आप ने अपनी ओर से स्वार्थसाधनार्थ मिला दिया । यदि कोई न्याय करने वाला हो तौ आप की गति क्या हो !!! शतपथ ब्राह्मण छापा बर्लिन पृष्ठ १०२४ में—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । अभ्रया च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवीअगच्छद्य-

न्मृदियं तस्मादापोऽसौ तन्मृदश्चाऽपां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरोराध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै संभरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इति यज्ञो वै मखो यज्ञाय वा यज्ञस्य वा शीर्ष्णे इत्येवैतदाह ॥ शतपथे १४।१।२।९

इस में न तो उस क्रम से पाठ है और न "मूर्त्तिनिर्माणाय" पद है। और न इस पद के विना कुछ भी आप का प्रयोजन सिद्ध होता है। तात्पर्य तो यह है कि "देवी द्यावापृथिवी० यजुः ३७। ५ इस मन्त्र से यज्ञ में महावीर संज्ञक यज्ञपात्र निर्माणार्थ मिट्टी का डला (पिण्ड) लावे ॥

अब हम शतपथ ब्राह्मण से ही यह भी दिखलाना चाहते हैं कि महावीर हवन के पात्र विशेष की संज्ञा है। यथा—

तदाहुः। यद्वानस्पत्यैर्देवेभ्यो जुहृत्यथ कस्मादेतन्मृन्मयेनैव जुहोतीति। इत्यादि शतपथे १४।२।१।५३

जिस का भावार्थ यह है कि महावीर संज्ञक पात्र मिट्टी के क्यों बनावे वनस्पति (काष्ठ) के पात्रों से देवतों को हवन किया करते हैं सो यह भी काष्ठ के क्यों न बनाये जावें ? इस का उत्तर अगली कण्डिका में स्पष्ट दिया है कि—

स यद्वानस्पत्यः स्यात् प्रदह्येत। यद्धिरण्मयःस्यात्प्रलीयेत। यल्लोहमयः स्यात्प्रसिच्येत। यदयस्मयः स्यात्प्रदहेत्परीशासावथैष एवैतस्मा अतिष्ठत। तस्मादेनं मृन्मयेनैव जुहोति॥

शतपथे १४।२।१।५४

अर्थात् काष्ठ के का यह भय है कि वह अग्नि में भस्म हो जावे। सुवर्ण का गल जावे। लोहमय चू जावे। अयोमय फूंकने लगे। इस लिये यही ठीक है कि मृन्मय (मिट्टी के) से होम करे॥

इस में भी जुहोति क्रिया से महावीर का होमसाधन होना पाया जाता है। परमात्मा की मूर्त्ति होना नहीं। आप ने भी पृष्ठ ३५१ में यह कण्डिका पाठभेद करके लिखी है और "जुहोति=हवन करता है"। इस पद का अर्थ मूर्त्ति बनाना किया है। जो किसी व्याकरण कोष निरुक्तादि का मत नहीं। और यदि आप ही के पक्ष को मान लें तो काष्ठ पाषाण पीतल आदि की मूर्त्ति वर्जित रहें, केवल मट्टी की मूर्त्ति बनाई जावें॥

मन्त्र में "द्यावापृथिवी" लिङ्ग है इस से मिट्टी के विषय में शतपथकार ने इस का विनियोग किया है। मन्त्र अर्थ सहित हम नीचे लिखते हैं परन्तु यज्ञप्रकरण में इस के उपमालङ्कार से उपदिष्ट स्त्रीशिक्षा का प्रयोजन नहीं है। यथा–

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ यजुः ३७। ३॥

(देवी) उत्तम गुणयुक्त (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि के तुल्य स्त्रियो! (अद्य) इस समय (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (देवयजने) देवयज्ञ में (वाम्) तुम दोनों के (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग को मैं (राध्यासम्) सिद्ध करूं (मखस्य शीर्ष्णे) यज्ञ के उत्तमाङ्ग के लिये (त्वा) तुझ को और (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) तुझ को सिद्ध करूं॥ ३॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३३९ पं० ११ में जो शतपथ का पाठ लिखा है, उस में भी "मूर्त्तिनिर्माणाय" यह अपनी रचना का मिला दिया! धन्य आप का साहस!! इस में बंबी की मिट्टी लेने का विधान है क्योंकि अगले मन्त्र में "वम्रयः" लिङ्ग आया है। इस से बंबी के विषय में इस का विनियोग किया है। मन्त्र अर्थ सहित नीचे लिखे अनुसार है॥

यह भी ध्यान रहे कि आप ने जो मूल मन्त्रों के अर्थों में बार २ "हे महावीर" लिखा है सो मन्त्रों में महावीर पद का चिह्न तक नहीं। प्रत्युत इस ३७ वें अध्याय भर में महावीर शब्द तक नहीं आया। यथा–

देव्यो वम्रयो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वो
द्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ यजुः ३७। ४॥

हे (प्रथमजाः) पहले से हुईं (वय्यः) थोड़ी अवस्था वालीं (देव्यः) देवियो ! (भूतस्य) सिद्ध हुए (मखस्य) यज्ञ की (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) देवयज्ञ में (अद्य) आज (वः) तुम लोगों को (शिरः) शिर के तुल्य (राध्यासम्) मैं सिद्ध किया करूं, शेष पूर्ववत् ॥ ३७ । ४ ॥

शतपथ बर्लिन का छपा पृष्ठ १०२५ कण्डिका १२ में यज्ञार्थ अजाक्षीर लेने का वर्णन है, परन्तु मूर्त्ति का वहां चिन्ह भी नहीं, पुस्तक बढ़ने के भय से पाठ उद्धृत नहीं किया, जो चाहें सो उस पुस्तक के इसी पते पर देख सकते हैं। वहां मूर्त्ति शब्द तक नहीं आया ॥

इस का मन्त्र यजुः ३७ । ७ है इस में भी महावीर पद नहीं आया।

द० ति० भा० पृ० ३४२ पं० १० में-

सर्वानेवास्मा एतद्देवानभिगोप्तृन्करोति । श० १४ । १ । २ । १५

प्रत्युत्तर-इस में भी मूर्त्ति शब्द नहीं आया, फिर आप इन का अर्थ करते समय पं० २० में मूर्त्तिशब्द कहां से ले आये ? न मन्त्र ३७ । ७ में कहीं भी मूर्त्ति शब्द है, न महावीर शब्द है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३४३ में-अथ मृत्पिण्डमुपादाय त्रीन्महावीरान्करोति । इत्यादि । फिर इस के अर्थ में-मृत्पिण्ड लेकर महावीर की ३ मूर्त्ति बनाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप के समान न तो शतपथ में पाठ है । न मूर्त्ति शब्द है । किन्तु नीचे लिखे अनुसार पाठ है-

मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः प्रादेशमात्रं, प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संगृहीतं,मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात् त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तं निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत्सौम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳫं रौहितकपाले ॥ शतपथे १४ । १ । २ । १७

कछुवे आदि के कपाल के सांचे से उसी प्रकार के ये ३ मृत्पात्र बनाने की विधि है । मिट्टी का डला लेकर एक महावीर बनावे और "मखाय त्वा"

३१ । ८ पढ़े । वह महावीर प्रादेशमात्र (८ अङ्गुल) लम्बा चौड़ा गोल बनावे क्योंकि कपाल (जो उस का सांचा=सैट्रिम है) भी प्रादेशमात्र ही होता है । और बीच में महावीर पात्र सुकड़ा रहे जैसा कि शिर बीच में सुकड़ा होता है । और ३ अङ्गुल का ऊपर को मुंह उस पात्र का उठावे, जिस से उस में का हव्य पदार्थ अग्नि में सुगमता से निकल जावे, और आगे को नाक सी बनादेवे जैसी कि कछुवे की होती है । इसी प्रकार दूसरे और तीसरे महावीरों को बनावे । फिर विना मन्त्र चुप चिन्वन और चुप ही दो रौहित कपाल बनावे । ये पात्र कपाल खोपड़ी के आकार के होते हैं इस लिये इन का सांचा भी खोपड़ी और प्रायः नाम भी कपाल होता है ॥ इस प्रसङ्ग में महावीरों का पात्र विशेष होना और भी स्पष्ट हो गया ॥

द० ति० भा० पृ० ३४४ । ३४५ । ३४६ । ३४७ । ३४८ में महावीर संज्ञक पात्रों को धूप में सुखाना, अग्नि में पकाना, अग्नि से निकालना, बकरी के दूध में धोना, प्रोक्षण करना, पोंछना, घृत से चिकनाना, उस की प्रशंसा करना, प्राणादि से उन को फूंक द्वारा फूंकना. (देखो श० १४ । १ । ३ । ३०) लिखा है और आपने उसे मूर्त्ति पर घटाया है । परन्तु यजुः ३७ अध्याय के जो २ मन्त्र आप ने दिये हैं न तो उन मन्त्रों में मूर्त्ति पद आया, न शतपथ ब्राह्मण में, किन्तु आप ने सारे संसार को अन्धा समझ के वा आंखों में धूल डालने के विचार से अन्धाधुन्ध (मूर्त्तिनिर्माणाय *) पद घुसेड़ दिया । जिस से समस्त प्रकरण का अर्थ लौट गया । पाठक लोग यजुः अध्याय ३७ के जितने मन्त्र हैं उन का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कृत भाष्य में भी उपस्थित है, वहां देख सकते हैं, यहां लिखने से पुस्तक बढ़ेगा । नवीन कोई बात नहीं जिस के लिये पुस्तक बढ़ाया जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ३४९ । ३५० में हवन के मन्त्रों को मूर्त्ति फटजाने का प्रायश्चित्त होम बताया है सो जब मूर्त्ति का प्रकरण ही नहीं किन्तु यज्ञ-पात्रों का है, फिर उन के लिखने की आवश्यकता ही क्या है । तथा आप की अन्त्येष्टि पद्धति और स्वामिदया० जी कृत अन्त्येष्टि में इन मन्त्रों को लिखा है, सो आप ने मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने में लगा दिया ! धन्य हो !!

* दूसरी बार के छपे द० ति० भा० में न जाने क्यों, मूर्त्तिशब्द नहीं है, किन्तु (निर्माणाय) इतना ही है । परन्तु भाषार्थ में फिर भी " मूर्त्ति-निर्माणार्थ " ही लिखा है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० ६ से—

उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ।
(अथर्व० ७ । १९ । १)

प्रत्युत्तर–(सायणभाष्यम्–)

प्र नभस्व इति वृष्टिकामो मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः । "प्रनभस्वइति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" कौ० ५ । ५ ॥

२–दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं "नघ्रंस्तताप" इत्यनयाऽनुमन्त्रयेत ॥

मन्त्रभाष्यम्–अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते तदर्थमादौ अतिवृष्ट्या भूमेर्बाधा माभूदिति, तस्याःस्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते । हे पृथिवि ! विस्तीर्णे भूमे ! त्वं प्रनभस्व । नभतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षेण सङ्गता उच्छ्वसिता भव । अयमर्थः–सस्यादिवृद्ध्यर्थं पर्जन्यस्तवोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति, तयातिवृष्ट्या त्वं शिथिलावयवा मा भव किन्तु दृढा भवेति ० ० ० ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिं जलपूर्णां भस्त्रां मेघरूपां विष्य विमुञ्च । यथा जलपूर्णात् दृतिमुखात् महज्जलं स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

इस में भी मूर्त्ति का वर्णन नहीं है, इस के लिये हम ने आप ही के पक्ष का सायणभाष्य ऊपर लिखा है । जिस का तात्पर्य यह है कि–

"प्रनभस्व–इस मन्त्र से वर्षा की कामना करके मरुतों वा मन्त्ररूप देवतों के लिये दूध, चावल का होम है । इस विषय में कौथुमीय० ५ । ५ का प्रमाण है । दर्श पौर्णमासेष्टियों के पत्नी संयाजों में (नघ्रंस्तताप) इस मन्त्र का विनियोग है" ॥

प्रनभस्व० इसी ऋचा का उत्तरार्ध आप ने लिख दिया है । मन्त्र के आरम्भ से सायणभाष्य का (जो ऊपर लिखा है) आशय यह है कि–

"इस में दूसरे पाद से लेके ३ पादों में वृष्टि के लिये पर्जन्य देवता की प्रार्थना है। इस लिये प्रथम यह कहा है कि अतिवृष्टि से पृथिवी की बाधा न हो। इस कारण पहले पाद में पृथिवी की स्थिरता चाही गई है। हे पृथिवि ! विस्तृत भूमि ! तू अत्यन्त उच्छ्वसित हो अर्थात् खेती आदि की वृद्धि के लिये पर्जन्य तुझ पर बड़ी वर्षा करेगा, उस से तू ढीली न होना, किन्तु दृढ रहना" ॥

अब उत्तरार्ध का अर्थ सायणकृत सुनिये, जो आप ने मूर्त्तिपूजा पर लगाया है—

"(ईशानः) वर्षा करने में समर्थ तू (दृतिम्) जलभरी मशक [मेघ] को (वि-ष्य) छोड़। जैसे जल भरी मशक के मुख से ध ध ध ध जल गिरता है, ऐसे मेघों से भारी वर्षा कर" ॥

इस सायणभाष्य से भी यह स्पष्ट हो गया कि दृति का अर्थ चमड़े की मशक है। मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर नहीं। तथा पृष्ठ ३५५ में जो आप ने (नग्नं स्ततापं) मन्त्र से मूर्त्तिपूजा सिद्ध की है, उसे भी सायणाचार्य ने यहीं बता दिया है कि यह मन्त्र दर्शपौर्णमास इष्टियों में यजमानपत्नी के संयाजों में सौम्ययाग के अनुमन्त्रण में काम आता है, मूर्त्तिपूजा में नहीं। विस्तार के भय से आगे हम इस का सायणभाष्य न लिखेंगे। यद्यपि हम सायणभाष्य को सर्वांश प्रमाण नहीं करते, परन्तु आप का मुख बन्द करने को तो सायणभाष्य पुष्कल प्रमाण है और विशेष कर जब कि आप का किया अर्थ प्रमाणरहित और सायण का प्राचीन आप का माना हुवा और कौथुमादि के प्रमाणयुक्त है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० १४ से—

एह्यश्मा॑न॒मा ति॑ष्ठा॒श्मा भ॑वतु ते त॒नूः। कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ अथर्व कां० २। सू० १३। मं० ४

प्रत्युत्तर—

(सायणः सूक्तारम्भे) आयुर्दा इति सूक्तं गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि अनुयोजयेत्। "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत्सूक्तमनुयोजयति" कौ० ७। ४ एह्यश्मानमित्यनया दक्षिणेन पादेनाश्मानमास्थापयेत्। (मन्त्रभाष्यम्) हे माणवक ! एहि आगच्छ। अश्मानम् आतिष्ठ, दक्षिणेन पादेन क्रम। ते तव तनूः शरीरम् अश्मा

भवतु । अश्मवत् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु । विश्वे देवा-श्च ते तव शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु ॥

अर्थ-इस सूक्त के आरम्भ में सायणाचार्य कहते हैं कि (आयुर्दा०) यह सूक्त गोदान संस्कार में विनियुक्त किया जाता है । कौथुमशाखीय १ । ४ के प्रमाण से सायणाचार्य कहते हैं कि इस से शान्ति का जल करते हैं । अर्थात् (एह्यश्मान०) इस मन्त्र से संस्कार वाले बालक का दहिना पांव पत्थर पर रखवावे । सायणाचार्यकृत मन्त्रार्थ-हे बालक ! आ पत्थर पर बैठ । तेरा शरीर पत्थर अर्थात् पत्थर के तुल्य रोगादिरहित पुष्ट हो । सब देवता तेरी १०० वर्ष की आयु करें ॥

(आयुर्दा०) इस सूक्त का चतुर्थ मन्त्र (एह्यश्मानमातिष्ठ०) यह है । जिस का अर्थ सायण तो कौथुमीय प्रमाण पूर्वक यह करते हैं कि बालक की लात (चरण) पत्थर पर लगवाया जाय । और आप मूल विरुद्ध, सायणविरुद्ध और कौथुमीय प्रमाणविरुद्ध मूर्त्ति (पत्थर) का पूजना सिद्ध करते हैं । उस में वा उस से पिछले मन्त्र में कोई परमेश्वर का वाचक शब्द भी नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० २१ में-दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । इत्यादि यजुर्मन्त्र ३६ । १८ के (दृते) पद का अर्थ (हे मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर ! किया है ॥

प्रत्युत्तर-शेष मन्त्र के अर्थ में कोई विवाद नहीं केवल (दृते) पद के अर्थ में विवाद है । आप "दृति" का अर्थ मूर्त्तिव्यापक किस प्रमाण से लेते हैं ? निघण्टु में तो दृति मेघ का नाम है । आप के मान्य अमरकोष में-

दृतिसीमन्तहरितो रोमन्थोद्गीथबुद्बुदाः ।

तृतीयकाण्ड लिङ्गादिसंग्रहवर्ग श्लोक १९ के महेश्वरकृत अमरविवेक टीका में-

दृतिः चर्मपुटः ।

अर्थात् चमड़े के कुप्पे वा " मश्क " को दृति लिखा है । मेदिनीकोष का प्रमाण भी उक्त टीकाकार देता है कि-

दृतिश्चर्मपुटे मत्स्येनेति मेदिनी ।

यदि आप महीधर भाष्य को प्रमाण करते हों तो उसी को देखिये । वह (दृते) का अर्थ करता है कि-

(दृते) दृ विदारे, विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे।

अर्थात् बुढ़ापे से शरीर शिथिल होने पर ॥

दूसरा अर्थ महीधर ने यह किया है कि–

यद्वा–ससुषिरत्वात्सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः ॥

अर्थात् छेदयुक्त और सींचने का पात्र होने से दृति महावीर पात्र का नाम जानो ॥

फिर हम नहीं जानते कि आप (मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर) अर्थ किस आधार पर करते हैं। यथार्थ में तो वे दक शब्दों के यौगिकार्थ बल से यहां "दृ विदारणे" धातु के अर्थाश्रय से केवल यह अर्थ है कि (हे सर्वदुःखविदारक !) आगे मन्त्रार्थ सुगम और निर्विवाद है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १७ में–दृते दृꣳह माज्योक्के संदृशि जीव्यासम्॰ अथर्व॥

प्रत्युत्तर–यहां भी दृति का अर्थ मूर्त्तिव्यापक करना सर्वथा निर्मूल है। ठीक अर्थ यह है कि " हे सर्वदुःखविदारक ! मैं आप की दृष्टि में चिरञ्जीव होऊं " यदि आप सायणाचार्य का भाष्य भी मानें तो उक्त दोनों ठिकाने के (दृते) पद का सायणीयभाष्य ही देखें। उस में भी मूर्त्तिव्यापक अर्थ नहीं है। तथा आप इसे अथर्व के पते से लिखते हैं परन्तु पूर्व यजुर्मन्त्र के ३६। १८ से आगे यजुर्वेद में ही १९ वां है ॥ इस लिये उक्त महीधरभाष्य से भी आप का अर्थ विरुद्ध है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १८ में (नमस्ते हरसे) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–इस मन्त्र में तो (दृति) पद भी नहीं फिर हे मूर्त्तिव्यापक अर्थ किसका ? (अर्चिषे) का अर्थ "तेजःस्वरूप" है आप ने "स्वमूर्त्तिप्रकाशकाय" कहां से लिया ? (अन्यान्) का अर्थ "मूर्त्तिपूजनविमुखान् नास्तिकान्" भी कैसे हुवा ? (नमस्ते हरसे) इस मन्त्र को महीधर ने लिखा है कि इस को १७। ११ में व्याख्यात कर चुके हैं। सो वहां का भाष्य देखिये–

"हे अग्ने ते तव शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु। कीदृशाय शोचिषे हरसे हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै हरतेरसुन्प्रत्ययः। ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु। अन्यदुक्तम् ॥

अर्थ-हे अग्ने ! तेरे (शोचिषे) प्रकाश के हेतु तेज को (नमः) नमस्कार है। कैसा तेज है कि (हरसे) सब रसों का शोषणे वाला (अर्चिषे) दूसरे पदार्थों को चमकाने वाला। अन्य पूर्व कह चुके हैं॥

इस से भी अग्नि का वर्णन पाया जाता है मूर्त्तिव्यापक का चिह्न तक नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३५४ पं० ९ में-यतोयतः समीहसे० ॥ इस का अर्थ लिखा है कि (यतः) जिस राम कृष्णादि अवतार से—

प्रत्युत्तर-यह भी अनर्गल है। अर्थ यह है कि जहां २ से आप चेष्टा करते हैं वहां २ से हम को निर्भय करो॥

द० ति० भा० पृ० ३५४-३५५ में-

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्यादिशोऽघायुरभिदासात् एतत्स ऋच्छात्॥ अथर्व के ५। १०। १ से ७ तक के ७ मन्त्र लिख कर अर्थ किया है कि हे इष्टदेव ! मूर्त्तिव्यापक परमेश्वररूप ! तुम मेरे कवच हो इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-मन्त्रार्थ यह है (अश्मवर्म) पाषाणतुल्य पुष्ट कवच (मे) मेरा (असि) है (यः) जो (अघायुः) पापी शत्रु (मा) मुझे (प्राच्यादिशः) पूर्व दिशा से (अभिदासात्) मारे (सः) वह दुष्ट (एतत्) इस मार को (ऋच्छात्) प्राप्त हो। इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम उत्तर ऊपर नीचे और अन्तराल दिशाओं से भी कवच द्वारा शत्रुओं से बचने का वर्णन है। परन्तु (हे मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर !) यह किसी पद का अर्थ नहीं। क्या आप यह समझते हैं कि जहां २ अश्मादि पत्थर का वाचक कोई शब्द आजावे वहां २ पत्थर में व्यापक वा मूर्त्ति में व्यापक परमेश्वर का ही वर्णन है ?

द० ति० भा० पृ० ३५५ पं० १६ में-नघ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः। आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्। अथर्व ७। १८। २ का अर्थ करते हुवे (सोमः) का अर्थ (मूर्त्तिव्यापको देवः) किया है॥

प्रत्युत्तर-जब कि आप स्वयं सोमशब्द पर यह शतपथ १२। ६। १। १ लिखते हैं कि:—

सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिःतस्यैतास्तन्वीयाएता देवताः।

(तथा)-सर्वं हि सोमः। श० ५। ५। ४। १० ॥

जिस का अर्थ यह है कि "सोम राजा यज्ञ है जो प्रजा का पालक है और ये अन्य देवता उस (यज्ञ) के अङ्ग हैं।" दूसरे शतपथस्थ पाठ का अर्थ यह हुवा कि "सब ही सोम है" फिर सोम शब्द का अर्थ "मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर" कैसे हुवा ? वेदमन्त्रार्थ में विवाद ही क्या है। यह तो हम को भी स्वीकृत है कि जहां (सोम) यज्ञ होता है, वहां कल्याण है. वहां सूर्यादि के तापजनित रोग, ओलों की वर्षा आदि अनिष्ट नहीं होते॥

द० ति० भा० पृ० ३५६-३५७ में स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश पृ० २९८ लिखित-

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।

इत्यादि लेख पर यह दोष दिया है कि स्वामी जी ने पौन श्लोक लिखा है, समस्त लिखते तो क़लई खुल जाती। और स्वयं पूरे दो श्लोक लिखे हैं।

प्रत्युत्तर-मुख्य बात यह है कि हिन्दू लोग जो कहते हैं कि रामेश्वर महादेव लिङ्ग को रामचन्द्र ने पूजा। इस पर स्वामी का कथन है कि यह बात वाल्मीकीय रामायण में नहीं लिखी किन्तु रामचन्द्र ने सीता को सेतुबन्ध दिखाया है। और यदि आप लिङ्गपूजा मानते हैं तो हम आप के लिखे दोनों पूरे श्लोकों को ही उद्धृत करके सार्थ लिखते हैं और पूछते हैं कि इन में भी लिङ्गस्थापन वा पूजा का वर्णन कहां है ? यथा-

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम्॥ १॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम्।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः॥ २॥

युद्धकाण्ड सर्ग १२५ श्लोक २०। २१॥

(राम कहते हैं कि हे सीते!) यह बड़े समुद्र का घाट दीखता है, इस को सेतुबन्ध कहते हैं, यह ३ लोक में प्रसिद्ध है, यह परम पवित्र स्थान है, यहां पापी महापातकों का प्रायश्चित्त करते हैं, यहां ही सर्वव्यापक देवों में बड़े महादेव परमात्मा ने (हम पर) कृपा की॥

अर्थात् हमने परमात्मा की कृपा से यह पुल बांधा। इस प्रकार पूरे दो श्लोक लिख देते और उन का अर्थ लिख देते तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि रामचन्द्रजी ने मूर्त्तिस्थापन वा लिङ्गपूजन किया हो। इस लिये स्वामी

जी ने जो एक श्लोक का १ पाद और दूसरे के २ पाद मात्र लिखे। उस का यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि शेष पादों से लिङ्ग पूजा सिद्ध हो जाने के भय से उन्होंने वे पाद छोड़ दिये। किन्तु अनावश्यक थे॥ आगे-

द० ति० भा० पृ० ३५७ पं० १४ से-(यत्र यत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः) इत्यादि उत्तरकाण्ड के दो श्लोकों से सिद्ध किया है कि रावण सदा जाम्बूनद सोने का लिङ्ग साथ रखता था और गन्ध पुष्पादि से पूजता था। इत्यादि।

प्रत्युत्तर-प्रथम तो वाल्मीकीय रामायण में प्रक्षेप अन्यों का संभव है दूसरे, उत्तरकाण्ड तो समस्त ही कल्पित है। इस के ये प्रमाण हैं-

१-बालकाण्ड के आरम्भ में ही लिखा है कि-

षट् काण्डानि तथोत्तरम्। सर्ग ३ श्लोक २

अर्थात् ६ काण्ड और उत्तरकाण्ड। इस शैली से यह ध्वनि निकलती है कि उत्तरकाण्ड पीछे से बना, अन्यथा "६ काण्ड और उत्तरकाण्ड" न कहते किन्तु इकट्ठा "७ काण्ड" कहते॥

२-युद्धकाण्ड के अन्त में रामायण का माहात्म्य विस्तारपूर्वक वर्णित है। माहात्म्य, ग्रन्थ के आदि वा अन्त में लिखा जाता है। इस से विदित होता है कि युद्ध (छठे) काण्ड पर ही रामायण समाप्त होगई॥

३-काक भुशण्डादि की असंभव कथाओं का तांता उत्तरकाण्ड में ही है। और अन्याययुक्त सीतापरित्याग की कथा भी इसी काण्ड में है। जिस को रामचन्द्र जैसे न्यायकारी पुरुष से अनहोनी मान कर कितने ही विद्वान् उसे नहीं मानते॥

४-राम नाम टीकाकार प्रायः सर्गों के सर्गों को प्रक्षिप्त मानते हैं और उन पर टीका नहीं करते। और ऐसे सर्ग उत्तरकाण्ड में सब से अधिक हैं॥ जैसा कि राम टीकाकार उत्तर के २३ सर्ग के अन्त में लिखता है कि-

इत उत्तरं पञ्च सर्गाः प्रक्षिप्ता बोध्याः॥

अर्थात् इस से आगे ५ सर्ग प्रक्षिप्त जानने। ऐसा ही बहुत जगह कहा है। फिर उत्तर के ३७ सर्ग से आगे ५ सर्गों को रामटीकाकार प्रक्षिप्त मानता है और कहता है कि—

कतकतीर्थाद्यैरनादृतत्वाच्च मयापि न व्याख्याताः

कतक तीर्थादि ने नहीं माने इस से मैंने भी टीका नहीं किया॥ फिर

उत्तर ५९ वें सर्ग के आगे ३ सर्गों को राम टीकाकार कहता है कि-

तीर्थकतकाद्यस्पृष्टत्वेन प्रक्षिप्तमिति न व्याख्यातम् ॥

तीर्थ कतकादि ने छुवे भी नहीं इस से प्रक्षिप्त जानकर हमने भी टीका नहीं की ॥

५-वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ में संक्षिप्त सब कथा के वर्णन में उत्तरकाण्ड की एक भी कथा नहीं गिनाई और श्लोक ८९ पर-

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥

अर्थात् रामचन्द्र सीता को पाय फिर राज्य को प्राप्त भये थे। इस प्रकार भूतकाल करके वर्णन किया है। फिर रामचन्द्र जी के भविष्यत् यज्ञ का वर्णन तो है पर सीता परित्याग का नहीं ॥

६-फिर बालकाण्ड सर्ग २ में रामायण की कथाओं का सूचीपत्र है। उस के अन्त में श्लोक ३८, ३९ में सूचीपत्र बनाने वाला कोई पुरुष कहता है कि-

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥
अनागतं च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

" अर्थात् प्रजापालन, सीतात्याग और जो कुछ भविष्यत् कथा है वह उत्तर काव्य में भगवान् वाल्मीकि ने बनाई। " स्पष्ट है कि यह लेख स्वयं वाल्मीकि जी का नहीं। और " उत्तर " का विशेष नाम लेने का भी प्रयोजन न था, जब कि सूचीपत्र की अन्यकथाओं के साथ काण्डों के नाम नहीं आये हैं ॥ इस से प्रतीत होता है कि यह षड्न्त है। तथा प्रथम सर्ग में कथाओं का सूचीपत्र आ ही चुका था फिर दूसरे ही सर्ग में नये सूचीपत्र की आवश्यकता भी न थी, किन्तु यह पुनरुक्ति इसी स्वार्थसाधन के लिये कीगई है। और

७-प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् । वा० बा० ३।१

अर्थात् राम को राज्य मिलने पर वाल्मीकि जी ने रामायण बनाई। पूर्व नहीं ॥

८-तथा सर्गशतान्पञ्च । वा० बा० ३ । २ ॥

अर्थात् ५०० सर्ग बनाये। इस पर राम टीकाकार लिखता है कि-

पञ्चशतरूपसर्गसंख्या षट्काण्डानामेव ।

अर्थात् ५०० सर्ग संख्या ६ काण्डों की ही है, ७ वें की नहीं ॥

तीसरी बात यह है कि इन श्लोकों में रावण राक्षसराज का लिङ्गपूजक होना लिखा है । सो जो रावण राक्षस के अनुगामी हों वे लिङ्गपूजा करें, जिस ने अन्य भी अनेक अनर्थ किये थे, उन में एक लिङ्गपूजा भी सही, परन्तु रामभक्तों को तो लिङ्गपूजा नहीं करनी चाहिये ॥

इति मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम् ॥

अथ-तीर्थप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३५९ में-नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च० । यजुः १६ । ४२ इस मन्त्र के "तीर्थ्य" पद से गङ्गादि तीर्थ सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर-इस मन्त्र में तीर्थ्य पद आया है परन्तु प्रयागादि का वर्णन आपने अपनी ओर से वा महीधर की देखा देखी लगाया है । मन्त्र में नहीं है । न मन्त्र में यह वर्णित है कि तीर्थ गङ्गादि को कहते हैं । प्रत्युत आप भी यह अर्थ करते हैं कि (हे शिव) (आप तीर्थरूप हो) जिस से शिव परमेश्वर ही तीर्थ-संसार से पार तिराने वाला पाया जाता है और ठीक अर्थ तो यह है कि-

समानतीर्थे वासी (अष्टाध्यायी ४ । ४ । १०७)

जो विद्यार्थी एक गुरु से पढ़ते हैं वे सतीर्थ्य कहाते हैं यही कौमुदी में लिखा है कि—

समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः

जिस से गुरु का नाम तीर्थ होता है । इस लिये "नमस्तीर्थ्याय" का अर्थ यह हुवा कि गुरुकुलवासी वेदादि के अध्येता (तीर्थ्य) पुरुष का (नमः) सत्कार अन्नादि से करना ॥

फिर द०ति०भा० पृ० ३५९ पं० १० में इमं मे गङ्गे यमुने० इत्यादि प्रमाण दिया है॥

प्रत्युत्तर-

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
ऋ० १० । ७५ । ५ ॥

(सायणभाष्यम्)

अत्र प्रधानभूताः सप्त नद्यः तदवयवभूतास्तिस्रः स्तूयन्ते हे गङ्गे हे यमुने हे सरस्वति हे शुतुद्रि हे परुष्णि हे असिक्न्या अवयवभूतया सहिते मरुद्वृधे, वितस्तया सुषोमया च सहिते आर्जीकीये ! एवं चैवं सप्त नद्यो यूयं मे स्तोमं स्तोत्रम् अस्मदीयमासचत आसेवध्वं शृणुहि शृणुत च । अर्जीकीयाया वितस्तया सुषोमया च साहित्यं निरुक्तं उक्तं वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया चेति। अत्र गङ्गा गमनादित्यादि निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

सायणभाष्य का भावार्थ–

इस में प्रधान ७ नदी और उन के अवयवभूत ३ नदियों की प्रशंसा की जाती है।१ गङ्गे । २ यमुने । ३ सरस्वति । ४ शुतुद्रि । ५ परुष्णि । ६ अवयव भूत असिक्नी सहित मरुद्वृधे । ७ वितस्ता और सुषोमा सहित आर्जीकीये ! इस प्रकार ७ नदियो ! तुम मेरे स्तोत्र को सेवित करो और सुनो ॥

आर्जीकीया का वितस्ता और सुषोमा के सहित होना निरुक्त में कहा है कि "वितस्ता तथा सुषोमा सहिते ! आर्जीकीये ! सुन" ॥ इस में "गङ्गा गमनात्" इत्यादि निरुक्त देखना चाहिये ॥

अब सायणाचार्य के भाष्य से भी पापनाशकता, तीर्थता और मोक्षदायकता का गन्ध तक नहीं आता । फिर यह प्रमाण पं० ज्वा० प्र० जी के पक्ष को पुष्ट कहां करता है ? नहीं करता ॥

किसी को दो सन्देह सायणभाष्य से नये उत्पन्न होंगे । १–यह कि नदियों को सम्बोधन और सुनना क्यों वर्णन किया है। २–यह कि यदि गङ्गा को भगीरथ ने बहाया, तौ भगीरथ के पितृ पितामहादि के समयों में वर्त्तमान ऋग्वेद में उस का वर्णन तथा अन्य नदियों का वर्णन कैसे आया ॥

१–प्रथम का समाधान तौ हमारी समझ में यह है कि–(तास्त्रिविधा-

ऋचः परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च) निरुक्त ७।१ अर्थात् वेदों में ३ प्रकार की ऋचा हैं। १ परोक्षकृता। २ प्रत्यक्षकृता। ३ आध्यात्मिकी॥ इन में से (अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना) निरु० ७।२ प्रत्यक्षकृताओं में मध्यमपुरुष और त्वम् (तू) यह सर्वनाम आता है॥

इस से जाना जाता है कि वेद की यह शैली है कि प्रत्यक्ष पदार्थों को इस प्रकार प्रयोग में लाता है। हम को उस का अर्थ समझते समय अपनी शैली जो वर्त्तमान भाषा की है उसी में तात्पर्य समझ लेना चाहिये। कुछ यहां नदियों के विषय में ही ऐसा हो सो नहीं। किन्तु अग्ने! वायो! सूर्य! मुसल! उलूखल! पूषन्! चन्द्र! इत्यादि सम्बोधनों से वेद भरे पड़े हैं। उन सब की सङ्गति इस निरुक्त से हो जाती है। कहीं २ वेद के अग्न्यादि पदों में श्लेषालङ्कार होता है। वहां परमेश्वरविषयक अर्थ में सम्बोधन आवश्यक होता है। यह भी उन २ अग्नि वायु आदि पदों में सम्बोधन के प्रयोग का कारण है।

व्याकरण में (सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च॥
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन) यह कारिका॥

व्यत्ययो बहुलम् (३।१।८५)

इस सूत्र पर है। इस से भी प्रथम मध्यम उत्तम पुरुषों का व्यत्यय वेद में बतलाया गया है। इसलिये वेद की यह शैली (मुहावरा) जान पड़ता है॥

२-दूसरे का समाधान भी इसी मन्त्र के निरुक्त से हो जायगा। यह तो प्रसिद्ध ही है कि वेद में प्रायः यौगिक शब्द हैं। तदनुसार इस मन्त्र में आये समस्त नदीवाचक पदों का अर्थ निरुक्त ने इस प्रकार किया है जिस को सायणाचार्य ने संकेतमात्र लिखकर छोड़ दिया है। यथा निरुक्त ९।२६—

१—गङ्गा गमनात्

गमन से गङ्गा। अर्थात् गति वा चाल वा बहाव प्रशंसित हो॥

२-यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा।

जोड़ती हुई चलने वा जुड़ी हुई चलने से यमुना॥

३-सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वती।

अर्थात् सृ धातु से सरस् जल का नाम है, उत्तम जल वाली सरस्वती जानो॥

४-शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा॥

अर्थात् शीघ्र भागने वाली शीघ्रव्यथित सी चलने वाली को शुतुद्री जानो

५-इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी ॥

पर्वों जोड़ों वाली, प्रकाश वाली, कुटिलगामिनी को परुष्णी जानो। इसी से इरावती नदी का नाम परुष्णी पड़ा ॥

६-असिक्न्यशुक्लासिता, सितमितिवर्णनामतत्प्रतिषेधोऽसितम्

अशुक्ला वा असिता होने से असिक्नी। सित वर्ण का नाम है उस का उलटा असित ॥

७-मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति ॥

मरुद्वृधा सब नदी हैं क्योंकि मरुत् इन को बढ़ाते हैं ॥

८-वितस्ता विदग्धा विवृद्धा महाकूला ॥

विदग्धा वा विशेष बड़ी वा बड़े किनारों वाली को वितस्ता जानो॥

९-आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ऋजूकप्रभवा वर्जुगामिनी वा।

ऋजूक से उत्पन्न होने वाली वा ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो। इसी से विपाशा नदी को आर्जीकीया कहते हैं ॥

इस निरुक्त के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इन २ लक्षणों वाली नदी होती हैं और जिस २ नदी में जो २ लक्षण पाये गये, लोक में उस २ नदी को पीछे से उस २ नाम से पुकारने लगे। जैसे कि निरुक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि आर्जीकीया ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम पड़ गया। और पर्वों वाली आदि लक्षणों से इरावती का दूसरा नाम परुष्णी पड़ा ॥

इस से यह जानना चाहिये कि वेद में आये गङ्गा आदि नाम भागीरथी आदि के वाचक नहीं किन्तु वेदोक्त लक्षणयुक्त होने से भागीरथी आदि के गङ्गा आदि नाम पीछे से प्रचरित हुवे ॥

द० ति० भा० पृ० ३६० पं० १ से-सरस्वती सरयुः सिन्धुरुर्मिभिः। इत्यादि प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महोमहीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥
(ऋ० १०। ६४। ९)

सायणभाष्यम्-

महो महतोऽपि महीर्महत्यः अत्यन्तं महत्यः ऊर्मिभिः सहिताः सरस्वती सरयुः सिन्धुः एतदाद्या एकविंशतिसंख्याकाः वक्षणीः इमा नद्यः अवसा रक्षणेन हेतुना आयन्तु अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छन्तु ततः देवीः देवनशीला मातरो मातृभूताः सूदयित्न्वः प्रेरयित्र्यः तासामापः घृतयुक्तं मधुमत् मधुसहितमात्मीयं पयः नोस्मभ्यमर्चत प्रयच्छत ॥

(सायणभाष्य का भावार्थ) बड़े से बड़ी अत्यन्त बड़ी लहरों सहित सरस्वती, सरयू सिन्धु इत्यादि २१ प्रकार की नदी हैं, वे रक्षा हेतु आवें, हमारे यज्ञ में प्राप्त हों और दिव्यशील माता के समान प्रेरणा वाली उन का जल मधुरतायुक्त है। वे अपने जल देवें ॥ १ ॥

इस सायण के भाष्य का भी भावार्थ यही निकलता है कि २१ प्रकार की भारी २ नदियों के जल से हमारी रक्षा होवे और यज्ञ कार्य में उन के मधुर जल वर्त्ते जावें। वे हमारा माता के समान पोषण करती हैं। माता दुग्ध पिलाती है, ये मीठा जल पिलाती हैं। इस में भी पापनाशन और मोक्षदान का कुछ भी वर्णन नहीं आया ॥

द० ति० भा० पृ० ३६० पं० १४ से-आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीत्। इत्यादि मन्त्र से तीर्थ सिद्ध किये हैं—

प्रत्युत्तर- इस में सरल शब्दार्थ भी देखा जावे तो गङ्गादि तीर्थों का लेशमात्र वर्णन नहीं। पदार्थ सहित मन्त्र पढ़िये:—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत् ।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत ॥

(ऋ० १ । १६१ । ९)

अर्थः—(एकः) एक तो (अब्रवीत्) कहता है कि (आपः) जल (भूयिष्ठाः इति) बहुत हैं। (अन्यः) दूसरा (अब्रवीत्) कहता है कि (अग्निः) अग्नि (भूयिष्ठ इति) बहुत है। (एकः) एक (प्र अब्रवीत्) उत्तमता से कहता है कि (वर्धयन्तीम्) पृथिवी बड़ी है। (ऋता) [इस प्रकार सब] सत्य (वदन्तः) कहते हुवे (चमसान्) चमसों को (अपिंशत) बांटें ॥

अर्थात् जल, अग्नि, पृथिवी आदि में जिस पर जो दृष्टि डालता है उसे वही बड़ी प्रतीत होती है और भिन्न २ वस्तुओं को बड़ा बताने वाले सभी सत्यवादी हैं क्योंकि यथार्थ में जल, अग्नि वा पृथिवी सभी बड़े हैं। इस में यह नहीं कहा कि जल वा स्थल तीर्थ वा मोक्षदायक हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३६१ में रामायण के कुछ श्लोक लिखे हैं, जिन का उत्तर रामायण के प्रक्षिप्तांश में आचुका है॥

द० ति० भा० पृ० ३६२ पं० ११ से–यमो वैवस्वतो देवः। इत्यादि मनु ८। ९२ से तीर्थ सिद्ध किया है॥

प्रत्युत्तर–इस का अर्थ यह है कि "यम वैवस्वत जो तेरे हृदि स्थित है। यदि उस से विरोध नहीं तो न गङ्गा को जा, न कुरुवों को"॥

यह मनु ८। ९२ में राजा के साक्षी से साक्ष्य सुनते समय का है। जिस में पापनाश वा मोक्ष का कुछ भी वर्णन नहीं, किन्तु गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वासरूप दण्ड का भय दिया है कि झूंठी गवाही आत्मा के विरुद्ध न दोगे तो तुम को गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वासरूप दण्ड भोगना न पड़ेगा। इस में पापनाश वा मोक्ष का वर्णन नहीं। क्या दण्ड भोगने के स्थान कारागारादि को तीर्थ वा मोक्षप्रद कह सकते हैं? नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३६२ पं० १९ से–सिताऽसिते सरिते यत्र सङ्गथे। इत्यादि मन्त्र को ऋग्वेद संहिता का बताकर तीर्थ सिद्ध किये हैं॥

प्रत्युत्तर–यह मन्त्र ऋग्वेद संहिता में नहीं है, न इस पर सायणाचार्य ने भाष्य किया किन्तु परिशिष्ट का वचन है और तीर्थ का विचार वेदप्रकाश मासिकपत्र वर्ष २ खण्ड १२ वर्ष ३ खण्ड १ में विस्तारपूर्वक है, वहां ऐसे बहुत से मन्त्रों पर विचार किया है। देखिये—और यद्यपि ऐसे २ कृत्रिम मन्त्रों का अर्थ भी योगाभ्यास की ओर हो सकता है, परन्तु हम निश्चय विश्वास करते हैं कि परिशिष्ट ग्रन्थों वा उन में के कितने ही वाक्यों की रचना आधुनिक मतवादियों ने इसी कारण की है, जिस से उन्हें अपने आधुनिक विचारों को वेद से सिद्ध करने का अवसर मिल सके। भला परिशिष्ट क्या वस्तु है? इस का शब्दार्थ यह है कि जो वेदों में परमात्मा को उपदेश करते समय परिशेष रह गया, वह किसी समय के लोगों ने बनाया और वेद की कमी को ऐसे पूरा किया। जैसे पाणिनि के सूत्रों की न्यूनता को वार्त्तिक से पूरा करते हैं, परन्तु इन मन्त्रों के घड़ने वालों ने तीर्थमाहात्म्य लिखे

परमात्मा ने वेदों में (इनके विचारानुसार) भूल कर छोड़ दिया था, उसे पूर्ण करके परमात्मा के भी बड़े बन गये ॥

——*——

गुरुप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३६२ और ३६३ में—सत्यार्थप्रकाश के गुरुमाहात्म्य में के इस लेख पर कि (यदि गुरु भी दोषी हो तौ दण्डनीय है) आक्षेप करके गुरु को अदण्ड्य और अन्धाधुन्ध जैसी गुरु आज्ञा करे, मानना लिखा है।

प्रत्युत्तर—मनु के (गुरोर्यत्र परीवादः) इत्यादि अध्याय २ श्लोक २००, २०१ में गुरुनिन्दा न सुनने का विधान, झूंठी निन्दा न सुनने के लिये है। और यदि यथार्थ में गुरु दोषी हो तौ—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ मनुः

अर्थात् चाहे गुरु हो, चाहे बालक, बूढ़ा, वा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, किन्तु दुष्ट आततायी को शीघ्र मारे, और धर्मात्मा विद्यादाता गुरु की सेवा का विधान सत्यार्थप्रकाश के इसी प्रकरण की २ पङ्क्ति और ऊपर को देखिये तौ मिल जायगा ॥

——*——

पुराणप्रकरणम्।

द० ति० भा० पृ० ३६४ पं० १५ से—अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। इत्यादि ऋ० १०। १२५। १२ से देवी जी सिद्ध की हैं।

प्रत्युत्तर—यदि आप का लिखा ही अर्थ ठीक माना जाय तौ भी प्रकृति (उपादान कारण) की महिमा वर्णित होती है, कुछ महिषासुर-मर्दिनी, मद्यमांसप्रिया, पुराणोक्त देवी का वर्णन तौ नहीं। और आप जो पुराणोक्त सृष्ट्युत्पत्ति के परस्पर विरोध का परिहार करते हैं कि जिस २ कल्प में जिस २ देवता से सृष्टि चली, उस २ पुराण में उस २ भिन्न २ देवता से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी, सो समाधान इस लिये ठीक नहीं कि कोई मनुष्यादि के समान देहधारी देवी आदि इस महती प्रजा के उत्पन्न करने और असंख्य लोकों के धारण करने में असमर्थ होने से उन का सृष्टिकर्तृत्व भी सत्य नहीं। फिर और विचार ही क्या करना है?

द० ति० भा० पृ० ३६५ पं० २९ यह कथा स्वामी जीने अपनी मिलावट और गड़बड़ी से लिखी है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप ने यह न लिखा कि क्या २ मिलावट और गड़बड़ी है। और यह तो ठीक ही है कि स्वामी जी ने शिवपुराण का अक्षरशः अनुवाद तो किया ही नहीं, किन्तु सारांश कथा का लिखा है। और नृसिंह का जिस प्रकार शरभाऽवतार शिव ने वध किया, सो तो इस पूर्व पृष्ठ ३६० से ३६५ तक में वर्णित ही कर चुके हैं। फिर भला जब अवतार २ आपस में एक दूसरे का वध करने लगे, रामाऽवतार और परशुरामाऽवतार आपस में सामना करने लगे, यदि ये बातें भी विरोध करने की नहीं तो और क्या चाहते हो?

द० ति० भा० पृ० ३६९ पं० ११ से-ब्रह्मा को मोह न होने के वरदान मिलने पर भी बछड़े चुरानें रूप मोह होने की शङ्का का यह समाधान किया है कि वह वरदान केवल विविध सृष्टि की रचना में कर्त्तृत्वाभिमान न होने के विषय में है। परन्तु इस प्रकार का मूल में कोई पद नहीं कि कर्त्तृत्वाभिमान न होगा। किन्तु " विमुह्यति " क्रिया का अर्थ " मोह " ही है और आप"अहङ्कार"अर्थ करते हैं। तब आप के मत में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार; इन पांच में मोह और अहङ्कार का भेद कुछ भी न रहेगा॥ ऐसी खेंचातानी से पुराणों की महिमा का स्थापन नहीं होसकता॥

द० ति० भा० पृ० ३७१ में- वाराह और हिरण्याक्ष की लड़ाई में जो असम्भवता स्वामी जी ने दिखाई थीं उन का समाधान किया है और कहा है कि पृथिवी थोड़ी रह गई थी, शेष जल में डूबी थी, वाराह जी उसे उठा कर ला रहे थे इत्यादि-परन्तु थोड़ी पृथिवी शेष थी, थोड़ी डूबी थी, यह कथा इस प्रकरण में भागवत में नहीं है। और जो वाराह दान्त पर पृथ्वी को रक्खे थे वे स्वयं कहां खड़े थे? इत्यादि शङ्काओं का कुछ उत्तर नहीं। चटाई की तरह न लपेटने पर भी स्वामी जी की शङ्का जो आधार की है उस का भी कुछ उत्तर नहीं। स्वामी जी ने कुछ भागवत के अनुवाद का नाम नहीं लिया किन्तु उस की कथा ज़ुबानी लिखी है। पर जो कुछ भी भागवत में लेख है उतना भी असम्भव दोष से रहित तो नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३७३ में-लिखा है कि भागवत में प्रह्लाद की कथा में स्तम्भ पर कीड़ी चलना आदि नहीं लिखा। परन्तु कथा तो स्वामी जी ने

निस्सन्देह ज़ुबानी लिखी, किन्तु भागवत जैसे असंभवादि दोषग्रस्त पुस्तक में समय खिताना व्यर्थ जाना। परन्तु क्या प्रह्लाद की कथा भी भागवत में नहीं है? और क्या सृष्टिक्रमविरुद्ध असंभव बात नृसिंह की उत्पत्ति भी उस में नहीं है? यदि है तो उस का समाधान विज्ञान के अनुसार आप को करना था॥

रथेन वायुवेगेन

यह वाक्य भागवत दशमस्कन्ध ३८। ३९ में और:—

जगाम गोकुलं प्रति ३८। २४ में है॥

इस में कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा नहीं है। अध्याय ३८ से ३९ तक में वही अक्रूर के जाने का वर्णन है। और स्वामी जी ने आद्योपान्त कथा देखने के लिये ज़बानी याद रहे दो पाद लिख दिये हैं, परन्तु आशय तो यही है कि अक्रूर का रथ वायुवेग वाले घोड़ों से युक्त था। जब ऐसा भागवत में है तो स्वामी जी की देर लगने की शङ्का का उत्तर यह नहीं होसकता कि प्रेम में देर लगगई। क्योंकि रथ की वायुवेगिता लिखने का तात्पर्य शीघ्र पहुंचाने के लिये ही था। फिर देर लगाने से प्रयोजन वायुवेग का पूरा नहीं होता॥

द० ति० भा० पृ० ३७४ में पूतना का शरीर छः कोस का जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है उसे असत्य बताया है। और भागवत का श्लोक स्वयं प्रमाण में दिया है कि-

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्।
चूर्णयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत्॥

और कहा है कि छः कोस के वृक्ष उस से दब नहीं गये किन्तु उस की धमक से गिर गये। परन्तु यह भी गुदड़ी गांठना है। क्योंकि उस में वृक्षों का गिरना नहीं लिखा किन्तु (चूर्णयामास) अर्थात् छः कोस के वृक्षों का चूरा करना लिखा है। जो दब कर ही होता है॥

द० ति० भा० पृ० ३७५-३७६ में लिखा है कि बोपदेव ने कोई और भागवत बनाई होगी। यह श्रीमद्भागवत तो व्यास जी ने ही बनाई है। जो पद्म तथा मत्स्यपुराण से भी सिद्ध होता है। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-भागवत की पूरी परीक्षा तो "भागवतपरीक्षा" नाम के छोटे से पुस्तक में देखियेगा। जो हमारे पास से मिल सकता है। परन्तु संक्षिप्त

यह है कि महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत आस्तीकपर्व अध्याय ४० श्लो० ३०। ३१। ३२ में शृङ्गी ऋषि का वर्णन, फिर अध्याय ४२ श्लोक २९ से ३३ तक में परीक्षित को सर्प काटे के उपाय करने का वर्णन, अध्याय ४४ श्लोक ३। ४ में तक्षक की फुंकार का वर्णन है। और भागवतोक्त राज्य छोड़ गङ्गा किनारे जाने के बदले, घर ही में रहना और तक्षक से काटा जाना वर्णित है। जिस से भागवत का परीक्षित ने सुनना ही निर्मूल होता है। फिर और बात कहनी ही क्या है॥ जैसा कि—

सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित्।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२९॥
रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥ ३० ॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञस्समन्तात्परिरक्षितः ॥३१॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम्।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥ ३२ ॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमः।

भावार्थ—मन्त्रियों से सलाह करके, एकस्तम्भ वाला, बड़ा रक्षित, ऊंचा महल बनवाया, वहां वैद्य और दवाई से रक्षा रक्खी, मन्त्रविद् सिद्ध ब्राह्मण चारों ओर नियुक्त किये॥ ३० ॥ वह वहीं राजकाज सब करता था। मन्त्री जिस का पहरा देते थे। कोई भी उसे वहां ऊंचे पर बैठे को नहीं छू सकता था। वहां वायु भी छन २ कर जाता था॥ ३२ ॥

जब सातवां दिन आया तब अध्याय ४३ में लिखा है कि सर्प ब्राह्मण तपस्वियों का रूप बना कर आये, सायंकाल हो गया था आशीर्वाद पढ़ कर कुशा और फल दे गये, फलों ही में सूक्ष्म रूप धर के तक्षक भी आया। राजा ने मन्त्रियों से कहा कि सातवां दिन भी बीता, लो फल खाओ, मन्त्रियों को कुछ फल देकर आप भी एक फल खाने को तैयार हुवे, कि फल में छोटासा लाल नेत्र का जन्तु जान पड़ा, तब राजा ने कहा कि यह कीड़ा ही काट लेगा जिस से ब्राह्मण का वाक्य झूठा भी न हो॥

अ० ४४ में लिखा है कि जब तक्षक ने फुंकार मारी, उस समय—

ततस्तु ते तं गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात राजाऽशनिताडितो यथा

भावार्थः—उस ज़हरी सर्प के फुंकार की अग्नि से जलते हुए स्थान को छोड़ कर मन्त्री चारों दिशाओं को भाग गये, और राजा विजुली के सा मारा नीचे गिर पड़ा, इस में भागवत सुनना, राज्य का छोड़ना, गङ्गा तट पर जाना, कुछ भी नहीं लिखा। इतिहासों में इस से बड़ा पुस्तक कोई है ही नहीं। इसलिये यही निश्चय है कि भागवत शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को नहीं सुनाई॥ जैसा कि देवीभागवत के नीलकण्ठी टीका की भूमिका देखिये:—

विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति।

अर्थात् देवीभागवत को महापुराणान्तर्गत मानने वाले विष्णुभागवत को बोपदेवकृत बताते हैं। इस से यह विदित हो गया कि श्रीमद्भागवत को बोपदेवकृत मानना उस समय भी प्रचरित था, जब कि देवीभागवत पर नीलकण्ठ ने टीका बनाई। फिर वही लिखता है कि:—

पुराणभेदेन मतभेदस्तु बहुशः प्रसिद्धः।

अर्थात् भिन्न २ पुराणों से भिन्न २ मत तो बहुत प्रसिद्ध हैं॥

अब महाभारत आदिपर्व से यह सिद्ध हुवा कि राजा परीक्षित ने प्रायोपवेशन नहीं किया, न भागवत सुनी और भागवत का बोपदेवकृत होना देवीभागवत के नीलकण्ठी टीका की रचना से पूर्व भी प्रचरित था। और शान्तिपर्व अध्याय ३३१ और ३३२ में शरशय्या पर लेटे भीष्मपितामह जी ने धर्मात्मा युधिष्ठिर से शुकदेव जी का जन्म और परमधाम जाना भूतकाल करके कहा है। जिस के अन्त में यह श्लोक है कि:—

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ!।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥

अध्याय ३३२ श्लोक ३९॥

अर्थात् यह शुकदेव जी का जन्म और परलोकगति हमने विस्तारपूर्वक तुम्हें सुनाई, जो तुम ने पूछी थी। विशेष "भागवतपरीक्षा" में देखिये॥

इस से यह ज्ञात होता है कि राजा परीक्षित के पितामह युधिष्ठिर के पूर्व ही शुकदेव जी परमधाम सिधार गये थे जब कि परीक्षित जन्मा भी न था, फिर उस को कथा सुनाने कहां से आये ?

द० ति० भा० पृ० ३११ पं० २१ से—

स्वामी जी ग्रहों का फल नहीं मानते कि जड़ पदार्थ किसी को दुःख देते नहीं, वेद इस बात को कहता है कि ग्रह दुःख सुख देते हैं। यदि ग्रह दुःख सुख नहीं देते तो क्यों उन की शान्ति वेद में की है ? निश्चय ग्रह भेंट पाकर शान्ति करते हैं—

शन्नो मित्रः शं वरुणः। शं विवस्वांछमन्तकः। उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः॥

अथर्व १९। ९। ७ इत्यादि ६ मन्त्रों से यह प्रार्थना दिखलाई है कि ये सूर्यादि ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, सायं, दिन, रात्रि आदि हमें सुखदायक हों॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी के कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि जड़ पदार्थ से किसी को सुख दुःख नहीं होते, किन्तु जड़ पदार्थों से तो तापादि दुःख सुख स्वामी जी और सब लोग मानते ही हैं। परन्तु जड़ पदार्थ ज्ञानशून्य हैं, वे जान कर कभी किसी को दुःख नहीं देते और भेंट पूजा लेकर ज्ञानपूर्वक शान्त भी नहीं होते। आप ने जो मन्त्र लिखे हैं उन में सूर्यादि को चेतन मान कर प्रार्थना नहीं है किन्तु यह प्रार्थना ईश्वर से है कि रात्रि, दिन, प्रातः, सायम् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जल, वायु, पृथिवी आदि पदार्थों से हमें सुख मिले॥

और (गृह्यन्ते ते ग्रहाः) यह निरुक्ति भी अशुद्ध है किन्तु-(गृह्णन्ति ते ग्रहाः) चाहिये। तथा सूर्यादि हम से दूर हैं यह इस लिये कहा है कि यदि कोई सूर्यादि को मनुष्यादि के समान चेतन हाथ पांव वाला माने तो भी वह दूर होने से हमें पकड़ नहीं सकता। किन्तु उस के तापादि को न माना हो सो नहीं। प्रत्युत स्वामी जी ने स्पष्ट सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास में कहा है कि—

" जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते "

द० ति० भा० पृ० ३१९ पं० १३ से—

समीक्षा—वाह स्वामी जी धन्य है ग्रहलाघव का वाक्य लिख कर नाम

सूर्यसिद्धान्त का लिखते हैं । क्या ही अद्भुत बात है कि जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में भूमि आवेगी तो चन्द्रग्रहण होगा, यदि यह बात मानलें तो पृथिवीवासियों को कभी चन्द्रग्रहण न दीखना चाहिये क्योंकि छाया से चन्द्रग्रहण दृष्टि आवे तो किसी और लोक वालों को दीखना चाहिये पृथ्वी वाले को नहीं क्योंकि जैसे किसी आदमी के सामने कोई और दूसरा आजाय तो बेशक उस पर उस की छाया पड़ेगी । परन्तु उसकी ओट तीसरे मनुष्य को मालूम होगी जो ठीक उस के पीछे होगा बीच के मनुष्य को दोनों यथावत् दीख सकेंगे इस कारण चन्द्र सूर्य के पृथिवी के बीच में आनेसे कभी कोई ग्रहण नहीं होसकता और सूर्य चन्द्रमा दोनों पृथ्वी से ऊंचे पर हैं । उन की छाया पृथ्वी पर पड़ती है । पृथ्वी की उन पर नहीं पड़ती । हां, जो पृथ्वी से नीचे लोक हैं उन को चन्द्र और सूर्य के बीच में पृथ्वी आने से ग्रहण दीख सकता है परन्तु ऐसा नहीं है । यह स्वामी जी ने अपना शास्त्र छोड़ अंग्रेज़ों का अनुकरण किया है ज्योतिष का मत है जब राहु सूर्य एक राशि में हों तो उनकी छाया पड़ने से तीसरे स्थान के पृथ्वी वासियों को ग्रहण दीखता है और ऐसे ही केतु चन्द्रमा एक राशि पर होने से चन्द्रग्रहण सब को दीखता है ॥

प्रत्युत्तर—धन्य है आप की गणितज्ञता को ! स्वामी जी ने तो ग्रहलाघव को सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया, इस पर उछलते हैं, आप स्वामी जी लिखित " सिद्धान्तशिरोमणि " पद के स्थान में " सूर्यसिद्धान्त " पद लिखते सो कुछ बात नहीं । और आगे पृ० ३८० पं० २५ में अपने ही विरुद्ध आप लिखते हैं कि—

"सिद्धान्तशिरोमणि के नाम से लिख दिया"

जब आप ही दो पृष्ठों में ही अगाड़ी पिछाड़ी भूल गये तो स्वामी जी ने ग्रहलाघव का सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया इस पर क्या रोष है । क्या आप ग्रहलाघव को नहीं मानते ? यदि मानते हैं तो ग्रहलाघवानुसार भी आप को—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ।

अर्थात् सूर्य को चन्द्रमा ढकता और चन्द्रमाको पृथ्वी की छाया ढकती है । यह शङ्का कैसी अज्ञान भरी है कि पृथिवीनिवासियों को पृथिवी की छाया से हुवा ग्रहण न दीखना चाहिये । आपने खगोल समझा होता तो जान लेते कि—पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा है और चन्द्रमा सूर्य

के प्रकाश से चमकता है। और पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है। इस लिये जब घूमता हुआ चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के बीच में आता है तब सूर्य को ढकता है और सूर्यग्रहण होता है। और जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर और सूर्य उस ओर होता है तब पृथिवी, सूर्य चन्द्रमाओं के बीच में आकर सूर्य के प्रकाश को चन्द्रमा पर अपनी छाया से नहीं जाने देती बस जितने चन्द्रभाग पर पृथिवी सूर्य के प्रकाश को जाने से रोकती है, उतना भाग ग्रस्त जान पड़ता है और यह दशा पृथिवीनिवासियों को भले प्रकार दीख सकती है॥

और ग्रहलाघव वाले ने सिद्धान्तशिरोमणि में देखकर लिखा है। क्योंकि सिद्धान्तशिरोमणि प्राचीन है और उसके गोलाध्याय ग्रहण वासना प्रकरण में–

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया * छादयत्यात्ममूर्त्या॥
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपि ततो नैष कक्षान्तरत्वात्॥१॥

वासनाभाष्यम्

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा। यथा मेघोऽधस्स्थः पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। एवं चन्द्रोऽपि शीघ्रत्वात् पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। अतः पश्चात्स्पर्शः। निःसरति चन्द्रे पूर्वतो मोक्षो रवेः। अतएव कक्षाभेदात् क्वचिदर्कश्छन्नो दृश्यते क्वचिदेष न छन्नः यथाऽधस्थेमेघे कैश्चिद्रविर्न दृश्यते, कैश्चिद्दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः॥

भाष्य का अर्थ–"सूर्य से नीचे चन्द्रमा की कक्षा है। जैसे मेघ नीचे स्थित है और पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। ऐसे ही चन्द्रमा भी शीघ्रगामी होने से पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। इसी से (सूर्यग्रहण) में पश्चिम से स्पर्श होता है। और चन्द्रमा के निकल जाने

* असितया आत्ममूर्त्या=अर्थात् चन्द्र अपनी विना प्रकाश वाली मूर्त्ति से सूर्य को ढकता है। चन्द्रमा में निज का प्रकाश नहीं, किन्तु सूर्य से आता है॥

पर सूर्य का पूर्व से मोक्ष होता है। इसी कारण कक्षाभेद से कहीं सूर्य ढका और कहीं विना ढका दीखता है। जैसे मेघ नीचे आजाने पर किन्हीं लोगों को सूर्य दीखता और किन्हीं देशान्तरवासियों को नहीं दीखता"

अब चन्द्रग्रहण का प्रमाण उसी प्रकरण के ४ थे श्लोक से सुनियेः—

पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्यतः शशी विशति।
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥ ४ ॥

वासनाभाष्यम्—

भूभा तावत्पूर्वाभिमुखमर्कगत्या गच्छति। चन्द्रश्च स्वगत्या। स शीघ्रत्वात्पूर्वाभिमुखोगच्छन् भूभां प्रविशति। तेन तस्य प्राक्स्पर्शः। भूभाया निस्सरतः पश्चान्मुक्तिः॥

भाष्य का अर्थ-पृथिवी की छाया पूर्वाभिमुख सूर्य की गति के साथ जाती है और चन्द्रमा अपनी गति से। वह शीघ्रगामी होने से पूर्वाभिमुख जाता हुआ पृथिवी की छाया में घुस जाता है। इस से उस का पूर्व से स्पर्श और पृथिवी की छाया से निकलते हुए का पश्चिम से मोक्ष होता है॥

अब इस का प्रमाण सुनिये कि सूर्य्य से चन्द्रमा में प्रकाश होता है। निज से नहीं। यथा—सामवेदे छन्दआर्चिके—

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ क २र
अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ऐन्द्रपर्व अध्याय२दशति४मन्त्र३

भावार्थः-(अत्र) इस (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के मण्डल में (त्वष्टुः) सूर्य की (गोः) किरण का (अपीच्यम्) छिपा हुआ (नाम ह) स्वरूप ही है (इत्था) इस प्रकार (अमन्वत) मानो॥

अर्थात् परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्यो ! सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। यह जानो तथा मानो॥

इस मन्त्र में 'त्वष्टा' पद का अर्थ सूर्य है और परमैश्वर्य वाला होने से सूर्य भी इन्द्रपदवाच्य है। 'त्वष्टुः' का अर्थ सूर्य करने में निरुक्तकार ने ऋग्वेद

की ऋचा प्रमाण देकर कहा है कि "त्वष्टा पुत्री का लेजाना करता है और इस सब जगत् में व्यापता है और ये सब भूतमात्र का समागम करते हैं। (यम) दिन की माता (उषा) लेजायी जाती है। बड़े विवस्वान् की जाया अदृष्ट होती है अर्थात् आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय पर छिप जाती है" यह निरुक्त के पाठ का भावार्थ है जो निरुक्तकार ने "त्वष्टा दुहित्रे" इत्यादि ऋग्वेद १० । १७ । १ की ऋचा का व्याख्यान किया है ॥

गोशब्द से सूर्य की किरण अर्थ लेने में निरुक्तकार कहते हैं कि "और इस की एक किरणें चन्द्रमा की ओर प्रकाश करती हैं और इस से उपेक्षा करनी चाहिये, आदित्य से इस (चन्द्रमा) का प्रकाश होता है जैसा कि-सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः, यह वाक्य है इस लिये किरण भी गौ कही जाती हैं। "अत्रा ह गोरमन्वत" इस मन्त्र पर आगे (४ । २५ में) व्याख्या करेंगे। सब ही किरणें गौ कही जाती हैं" यह निरुक्तस्थ पाठ का भावार्थ है॥

ऋग्वेद १ । ८४ । १५ में भी ऐसा ही पाठ है जिस पर निरुक्तकार ने सूर्य की छिपी हुई वा प्रसिगत किरण चन्द्रमण्डल पर पड़ती हैं, यह लिखा है॥

प्रायः इस प्रकार के व्याख्यानों पर लोगों को भ्रम हुआ करता है कि व्याख्याता ने वेद के विज्ञान की प्रशंसार्थ पक्षपात से खेंचतान करके वर्त्तमान काल में प्रसिद्ध हुवे विज्ञान की बातें वेद में घुसेड़ दी हैं। परन्तु उन संशयात्माओं को इस से शान्ति मिलेगी कि आजकल के वैज्ञानिकों के जन्म से बहुत वर्ष पूर्व यास्कमुनि ने ऊपर लिखा सिद्धान्त कहां से निकाला ? वेद से। क्योंकि निरुक्तकार अपने मत में "सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः" इस वेदवचन का प्रमाण देते हैं ॥

प्रत्युत इस में तो सायणाचार्य ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि "चन्द्र-बिम्ब में सूर्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं" इत्यादि ॥

तथा एसियाटिक सोसाइटी के सुयोग्य सभ्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी अपनी टिप्पणी में विवरणकार का मत लिखते हैं कि-" गो शब्द से यहां सुषुम्ना नाम सूर्य की किरण लेनी चाहिये, जो चन्द्रमण्डल के छोटा होने से चन्द्रमण्डल पर जा कर लौटकर पृथिवी पर चान्दनी के रूप से प्रकाश करती है वही यहां गो शब्द से अभिप्राय है" ॥

इस प्रकार हमने वेद और सिद्धान्तशिरोमणि से स्वामी जी के पक्ष की

पुष्टि की है और आप ने जो दो श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि के पृ० ३८०-३८१ में लिखे हैं वे किसी पुराणों के पक्षपाती ने कभी पीछे से मिलाये जान पड़ते हैं। और ठीक भी हों तो राहु और केतु पृथिवी और चन्द्रमा के उस भाग का नाम जान पड़ता है जिस की छाया से ग्रहण होते हैं। यदि आप ऐसा न मानेंगे तो आप को सिद्धान्तशिरोमणि को पूर्वापरविरुद्ध अप्रमाण कहना पड़ेगा, और ग्रहलाघव के अनुसार भी आप को स्वामी जी का मत शिर पर रखना पड़ेगा। क्योंकि आप तो ग्रहलाघव को मानते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३८० पं० ५ से जो-"एवं पर्वान्ते" इत्यादि ग्रहलाघव का प्रमाण लिखा है उस में आप के लिखे अर्थ से भी ग्रहण निकालने का गणित पाया जाता है, यह उस से भी सिद्ध नहीं होता कि राहु कोई दैत्य चेतन है और वैर से सताता है। जब कि आप स्वयं सत्ययुग का बना सिद्धान्तशिरोमणि को पृ० ३८३ पं० ३। ४ में मानते हैं तो आप के मतानुसार व्यासकृत द्वापरान्तकाल के पुराणों का वर्णन उस में आना ही इस का प्रमाण है कि यह वर्णन पीछे से किसी ने घुसेड़ा॥

—:*:—

अथ गरुड़पुराणप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३८२ पं० २२ से-

१-वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत

अथर्व १८। १। ४९

२-मृत्युर्यमस्यासीद्दूतःप्रचेता असून्पितृभ्योगमयांचकार

१८। २। २७

३-यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीरओदनम्।

तेनाजनस्यासोभर्त्ता योऽत्रासदजीवनः १८। २। ३०

४दण्डं हस्तादाददानोगतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन।

अत्रैव त्वमिह वयं सुवीराविश्वामृधोअभिमातीर्जयेम १८।२।५९

५-धनुर्हस्तादाददानोमृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ्त्वमेह्युपजीवलोकम् १८।२।६०

६-एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।

तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर १८ । ४ । ३१

७-धानाधेनुरभवद्वत्सोअस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति १८ । ४ । ३२

८-एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीःश्येनीःसुरूपाविरूपास्तिलवत्साउपतिष्ठन्तुत्वात्र १८।४।३३

९-एनीर्धानाहरिणीःश्येनीरस्यकृष्णाधानारोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्साऊर्जमस्मैदुहानाविश्वाहासन्त्वनपस्फुरन्तीः३४अ०वे०

भाषार्थः

वैवस्वत देव जो मनुष्यों को संगमन करने हारे हैं उन यमराजा कू हवि से तृप्त करता हूं १ यमराजा का दूत मृत्यु है प्रचेता है जो कि प्राणों को निकालते हैं २ जो तुम्हारे वास्ते धेनुदान करता हूं जो कि दुग्धादिक देंगी इसी गौ से यम लोक में गये प्राणी सुखी हों ३ हाथ में दण्ड धारण किये हुवे प्राणियों को बलपूर्वक ग्रहण करते हैं ४ धनुष हाथ में लिये मृतक कू बलपूर्वक ग्रहण करते हैं ५ यह सविता देवता के अर्थ वस्त्र देता हूं सो हे सविता देवता तुम यमलोक में हमारे पितरों को वस्त्र दो ६ यह धान धेनु हों तिल वत्स हैं यही यमराज में पितरों को सुखदाता हैं ७ यह गाये कामधेनु सम हों एनी श्येनी स्वरूप विरूप और तिल रूप वत्स पितरों के अर्थ प्राप्त हों ८ एनी धन हरने हारी श्येनी कृष्णगौः तिलवत्सा यम लोक के पितरों के अर्थ हैं ९ देखिये तप दान श्राद्ध यमराज गोदान आदि सब विधान अथर्ववेद में हैं ॥

प्रत्युत्तर-(वैवस्वतं सङ्ग०) इस मन्त्र का अर्थ तो हम आप का किया ही माने लेते हैं । परन्तु-

यमं ह यज्ञो गच्छति० ॥ ऋ० १० । १४ । १३

इस प्रमाण से वायु विशेष यम के लिये हवन करना लिखने से गरुड़ पुराण की लीला सिद्ध नहीं होती ॥

२-(मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः०) इस मन्त्र का पदार्थ यह है-(मृत्युः) मौत (यमस्य) नियन्ता परमात्मा का (दूतः) परिताप वा दुःख का दाता दूत (आसीत्) है । जो (प्रचेताः) सदा सन्नद्ध रहता है, प्रमाद नहीं करता । वही

(असून्) प्राणों को (पितृभ्यः) पितरों से (गमयाञ्चकार) अलग करता वा गत कराता है । इस में भी मरण वा मृत्यु यथार्थ में परमेश्वर का दूत है जो परमात्मा की आज्ञानुसार पूर्वजों (पितरों) के प्राण लेता रहा है, परन्तु इस में किसी देहधारी यमदूत का वर्णन नहीं ॥

३—यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥ १८ । २ । ३० ॥

यह मन्त्र मृतकदाह करते समय का है और इस का अर्थ यह है कि हे यम ! अर्थात् वायो ! (ते) तेरे लिये (याम्) जो (धेनुम्) गौ (निपृणामि) देता हूं (उ) और (यम्) जो (क्षीरे) दूध में पका (ओदनम्) भात (ते) तेरे लिये देता हूं । (तेन) उस धेनु और क्षीरौदन के साथ (जनस्य) इस जन्म लेने वाले का (भर्त्ता) धारक (असः) हो तू (यः) जो कि (अत्र) इस वेदि में (अजीवनः) मृतक (असत्) है ॥

यहां धेनु वा गौ का अर्थ पशु विशेष नहीं है, किन्तु स्वयं अथर्ववेद १८। ४ । ३२ में लिखा है (आप ने भी ७) कि–

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ १८ । ४ । ३२

अर्थ-(धाना) धान (धेनुः) गौ (अभवत्) है और (अस्याः) इस धानरूप गौ का (वत्सः) बछड़ा (तिलः) तिल (अभवत्) है (ताम्) इस धानरूप गौ को (वै) निश्चय (अक्षिताम्) जो [अग्नि में डालने से] नष्ट नहीं हुई उसे (यमस्य) वायु के (राज्ये) राज्य अर्थात् आकाश में (उपजीवति) आधार करता है ॥

दोनों मन्त्रों को मिलाकर यह अर्थ हुआ कि मृतक के साथ गौ अर्थात् धान और उस का बछड़ा अर्थात् तिल और दूध पके चावल होमने चाहियें, वायु उन पदार्थों सहित मृतक शरीर को अपने राज्य (आकाश में) आधार होकर ले जाता है । जिस से पृथिवीनिवासी मनुष्यादि प्राणियों को वह प्रेत=लाश रोगादि उत्पन्न करके सड़ कर दुःख न दे ॥

४—दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम॥१८।२।५९

यह मन्त्र पूर्व मन्त्र ३ से २९ मन्त्र आगे है और इस में पीछे से यमराज का वर्णन भी नहीं है, किन्तु यह मन्त्र मृत पुरुष के पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि (त्वम्) तू (गतासोः) मृतपुरुष के (दण्डम्) लाठी को (हस्तात्) हाथ से (आददानः) लिये हुवे (श्रोत्रेण) कान आदि इन्द्रियों (वर्चसा) तेज (बलेन) और बल के (सह) साथ (अत्र) इस संसार में रह (इह) यहां (एव) ही (वयम्) हम ज्ञाति बान्धवादि हैं और (विश्वाः) सब (अभिमातीः) अभिमानी (स्पृधः) सङ्ग्राम [निघण्टु २ । १७] करने वालों को (जयेम) जीतें ॥

५—धनुर्हस्ताद्दाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ्त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ १८।२।६०

तू (मृतस्य (मृतपुरुष के (धनुः) धनुष को (हस्तात्) हाथ से (आददानः) लिये हुवे (क्षत्रेण) क्षत्रियसम्बन्धी (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के (सह) साथ (भूरि) बहुत (पुष्टम्) पुष्ट (वसु) धन को (समागृभाय) संग्रह कर (अर्वाङ्) पीछे (जीवलोकम्) जीवते संसार के (त्वम्) तू (उप) समीप (एहि) आ ॥

अर्थात् पितृशोक में चिता के समीप बैठे हुवे पुत्रादि उत्तराधिकारी को अन्य ज्ञाति बान्धवादि लोग ऐसे आश्वासन देकर घर को बुला लावें ॥

इस से अगले मन्त्रों (इयं नारी पतिलोकम् इत्यादि २) में मृतपुरुष की स्त्री को आश्वासन और नियोगादि का विधान ज्ञाति बान्धवों की ओर से है ॥

६—एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्त्तवे ।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ १८ । ४ । ३१ ॥

इस का यह अर्थ किसी प्रकार नहीं है कि यह वस्त्र सविता के लिये देते हैं, किन्तु यह अर्थ है कि (सविता) सूर्य (देवः) देवता (ते) तेरे (भर्त्तवे) धारण को (वासः) आच्छादन (ददाति) देता है (तत्) उसे (वसानः) आच्छादन किये हुवे (त्वम्) तू (यमस्य) वायु के (राज्ये) राज्य में (तार्प्यम्) तृप्ति तक (चर) विचर ॥

अर्थात् शरीर से पृथक् हो कर जीवात्मा सूर्य के प्रकाशरूप वस्त्र को

आच्छादित किये हुवे वायुमण्डल में अपने लिङ्ग देह को आप्यायित करता है अर्थात् (यजुः ३९ । ६) मन्त्रानुसार प्रथम दिन मृत जीवात्मा सविता के लोक को प्राप्त होता है ॥

७-इस का प्रत्युत्तर संख्या ३ में आ चुका कि धान धेनु हैं और तिल जो चिता में छोड़े जाते हैं वे धान धेनु के वत्स हैं। इसी को आगे ८ वें ९ वें मन्त्र में प्रपञ्चित किया है। यथा—

८—एतास्त असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु। एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वात्र ॥ १८। ४। ३३ ॥

(असौ) यह (एताः) ये (धेनवः) धान धेनुवें (ते) तेरे लिये (कामदुघाः) इच्छापूर्ण करने वाली (भवन्तु) होवें। जो कि (एनीः) चितकबरी (श्येनीः) श्वेत (सरूपाः) समान रङ्ग की (विरूपाः) अनेक विरुद्ध रङ्गों की (तिलवत्साः) जिन [धानरूप धेनुओं] के तिल बछड़े हैं वे (त्वा) तुझे (अत्र) यहां चिता में (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित हों ॥

९—एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते। तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ १८। ४। ३४ ॥

(एनीः धानाः) विचित्र रङ्ग वाली धान (हरिणीः) हरी (श्येनीः) श्वेत (रोहिणीः) लाल (कृष्णाः) काली (धानाः) धान (अस्य ते) इस तेरी (धेनवः) धेनु हैं। (तिलवत्साः) तिल ही जिन के बछड़े हैं वे (अनपस्फुरन्तीः) न भागती हुई (अस्मै) इस के लिये (ऊर्जम्) रस को (दुहानाः) पूरित करती हुई (विश्वाहा) सब दिन (सन्तु) हों ॥

इन मन्त्रों से प्रकट है कि १-(यमराज वायु की शुद्धि के लिये मृतक को उत्तम हविष्य पदार्थों के साथ फूंकना चाहिये ॥ २-मौत यमदूत है जो मौत प्राण निकालती है ॥ ३-मृतक को दुग्ध में पके भात तिल धान आदि के साथ फूंका जावे, ये पदार्थ मृतशरीर के परमाणुओं को ऊपर अपने साथ लेजाते हैं ॥ ४-५ मृत पुरुष का पुत्रादि उत्तराधिकारी शोक करके चिता के समीप न पड़ा रहे किन्तु दाहकर्म के पश्चात् ज्ञाति बान्धवादि लोग उस का शोक दूर करते हुवे आश्वासन दें और मृतपुरुष के दण्ड धनुष् आदि पदार्थ

उस के उत्तराधिकारी को धारण करावें जैसे पगड़ी बन्धवा कर मृतपुरुष का स्थानापन्न पञ्च लोग पुत्रादि को बनाते हैं ॥ ६-मृतजीवात्मा प्रथम दिन सूर्यलोक से आप्यायित होता है ॥ ७-धेनु का तात्पर्य धान है और तिल उन धेनुओं के वत्स हैं जिन से वायुमण्डल में मृतपुरुष आप्यायित होता है ॥ ८-वे धान रूप धेनु काली, हरी, लाल, श्वेत आदि विचित्र रङ्गों की होती हैं ॥ ९-वे धान ही हैं कोई गाय (पशु) नहीं हैं, उन का रस आकाश में रस की वृद्धि करता है और सदा सुख की वृद्धि होती है ॥

देखिये यहां मृतक जीवात्मा की तृप्ति के लिये महाब्राह्मणादि को दान श्राद्ध गोदानादि का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है परन्तु हां, साधारण पुरुषों के चौंकाने को ये आप के लिखे अच्छे मन्त्र हैं ॥ जीव नियत काल तक आकाश में वायु आदि से आप्यायित होकर जन्म लेता है। इस लिये उन का जन्मान्तर धारण करने तक सुख दुःख भोगादि न मानना ठीक ही है। वह वायु में तत्त्वों से आप्यायित तो होता है परन्तु स्थूलदेह में जो सुखादि के अनुभव करता था, वे वहां नहीं पहुंच सकते। जो कुछ उस का आप्यायन होता है सो अग्नि से होता है, वह केवल अग्नि में होम करने से हो सकता है। इतर द्वार नहीं ॥

——•——

व्रतप्रकरणम् ।

इस प्रकरण में जो पृ० ३८१ पं० २३ में-

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः । इत्यादि मनु का प्रमाण है उस का तात्पर्य सत्यभाषणादि वा चान्द्रायणादि व्रतों से है, एकादश्यादि भिन्न २ देवतों के व्रतों का (जो प्रचरित हैं) मनुस्मृति में नामतक नहीं ॥ उपनयनादि के व्रत यज्ञसम्बन्धी गृह्यसूत्रोक्त हैं, उन का एकादश्यादि से कुछ सम्बन्ध नहीं ॥ पृष्ठ ३८६ में जो प्रायश्चित्त के व्रतविधायक श्लोक लिखे हैं, सो इस लिये आप को व्यर्थ हैं कि वह तो पापियों के पाप का दण्ड है । उस का एकादशी आदि पौराणिक व्रतों से सम्बन्ध नहीं । यदि एकादश्यादि के व्रत की परिपाटी आप प्राचीन समझते थे, तो एक तो प्रमाण मनु वा वेदादि प्राचीन ग्रन्थ का दिया होता ? ब्रह्मलोक की अप्सरा न सही, इन्द्रलोक की सही, कथा तो एकादशीमाहात्म्य में है ॥

——*——

ब्रह्माण्डप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३८१ से ३९३ तक ७ पृष्ठों में-भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । यो० पा० ३ सू० २५ का व्यासभाष्य लिख कर भागवतादिलिखित भूगोल खगोल की कथा की सत्यता सिद्ध करने का साहस किया है ॥

प्रत्युत्तर-मूल सूत्र का इतना अर्थ है कि "सूर्य में संयम करने से (योगी को) भुवनज्ञान हो जाता है" ॥ भाष्य में आपने पृष्ठ ३८८ पं० २४ में सुमेरु पर्वत को सुवर्ण का लिखा है जो प्रत्यक्ष के ही विरुद्ध है। फिर उस के मणिमयादि शृङ्ग लिखे हैं वे भी पत्थर के ही प्रत्यक्ष हैं इस लिये यह लेख भी प्रत्यक्षविरुद्ध है। सुमेरु के उत्तर की ओर २००० योजन लम्बाई के ३ पहाड़, उन के बीच बीच में ३ खण्ड ९००० योजन का प्रत्येक, दक्षिण की ओर दो हज़ार योजन के निषधादि पर्वत, हरिवर्षादि नौ २ हज़ार योजन के ३ खण्ड, ४ लक्ष कोश जम्बूद्वीप सुमेरु के चारों ओर लम्बाई में और २ लक्ष चौड़ाई में इत्यादि विस्तार इस भूमि पर, जिस पर हम रहते हैं, असंभव है। यह पृथिवी का ४९ करोड़ योजन मानना प्रत्यक्षविरुद्ध, गणितविरुद्ध और ज्योतिषशास्त्र के भी विरुद्ध है। देखिये सिद्धान्तशिरोमणि में पृथिवी का विस्तार केवल इतना है:-

सि० शि० के गणिताध्याय में लिखा है—

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः ।
तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनम् ॥
याम्योदक्पुरयोः पलान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहृत् ।
तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥

अर्थ-पृथिवी की 'परिधि' ४९६७ योजन है और 'व्यास' १५८१ योजन लंबा है। दो ऐसे नगरों के जिन में से एक विषुवद्वृत्त रेखा (Epuator) के उत्तर में और दूसरा दक्षिण में स्थित हो, पलान्तर (Difference between the latitudes of the two places) को भूमि की परिधि से गुणा करने से और ३६० पर भाग देने से उन नगरों का योजनों में अन्तर जाना जाता है ॥

यदि १ योजन ५ मील के बराबर माना जाय तो पृथिवी की 'परिधि' ४९६७ × ५ अर्थात् २४८३५ मील, और 'व्यास' १५८१ × ५ अर्थात् ७९०५ मील होता है। योरपवासियों ने परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील सिद्ध किया है। यह थोड़ा सा भी अन्तर इस कारण से है कि योजन पूरे

५ मील का नहीं होता किन्तु कुछ अधिक होता है। अर्थात् यदि ५$\frac{१}{२३०}$ मील का एक योजन माना जाय तो पूरे २४८५६ मील की परिधि और ठीक ७९१२ मील का व्यास आजाता है ॥

पुराणों और इस भाष्य में पृथिवी का विस्तार इतना लंबा चौड़ा लिखा है कि जिस का कुछ पारावार नहीं, हम इस भय से कि हमारे पौराणिक भाई पं० ज्वा० प्र०जी इस को निन्दा न समझलें इस विषय में स्वयं कुछ नहीं कहना चाहते किन्तु उन के खण्डनपक्ष में सिद्धान्तशिरोमणि ही का श्लोक देते हैं-

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्भुजङ्गेन्दुभि-
ज्योतिःशास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः ॥
तद्ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटे केचिज्जगुर्वेष्टनं
केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ *

सि० शि० गणिताध्याये ॥

अर्थ-१८७१२०६९२०००००००० योजन को ज्योतिः शास्त्र के जानने वाले सारी सृष्टि का एक छोटा भाग मानते हैं। बहुत से इस को पृथिवी की परिधि का मान समझते हैं और 'पौराणिक विद्वान्' इस को केवल एक 'लोकालोक' नामक पर्वत की ऊंचाई बतलाते हैं ॥

अब विचारना चाहिये कि भास्कराचार्य, आज कल के उन्नतिशाली ज्योतिषी और प्रत्यक्ष इन सब के विरुद्ध यह भाष्य किस प्रकार माननीय हो सकता है। जो जहाज़ पूर्व को छोड़े गये और थोड़े काल में वे पश्चिम में आ निकले, यदि पृथिवी का विस्तार इस प्रकार का असंभव होता तो यह कभी न हो सकता। अब यह विचार शेष रहा कि तो क्या यह व्यास-भाष्य जिस को स्वामी जी ने आर्षभाष्य माना है, असत्य है ? इस के उत्तर में यही कहना पड़ता है कि स्वामी जी ने सिद्धान्तशिरोमणि आदि ज्योति[ष] के प्राचीन ग्रन्थों को और मनुस्मृति आदि को धर्मशास्त्रत्व से भी तो प्रमा[ण] किया है, परन्तु अयुक्त बातें किसी की भी (चाहे वे ग्रन्थकर्त्ता ने लिखी हो[ं] चाहे पीछे से किसी ने मिलाई हों (नहीं मानी। न माननी चाहियें। औ[र]

* निस्सन्देह ये श्लोक पुराणों की अयुक्त बातें देखकर सिद्धान्तशिरोमणि में लिखे गये हैं क्योंकि यह ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों से अर्वाचीन प्रतीत होता है ॥

इस विषय में तो एक को मानने से दूसरे को त्यागना पड़े ही गा। क्योंकि प्रसिद्ध ज्योतिष के भास्कर भास्कराचार्य जब पृथिवी का विस्तार इतना न्यून मानते हैं और इस भाष्य में इतना अधिक माना है तो फिर परस्परविरुद्ध दो सत्य कैसे माने जा सकते हैं?

द० ति० भा० पृ० ३९४ पं० २५ कहीं भक्तमाल में ऐसी कथा नहीं है॥

प्रत्युत्तर—यदि आप कहते कि "यह कथा भक्तमाल में नहीं है" तब तो कुछ ठीक भी था, परन्तु "ऐसी" अर्थात् इस "विद्या का तिलक मान लेना" के सदृश तो अनेक कथा हैं। और भक्तमाल भी अनेक प्रकार के पाठभेद युक्त हैं। किसी न किसी में हो तो भी आश्चर्य नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३९५ पं० ८ से—यज्ञोपवीत को विद्या का चिह्न होने का निषेध किया है॥

प्रत्युत्तर—विद्या प्राप्ति का चिन्ह होता तो पश्चात् दिया जाता किन्तु विद्या के अधिकारी होने का भी है इसी से उपनयन में दिया जाता है॥

द० ति० भा० पृ० ३९५ पं० १९ से—कलियुग को पापादि का कारण माना है, परन्तु प्रमाण एक भी नहीं दिया। यह ठीक है कि काल के विना कुछ नहीं होता, काल में ही सब कुछ होता है परन्तु काल अधिकरण है, काल कर्त्ता नहीं है, ऋतुओं में अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं, ऋतु उन को उत्पादक नहीं किन्तु सूर्यादि की उष्णतादि का तारतम्य उस का कारण होता है॥

द० ति० भा० पृ० ३९६ पं० ३ से-दश नामों के अन्तर्गत होने से दयानन्द सरस्वती नाम भी मिथ्या हुआ, लिखा है॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने नामों को मिथ्या नहीं, किन्तु नवीन कल्पना माना है। जब किसी का सन्तान उत्पन्न होता है तब वह एक नाम की कल्पना करके रख देता है। ऐसे ही गुरु लोग शिष्यों के नाम रखते हैं। स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि ये दश नाम न रक्खे जावें, किन्तु यह है कि इसी प्रकार के नाम धरने का कुछ शास्त्रसिद्धान्त नहीं है। किन्तु अन्य भी उत्तमार्थक शोभन नाम चाहें सो रख सक्ते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३९६ पं० १३ से-यदि १०० वर्ष की आयु मानें तो स्वायम्भुव मनु से रामचन्द्र जी तक के १०००० ही वर्ष होंगे। इस लिये पहिले बड़ी आयु थीं इत्यादि आशय है॥

प्रत्युत्तर—पूर्व अब की अपेक्षा आयु तो अधिक थीं परन्तु वेद के अनुसार परमायु साधारणतया १०० वर्ष ही थी और अधिक से अधिक ४०० वर्ष। स्वायंभुव से रामचन्द्र जी तक १०० पीढ़ी ही नहीं हैं किन्तु प्रधान और

प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन है गौण और साधारण छोड़दिये इस से कुछ दोष नहीं आता. फिर यदि हम आप के पुराणानुसार सत्ययुग से १ लक्षवर्ष की और त्रेता में १०००० वर्ष की आयु भी मानें तौ भी स्वायंभुवादि छः मन्वन्तरों का समय इस लेखे से भी बड़ा है, फिर वही शङ्का आप के मत में भी रहेगी ॥

द० ति० भा० पृ० ३९६ पं० २२ में-दशरथ जी के ६० हज़ार वर्ष के वय में रामचन्द्र जी का जन्म माना है ॥

प्रत्युत्तर-यदि सत्ययुग में १ लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलियुग में १०० वर्ष की पुराणानुसार आयु हो तौ भी त्रेता में १०००० दश सहस्र से बढ़कर ६० सहस्र से भी अधिक आयु दशरथ की कैसे मान सक्ते हैं और रामचन्द्र जी जिन के राज्य भर में कोई अल्पायु नहीं था, लिखा है वे भी रामायणानुसार अपने पिता से षष्ठांश ११००० वर्ष में ही मर गये ?

द० ति० भा० पृ० ३९७ पं० १९-पूर्व लिखा था कि आर्य तिब्बत से आये अब स्वामी जी ने कौन सी भङ्ग की तरङ्ग में लिख दिया कि सदा से यहां रहते हैं ॥

प्रत्युत्तर-सृष्टि ही तिब्बत में प्रथम हुई यह प्रथम हम सिद्ध कर चुके हैं तब वहीं से यहां आये, लिखना और " सदा से यहां आर्य लोग रहे " इस का तात्पर्य यह है कि यह भूमि आदि सृष्टि से कभी दस्युओं से आच्छादित नहीं रही, आर्यों का राज्य रहता रहा, इसी से इस का नाम आर्यावर्त्त था ॥

यहां दयानन्दतिमिरभास्कर के ३९७ पृष्ठ तक प्रथमावृत्ति का प्रत्युत्तर समाप्त हुवा । यदि द्वितीयावृत्ति में पृष्ठ पङ्क्ति का भेद पड़े तौ कुछ आगे पीछे देखने से ठीक हो जायगा ॥

आगे ३९९ से ४०२ पृष्ठ तक आर्यसमाज के १० नियमों का खण्डन किया है जो पाठकवर्ग के हास्ययोग्य से अधिक कुछ नहीं, इस लिये उस पर कुछ लिखना व्यर्थ सा है । तथा मुंशी इन्द्रमणि आदि कृत खण्डनों के उत्तर में (जो श्रीयुत पं० बदरीदत्त शर्म्मादि आर्य पण्डितों ने दिये हैं) आचुका है ॥

आगे पृष्ठ ४०२ से ४०४ पर्यन्त आपने भी स्वामी जी के स्वमन्तव्याऽमन्तव्य के समान अपने ४० मन्तव्य लिखे हैं, जिन का प्रत्युत्तर पृथक् लिखने की इस लिये आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थ में इन सब का व्यौरेवार खण्डन हो चुका है ॥

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ यजुः० ३६ । ९ ॥

इति श्रीमत्स्वामी हज़ारीलाल सूनुना तुलसीराम स्वामिना कृते भास्करप्रकाशे, सत्यार्थप्रकाशस्य एकादशसमुल्लासमण्डनं नामैकादशः समुल्लासः समाप्तः ॥११॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः